

ॐ

परमात्मने नमः

परमागम-चिन्तामणि

द्रव्यदृष्टि-मार्गप्रकाशक, स्वानुभवप्रेरणामूर्ति
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की जन्म-शताब्दी
(ई.स. 1989) के उपलक्ष्य में
श्री दिग बर जैन आचार्यों, सन्तों, ज्ञानियों के 100
आध्यात्मिक ग्रन्थों में से संकलित 2025 चिन्तामणि-रत्न

: गुजराती संकलनकार :

नागरदास बेचरदास मोदी

उमेदराय बेचरदास मोदी

जितेन्द्र नागरदास मोदी

[स पादक परिवार, गुजराती आत्मधर्म (मासिक)]

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

जिनवाणी-स्वाध्याय की पात्रता

चौरासी के भवभ्रमण छुड़ानेवाली तीन लोक के नाथ की वाणी सुनने आवे, उसे देव-शास्त्र-गुरु का कितना विनय चाहिए! स्वर्ग से इन्द्रादि देव भगवान की वाणी कितने विनय-भक्ति और कोमलता से सुनते हैं! जिनवाणी सुनते समय शास्त्र का विनय और बहुमान रखना चाहिए; शास्त्र को नीचे नहीं रखना, शास्त्र के ऊपर कोहनी का टेका नहीं देना, पैर पर पैर चढ़ाकर शास्त्र श्रवण करने नहीं बैठना, रुमाल और पृष्ठ आदि से हवा नहीं खाना, नींद नहीं लेना, प्रमाद से नहीं बैठना—इत्यादि-इत्यादि कितना ही विनय, बहुमान-भक्ति हो, तब तो जिनवाणी श्रवण की पात्रता है। व्यवहार पात्रता जैसी है, वैसी जानना चाहिए।

— स्वानुभवप्रेरणामूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

विक्रम संवत्
2080

वीर संवत्
2550

ई. सन
2024

—: प्रकाशन :—

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334
2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046
www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग : विवेक कम्प्यूटर अलीगढ़।

अर्पण

भव्यों के भाग्यवश भगवान श्री सीमन्धरस्वामी के पास से परमात्मपने का सन्देश लेकर तीर्थधाम सुवर्णपुरी में 45-45 वर्ष तक अध्यात्म-अमृत की मूसलाधार वर्षा द्वारा इस कलिकाल को धर्मकाल में परिवर्तित कर देनेवाले, हे युगसृष्टा गुरुदेव! हम बालकों को भवसागर पार उतारने, अगाध विशाल परमागमसागर के मन्थन द्वारा स्वानुभूति का मार्ग प्रकाशित करके आपने जो अनन्त-अनन्त उपकार किया है, उस अनन्त उपकार की चिर स्मृतिरूप से, आपकी जन्म-शताब्दी के महा पुनीत प्रसंग के उपलक्ष्य में, आपके चरणकमल में कोटि-कोटि वन्दन पूर्वक, 100 परमागमों में से संकलित यह 'परमागम-चिन्तामणि' आपश्री के कर-कमल में अर्पण करते हुए हम अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

—संकलनकार-
अनुवादक

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रगधरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!



स्वानुभवप्रेरणामूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

उपोद्घात

यह कलिकाल जिनके पुनीत प्रताप से अपने लिये धर्मकाल बन गया, ऐसे युगसृष्टा परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री ने साधनाभूमि तीर्थधाम सुवर्णपुरी में 45-45 वर्षों तक अध्यात्म-उपदेश की जो गंगा प्रवाहित की है, उसमें स्नान करके हजारों-लाखों मुमुक्षु पावन हुए हैं। उस अध्यात्म-उपदेश की मूल ध्वनि यह थी कि —

वीतराग सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा सौ इन्द्रों की उपस्थिति में समवसरण में लाखों-करोड़ों देवों की हाजरी में ऐसा फरमाते थे कि 'तू परमात्मा है, ऐसा निर्णय कर।'

सीमन्धर परमात्मा की धर्मसभा में परमेश्वरस्वरूप आत्मा की अत्यन्त महिमा सुनकर, विदेह से यहाँ सीधे पधारकर और स्वयं निजपरमात्मा का अनुभव करके, पूज्य गुरुदेवश्री भी हमेशा आत्मा की परमेश्वरता के ही गुणगान गाते थे और हजारों-लाखों श्रोता अहोभावयुक्त जिज्ञासुरूप से मन्त्रमुग्ध बनकर उनकी वाणी सुनते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री ने हम सभी को बहुत वजनपूर्वक यह बात समझायी है कि मुमुक्षु भूमिका में भी परमागमों में आत्मा की परमेश्वरता के जो कथन आते हैं, वे वाँचते-सुनते हुए जिज्ञासु का हृदय उछल जाना चाहिए, अपनी पारमेश्वरी शक्ति का जीव को अचिन्त्य माहात्म्य आना चाहिए, अपनी शक्तियों की बात सुनते हुए उसे आश्चर्य भी होना चाहिए और उसका गहरा विश्वास जागृत करना चाहिए। 'यह तो शक्ति अपेक्षा से बात है'—ऐसा कहकर अव्यक्तरूप से भी अपने परमेश्वरपने की बात ढीली करनेयोग्य नहीं है, क्योंकि शक्ति, वही आत्मा का मूल तत्त्व और सत्त्व है। मुमुक्षु को अपने विचार में और रुचि में उसका ही वजन और मुख्यता रहनी चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री की स्वानुभवमार्ग-प्रकाशक वाणी का श्रवण करते हुए बहुत वर्ष पहले एक सरल प्रतिष्ठित बड़े पण्डित ने पूज्य गुरुदेवश्री के समक्ष अपनी भूल खुल्ली करते हुए कहा था कि 'शास्त्रों में निश्चय की बात जहाँ आवे, वहाँ हम, यह तो निश्चय की बात है—ऐसे साधारण गिनकर निकाल डालते थे और जहाँ व्यवहार की बात आवे, वहाँ हम उसका गला पकड़ते थे।'

'मैं वर्तमान में ही परमात्मा हूँ'—यह बात मूल है और मुझे परमात्मा होना है, यह बात दूसरी है। परमात्मा होने की बात व्यवहारनय के विषय में जाती है और यह आत्मा

वर्तमान में ही परमात्मा है, यह बात निश्चयनय के विषय में आती है। जिसे आत्मा का हित करना है, उसे निश्चयनय के विषय पर ही जोर देना है।

आत्मा वस्तुरूप से देखने पर परमात्मा होने पर भी, उसकी पर्याय में रागादि भाव होते हैं, उनका प्रगट वेदन होने से उन भावों में जीव को अपना अस्तित्व भासित होता है। परन्तु उनके पीछे छुपा हुआ अपना परमेश्वरतत्त्व जीव को कभी वेदन में आया नहीं। श्रीगुरु की कृपा से जीव को अपने परमेश्वरपने की बात सुनने को मिलने पर भी, ऊपर तौर से हाँ करने पर भी, गहराई से अपने महान अस्तित्व का जीव को विश्वास नहीं आता। इसलिए 45-45 वर्ष तक कृपालु पूज्य गुरुदेवश्री ने निश्चयनय के विषयभूत मूलतत्त्व का अर्थात् आत्मा के परमात्मपने का ही अपने को उपदेश दिया है।

विक्रम संवत् 2006 से हमारे सोनगढ़ में पूज्य गुरुदेवश्री की छत्रछाया में स्थायी रहने का हुआ और तब से आपश्री की साक्षात् वाणी सुनते हुए, आपश्री के अन्तर में से उल्लासपूर्वक जो हृदयोद्गार प्रवाहित होते, उनकी उसी समय हमारी स्वाध्याय के लिये नोंध कर लेते थे। संवत् 2032 के वर्ष में पूज्य गुरुदेवश्री की अत्यन्त प्रसन्नतामय कृपादृष्टि पूर्वक के आशीर्वाद से आत्मधर्म का सम्पादन कार्य हम सम्हालते थे, हमने नोंध किये हुए वे हृदयोद्गार आत्मधर्म में बारम्बार प्रकाशित करते थे। दो वर्ष पहले हमारे बहनोई श्री मनसुखभाई देसाई (टेप-रिकॉर्डिंग विभाग) का स्वर्गवास होने पर उनकी स्मृतिरूप से, पूज्य गुरुदेवश्री के विशिष्ट-विशिष्ट हृदयोद्गार तथा पूज्य बहिनश्री के कितने ही वचनमृत और श्रीमद् राजचन्द्रजी के कुछ वचनमृत के संकलनरूप 'दृष्टिना निधान' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की थी।

'दृष्टिना निधान' पुस्तक में उसके नामानुसार दृष्टि का मूल विषय कि जो अनन्त काल में गहराई से जीव को समझना रह गया है, उसका ही मुख्यरूप से संकलन है तथा गौणरूप से दृष्टि के विषय को पहुँचने के लिये पात्रतारूप वैराग्य, भक्ति, संसार की भयभीरुता, कषायों की उपशान्तता, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अर्पणता, कोमलता इत्यादि भावों का संकलन उपरोक्त महापुरुषों की सहज भाषा-शैली में किया गया है।

'दृष्टिना निधान' पुस्तक के प्रकाशन के पश्चात् हमारे पूज्य मातुश्री तथा बड़ी भाभीश्री का स्वर्गवास होने पर, उनकी स्मृतिरूप कोई एक पुस्तक प्रकाशन का प्रसंग उपस्थित होने से, 'दृष्टिना निधान' पुस्तक के विषयभूत, दृष्टि के मूल विषयभूत तत्त्व का ही आचार्य भगवन्तों की भाषा में एक सुन्दर पुस्तक प्रकाशित करना है, ऐसी भावना जागृत होने से, परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री की जन्म-शताब्दी के उपलक्ष्य में, निश्चयनय के विषयभूत

मूल तत्त्व ही अलग-अलग आचार्य भगवन्तों की भाषा में, अलग-अलग 100 ग्रन्थों में से 2025 रत्नों के संकलनरूप से यह 'परमागम-चिन्तामणि' पुस्तक तैयार की गयी है।

पूज्य गुरुदेवश्री हमेशा फरमाते थे कि जीव ने अनादिकाल के परिभ्रमण में सब ही किया है परन्तु यह दृष्टि का विषय ही गहराई से समझना रह गया है। वे फरमाते थे कि जीव को व्यवहार का पक्ष अनादिकाल से चला आता है। शास्त्र में भी व्यवहारनय की बातें जगह-जगह अनेक की जाती हैं। ज्ञानियों के उपदेश में भी व्यवहारनयाश्रित कथन बहुत आते हैं; एक निश्चय का उपदेश ही बहुत विरल है, इसलिए अनादि का व्यवहार का पक्ष तोड़ने के लिये उसके निषेधक निश्चयनय का पक्ष दृढ़ करना चाहिए। व्यवहारनयाश्रित बातें जानना अनिवार्य होने पर भी उन पर वजन जरा भी देनेयोग्य नहीं है। निश्चयनय के विषय को पकड़ने के लिये उसका गहरा मन्थन जगाकर उसका स्वरूप समझने में सर्व पुरुषार्थ लगाना चाहिए—ऐसा पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते थे।

और, गुरुदेवश्री साथ ही साथ ऐसा भी फरमाते थे कि यह निश्चयनय की अध्यात्म की बात कच्चे पारे जैसी है। पात्र हुए बिना ग्रहण करने जाये तो जीव निश्चय के ग्रहण करने के बदले निश्चयाभासी हो जाता है। निश्चय को ग्रहण करने की भावनावाले पात्र जिज्ञासु को भव का अन्तर से त्रास... त्रास हो गया होता है, कषायें शान्त हो गयी होती हैं, देव-शास्त्र-गुरु की अन्तर से भक्ति जागृत हुई होती है, आत्मा बिना कहीं चैन नहीं पड़ता हो, वह जीव निश्चयनय का यथार्थ ग्रहण कर लेता है।

प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री भी बारम्बार फरमाती हैं कि मुमुक्षु का हृदय भींगा हुआ होता है, आत्मा की तीव्र लगन लगी हो, संसार से बहुत थक गया हो, देव-शास्त्र-गुरु ही उसे जगत में सर्वोत्कृष्ट लगते हों, चाहे जिस प्रसंग में भी उसके परिणाम मर्यादा में हों—उसके परिणाम मर्यादा बाहर न जाये, ऐसे पात्र जिज्ञासु आत्मा को प्राप्त कर सकते हैं।

उपरोक्त पात्रता की बात लक्ष्य में रखकर, दृष्टि के मूल विषयभूत तत्त्व के साथ-साथ उसे पहुँचने की पात्रतारूप वैराग्य, भक्ति, कषाय की उपशान्तता, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति बहुमान-विनय भक्ति आदि प्रतिपादक आर्ष वाणी अनेक ग्रन्थों में से इस पुस्तक में संकलित की है। वह वैराग्य आदि पात्रता की बातें भी जीव को साधारण गिनकर निकालने जैसी नहीं हैं परन्तु मूल तत्त्व को पहुँचने में वे भी एक सहायकरूप से समझनेयोग्य है।

जिनवाणी में अनेक जीवों को अनुलक्ष्य कर अनेक प्रकार के कथन आते हैं। एक ओर ऐसा कहा जाता है कि 'शास्त्र में रमती बुद्धि भी व्यभिचारिणी है।' (परमागम चिन्तामणि

नं. 304) दूसरी ओर ऐसा भी कहा जाता है कि 'शास्त्र में रमती बुद्धि मोक्ष की दूती है।' (परमागम-चिन्तामणि नं. 1993) ऐसे विरोधाभास जैसे लगनेवाले कथन भी शास्त्र में अनेक आते हैं, वहाँ आत्मार्थी जीवों को प्रत्येक कथन का तात्पर्य समझकर, अपने को हित हो, उस प्रकार से उस उपदेश का ग्रहण करना चाहिए।

और, शास्त्र में ग्यारहवें गुणस्थान से गिर जाने की बात भी आती है, तो जब तक केवलज्ञान न हो, तब तक जरा भी सन्तुष्ट हुए बिना तथा हताश हुए बिना, सावधान रहकर पुरुषार्थ ही करना, ऐसा उस उपदेश का तात्पर्य समझना चाहिए। गुरुगम से अपने को जिनवाणी के हल करने की दृष्टि प्राप्त करके समस्त जिनवाणी का उपदेश अपना हित हो, स्वयं ऊँचा चढ़े, अपने परिणाम उज्वल बनें और जैसे-जैसे आत्मा की निकटता बढ़ती जाये, उस प्रकार से जिनवाणी के सर्व उपदेश का ग्रहण करना चाहिए—ऐसा पूज्य गुरुदेवश्री बारम्बार फरमाते थे।

इस संकलन में कितने ही अप्रसिद्ध ग्रन्थों में से भी कुछ गाथायें ली गयी हैं। दोहा-पाहुड नाम का ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा का बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। उसके रचयिता रामसिंह मुनिराज हैं। श्री अमृतचन्द्र आचार्यदेव ने पंचास्तिकाय की 146वीं गाथा की टीका में रामसिंह मुनिराज के पाहुड-दोहा की गाथा 98 उद्धृत की है। (देखो, परमागम-चिन्तामणि, नं. 295) तथा मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी ने पाहुड-दोहा की गाथा 85 का आधार लिया है। (देखो, परमागम-चिन्तामणि, नं. 296) इससे इस ग्रन्थ की प्राचीनता और ग्रन्थकार की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

उपदेश-सिद्धान्त-रत्नमाला ग्रन्थ आचार्य धर्मदासजी रचित है। पण्डित श्री टोडरमलजी पर इन ग्रन्थकार की बहुत छाप पड़ी है। इससे मोक्षमार्गप्रकाशक में निम्नानुसार 9 जगह इस ग्रन्थ की गाथाओं का उन्होंने आधार दिया है।

मोक्षमार्गप्रकाशक, गुजराती आवृत्ति चौथी, पृष्ठ 16, 17, 24, 180, 182, 182, (दूसरी गाथा), 183, 219, 310। इन आधारों से यह ग्रन्थ विशेष प्रचलित न होने पर भी इसकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

'नेमिश्वर-वचनमृत-शतक' नामक ग्रन्थ नेमिचन्द्र-सिद्धान्तिदेव के एक भक्त चन्द्रसागर वर्णी ने रचा है। इस ग्रन्थ की विशेष जानकारी नहीं मिली, परन्तु ज्ञान-वैराग्य पोषक रचना होने से इस संकलन में उसमें से कितने ही वचनमृत लिये हैं। दूसरे भी कोई-कोई ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार विशेष प्रचलित नहीं होने पर भी उन ग्रन्थों की गाथायें वैराग्य और आत्मार्थ पोषक होने से इस संकलन में कितनी ही गाथायें उनमें से ली हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत में तथा पूज्य बहिनश्री के वचनामृत में कोई अधिकार-भेद नहीं किया है तथा प्रत्येक वचनामृत अपना स्वतन्त्र विषय प्रसिद्ध करता है। उसी प्रकार इस संकलन का प्रत्येक चिन्तामणि अपना स्वतन्त्र विषय प्रतिपादन करता है तथा अधिकार-भेद या आगे-पीछे कोई अनुसन्धान जैसा नहीं है। तथापि दृष्टि के विषय की विशेष दृढ़ता हो, इस हेतु से, इस एक ही विषय का प्रतिपादन करते हुए अनेक चिन्तामणि-रत्न शुरुआत में साथ में व्यवस्थित किये गये हैं।

इस संकलन में एक ही ग्रन्थ की अनेक गाथायें ली हैं, परन्तु वे गाथायें इस संकलन में क्रमसर नहीं दी गयी हैं। जैसे अनुपूर्वी में णमोकार मन्त्र गिनने में उपयोग की सावधानी रखनी पड़ती है, इस हेतु से णमोकार मन्त्र के अंक आड़े-टेढ़े रखे जाते हैं, इस प्रकार वाचक को इस संकलन में आगे-आगे वाँचने की जिज्ञासा जागृत रहे तथा वाँचने का रस रहे, इस दृष्टि से किसी भी ग्रन्थ की गाथायें इस संकलन में क्रमसर नहीं ली गयी हैं।

मुख्यरूप से दृष्टि के मूल विषयभूत गाथाओं का ही यह संकलन होने पर भी, इस संकलन में चारों पहलुओं से विषयों को प्रसिद्ध करती गाथायें ली गयी हैं, क्योंकि वैराग्य, भक्ति, सरलता, कषायों की उपशान्तता, सज्जनता आदि पात्रता के भावों बिना अकेला अध्यात्म जीव को शुष्कता में ले जाता है। इससे अध्यात्म के साथ-साथ वैराग्य, भक्ति, उपशम आदि भावों के प्रेरक और पोषक आर्ष-वचन भी इस संकलन में बहुत लिये गये हैं।

विविध आचार्यों ने एक ही प्रकार की बात की हो, इससे वाचक को ऐसा लगता है कि यह बात तो आ गयी है, परन्तु एक की एक बात को विशेष दृढ़ करने के प्रयोजनवश अलग-अलग आचार्यों ने समान बात की हो, वह भी इस संकलन में ली गयी है।

अध्यात्म-ग्रन्थों में पुनरुक्ति दोष गिनने में नहीं आता, परन्तु पुनरुक्ति को गुण माना जाता है, इसलिए इस आध्यात्मिक संकलन में दृष्टि, ज्ञान, वैराग्य आदि के पोषण हेतु एक की एक बात बारम्बार आवे, वहाँ प्रयोजन समझ लेना।

आगम तो महासागर है। (उसका चाहे जितना विस्तार किया जाये, तो भी कम है।) यह संकलन आगम-महासागर का एक बिन्दु मात्र है। वर्तमान समय में प्रवृत्तियोग बहुत बढ़ गया है। पूज्य गुरुदेवश्री के परिचय प्राप्त मुमुक्षुओं को अध्यात्म के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करने की भावना होती ही है, परन्तु विशेष निवृत्तियोग के अभाव में अपनी भावना अनुसार अध्ययन नहीं किया जा सकता हो, ऐसे साधर्मि बन्धुओं को यह एक 'परमागम-चिन्तामणि' के अध्ययन से अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययनवत् लाभ प्राप्त हो, वह इस संकलन के

प्रकाशन का हेतु है। इस 'परमागम-चिन्तामणि' के गहरे अध्ययन द्वारा चैतन्य चिन्तामणि प्राप्त करें, यही भावना।

इस 'परमागम-चिन्तामणि' में प्रत्येक गाथा में मूल ग्रन्थकर्ता आचार्यदेव का नाम, ग्रन्थ का नाम, गाथा नम्बर आदि सहित मूल गाथाओं का अक्षरशः अन्वयार्थ ही दिया गया है। हमारी ओर से कुछ भी फेरफार नहीं किया गया है तथापि इस संकलन में हमसे अनजाने में कुछ भी भूल हुई हो तो उसके लिये ग्रन्थकार आचार्य भगवन्तों, सन्तों, ज्ञानी आदि की अन्तःकरण से हम क्षमा चाहते हैं। इस संकलन में कुछ त्रुटि रह गयी हो तो उसे सुधारकर वाँचना यही सर्व पाठकों से हमारी नम्र प्रार्थना है।

— संकलनकार
नागरदास बेचरदास मोदी
उमेदराय बेचरदास मोदी
जितेन्द्र नागरदास मोदी

* * * *

प्रकाशकीय : प्रस्तुत हिन्दी प्रकाशन के सन्दर्भ में

पूज्य गुरुदेवश्री के जन्म शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में आज से लगभग 34 वर्ष पूर्व प्रकाशित प्रस्तुत संकलन 'परमागम-चिन्तामणि' की हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज द्वारा विशेष माँग होने से प्रस्तुत हिन्दी संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें विविध आचार्यों के विविध ग्रन्थों में से संकलित वचनमृतों से यह बात भलीभाँति सिद्ध होती है कि अनन्त ज्ञानियों का एक ही मत होता है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से हमें 100 ग्रन्थों के आंशिक स्वाध्याय का लाभ प्राप्त होता है, यदि हमें यह उपक्रम रुचिकर लगे तो सभी 100 ग्रन्थों का आद्योपान्त स्वाध्याय करने का विनम्र आग्रह है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तरण कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राज.) द्वारा किया गया है। सभी साधर्मीजन इस संकलन से निज आत्महित साधें, यही भावना है।

निवेदन
ट्रस्टीगण,
श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विलेपार्ला, मुम्बई



प्रशममूर्ति भगवती पूज्य बहेनश्री चंपाबेन

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोडे परिणति।

(शार्दूलविक्रीडित)

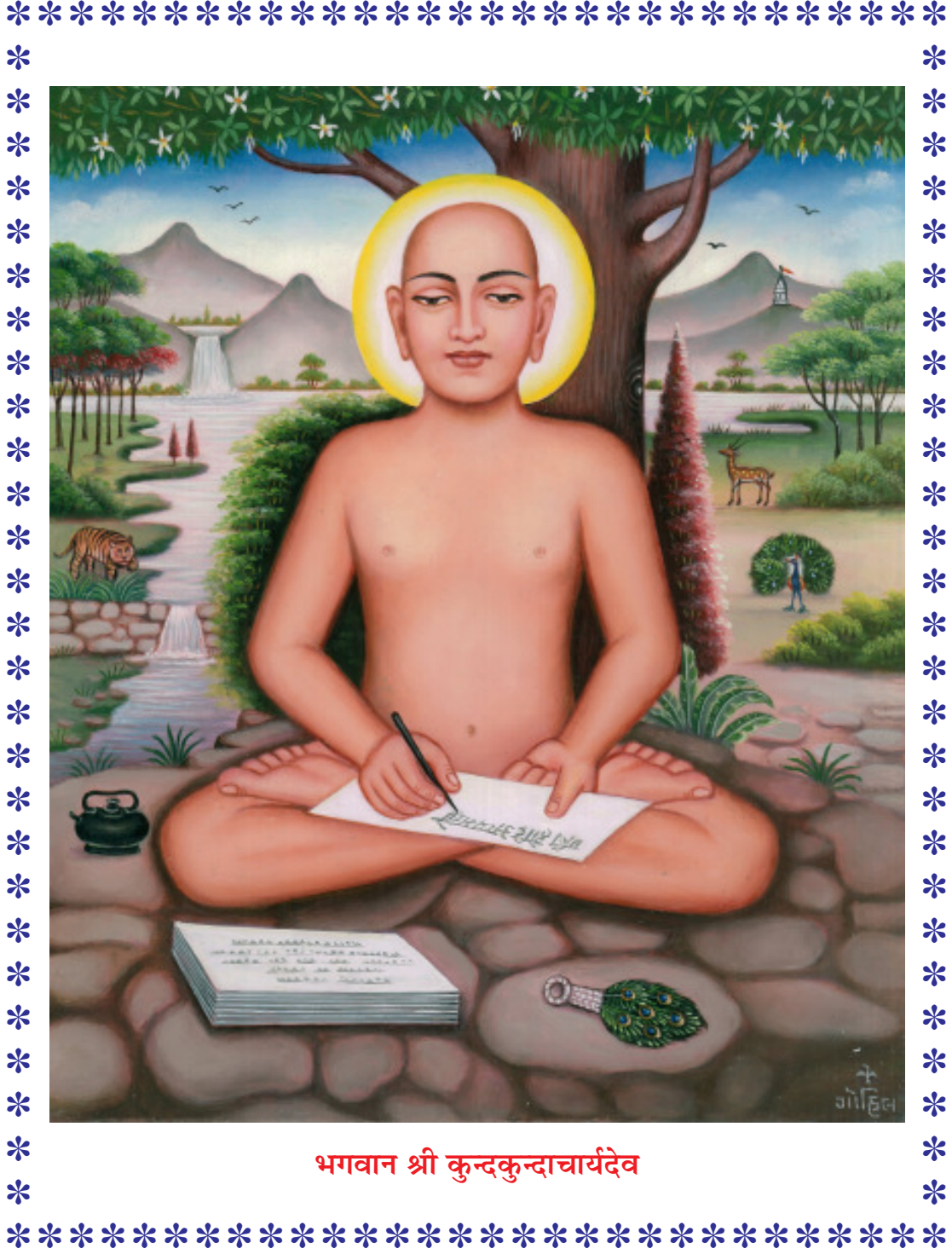
तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।



भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव

‘परमागम-चिन्तामणि’ में संकलित
— : ग्रन्थों की नामावलि : —

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
1. श्री समयसार	श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव
2. ” प्रवचनसार	” कुन्दकुन्द आचार्यदेव
3. ” नियमसार	” कुन्दकुन्द आचार्यदेव
4. ” पंचास्तिकाय	” कुन्दकुन्द आचार्यदेव
5. ” अष्टपाहुड	” कुन्दकुन्द आचार्यदेव
6. ” मूलाचार	” कुन्दकुन्द आचार्यदेव
7. ” रयणसार	” कुन्दकुन्द आचार्यदेव
8. ” बारह-भावना	” कुन्दकुन्द आचार्यदेव
9. ” दशभक्ति-संग्रह	” कुन्दकुन्द आचार्यदेव
10. ” पुरुषार्थसिद्धि उपाय	” अमृतचन्द्र आचार्यदेव
11. ” लघुतत्त्व स्फोट	” अमृतचन्द्र आचार्यदेव
12. ” समयसार-टीका	” जयसेन आचार्यदेव
13. ” प्रवचनसार-टीका	” जयसेन आचार्यदेव
14. ” पंचास्तिकाय-टीका	” जयसेन आचार्यदेव
15. ” रत्नकरण्डश्रावकाचार	” समन्तभद्र आचार्य
16. ” बृहद् स्वयंभूस्तोत्र	” समन्तभद्र आचार्य
17. ” आसमीमांसा	” समन्तभद्र आचार्य
18. ” स्तुति-विद्या	” समन्तभद्र आचार्य
19. ” ज्ञानार्णव	” शुभचन्द्र आचार्य
20. ” आत्मानुशासन	” गुणभद्र आचार्य
21. ” उत्तर पुराण	” गुणभद्र आचार्य
22. ” समाधितन्त्र	आचार्य पूज्यपादस्वामी
23. ” इष्टोपदेश	” पूज्यपादस्वामी
24. ” दशभक्ति-संग्रह	” पूज्यपादस्वामी
25. ” बृहद् द्रव्यसंग्रह	श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
26. श्री गोम्मटसार (जीवकाण्ड)	श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव
27. " मोक्षशास्त्र	आचार्य उमास्वामी
28. " कार्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वामी कार्तिक
29. " भगवती आराधना	शिवकोटि आचार्य
30. " मूलाराधना	शिवकोटि आचार्य
31. " पद्मनन्दि पंचविंशति	श्री पद्मनन्दि आचार्य
32. " धवला पुस्तक-4	आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि
33. " धवला पुस्तक-5	" पुष्पदन्त-भूतबलि
34. " धवला पुस्तक-6	" पुष्पदन्त-भूतबलि
35. " धवला पुस्तक-7	" पुष्पदन्त-भूतबलि
36. " धवला पुस्तक-9	" पुष्पदन्त-भूतबलि
37. " आराधनासार	श्री देवसेन आचार्य
38. " तत्त्वसार	" देवसेन आचार्य
39. " स्वरूप सम्बोधन	आचार्य अकलंकदेव
40. " तत्त्वार्थवार्तिक, भाग-1	" अकलंकदेव
41. " तत्त्वार्थवार्तिक, भाग-2	" अकलंकदेव
42. " परमात्मप्रकाश	श्री योगीन्द्रदेव
43. " योगसार-दोहा	" योगीन्द्रदेव
44. " योगसार प्राभृत	" अमितगति आचार्य
45. " सुभाषितरत्नसन्दोह	" अमितगति आचार्य
46. " तत्त्व-भावना	" अमितगति आचार्य
47. " सामायिक-पाठ	" अमितगति आचार्य
48. " धर्म-परीक्षा	" अमितगति आचार्य
49. " आदिपुराण भाग-1	" जिनसेन आचार्य
50. " आदिपुराण भाग-2	" जिनसेन आचार्य
51. " भक्तामरस्तोत्र	" मानतुंग आचार्य
52. " यशस्तिलकचंपू	आचार्य सोमदेव
53. " उपासकाध्ययन	" सोमदेव

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
54. श्री नयचक्र	आचार्य माईल्ल धवल
55. " हरिवंश पुराण	" जिनसेन आचार्य
56. " चन्द्रप्रभ चरित्र	" वीरनन्दी आचार्य
57. " उपदेश-सिद्धांत-रत्नमाला	आचार्य धर्मदास
58. " सिद्धान्तसार संग्रह	श्री नरेन्द्रसेन आचार्य
59. " वरांग चरित्र	आचार्य जटासिंहनन्दि
60. " सार समुच्चय	श्री कुलधर आचार्य
61. " पद्मपुराण	" रविषेण आचार्य
62. " कल्याणमन्दिरस्तोत्र	" कुमुदचन्द्र आचार्य
63. " तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक भाग-6	" विद्यानन्दस्वामी
64. " सुक्तिमुक्तावली	आचार्य सोमप्रभ
65. " क्षत्रचूडामणि	" वादिभसिंहसूरि
66. " ऐकीभावस्तोत्र	मुनिवर श्री वादीराज
67. " पाहुड-दोहा	मुनिवर रामसिंह
68. " तत्त्वानुशासन	नागसेन मुनिराज
69. " अमोघवर्ष-प्रश्नोत्तरमाला	राजर्षि अमोघवर्ष
70. " नेमीश्वर-वचनमृत-शतक	श्री चन्द्रसागर वर्णी
71. " तत्त्वज्ञान-तरंगिणी	" ज्ञानभूषण
72. " पाण्डव पुराण	" शुभचन्द्र भट्टारक
73. " ज्ञानसमुच्चयसार	" तारणस्वामी
74. " उपदेश शुद्धसार	" तारणस्वामी
75. " ममलपाहुड भाग-1	" तारणस्वामी
76. " ममलपाहुड भाग-2	" तारणस्वामी
77. " समयसार कलश-टीका	पण्डित राजमल्लजी
78. " पंचाध्यायी भाग-2	" राजमल्लजी
79. " नाटक समयसार	" बनारसीदासजी
80. " परमार्थ-वचनिका	" बनारसीदासजी
81. " मोक्षमार्गप्रकाशक	" टोडरमलजी

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
82. श्री विषापहारस्तोत्र	पण्डित महाकवि धनंजय
83. " अनगार-धर्माभृत	पण्डित आशाधरजी
84. " अध्यात्म-रहस्य	पण्डित आशाधरजी
85. " अनुभवप्रकाश	" दीपचन्दजी
86. " आतम-अवलोकन	" दीपचन्दजी
87. " भावदीपिका	" दीपचन्दजी
88. " चिद्विलास	" दीपचन्दजी
89. " छहढाला	" दौलतरामजी
90. " सर्वार्थसिद्धि-वचनिका	" जयचन्दजी
91. " सुदृष्टि-तरंगिणी	" टेकचन्दजी
92. " सत्तास्वरूप	" भागचन्दजी
93. " द्यानतविलास	" द्यानतराय
94. " बुधजन-सत्सई	" बुधजनजी
95. " चर्चा-समाधान	" भूधरदासजी
96. " सम्यग्ज्ञान-दीपिका	श्री धर्मदास क्षुल्लक
97. " ज्ञानोक्तप्रमाण	" धर्मदास क्षुल्लक
98. " परमानन्दस्तोत्र
99. " मृत्यु-महोत्सव पाठ
100. " अपरा-प्रश्नोत्तरमाला

श्री सर्वज्ञवीतरागाय नमः

मंगलाचरण

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥
अविरलशब्दघनोघप्रक्षालितसकलभूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥

* * *

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥

* * *

विविक्तमव्ययं सिद्धं स्व-स्वभावोपलब्धये ।
स्व-स्वभाव-मयं बुद्धं ध्रुवं स्तौमि विकल्मषम् ॥

* * *

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं ।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

मंगलाचरण

बंदूं श्री अरिहंतकूं मन वच तन इकतान ।
मिथ्याभाव निवारिकैं करैं सुदर्शन ज्ञान ॥



अविनासी अविकार परमरसधाम हैं ।
समाधान सरवंग सहज अभिराम हैं ॥
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनंत हैं ।
जगत शीरोमनि सिद्ध सदा जयवन्त हैं ॥



चिदानन्द चिद्रूप जो, जिन परमात्म देव ।
सिद्धरूप सुविसुद्ध जो, नमों ताहि करि सेवा ॥
परमात्म निजवस्तु जो, गुण अनन्तमय शुद्ध ।
ताहि प्रकाशन के निमित्त, बंदूं देव प्रबुद्ध ॥



परमागम केवलिकथित, गणधरगूथित सार ।
ताकों बन्दों भावजुत, पाऊं ज्ञान उदार ॥



परमागम जिनराज का, धर्म प्रकाशन हार ।
भवदधि तारण पोत सम, नमहुं पाप हर्तार ॥



निज स्वरूप कौ परम रस, जामैं भरो अपार ।
बन्दों परमानन्दमय, समयसार अविकार ॥



मंगलमय मंगलकरण वीतराग विज्ञान ।
मनों ताहि जातैं भये, अरहंतादि महान ॥



मेरा मुजसे अलग नहि, सो परमात्मदेव ।
ताकूं बंदूं भाव से, निशदिन करता सेव ॥

मंगलाचरण

सुर-असुर-नरपतिवन्द्य घातिकर्ममल निर्मल करण,
हे तीर्थकर्ता धर्म के वर्धमान जिन शत् शत् नमन ।
सब शेष तीर्थकर विशुद्ध सुसत्त्व इत सब सिद्ध को
दृग-ज्ञान-चारित्र वीर्य सत् आचार संयुक्त साधु को ।
पूर्वोक्त सर्व समूह को प्रत्येक को प्रत्येक को,
वन्दन करूँ में विहरते नरक्षेत्र के अरिहन्त को ।
अर्हत सिद्ध समूह को गणधर समूहों को नमन,
सब ही उपाध्यायों तथा सब साधुओं को कर नमन ।
उनके प्रमुख सद् दर्श ज्ञान विशुद्ध आश्रम को ग्रहण
कर ग्रहण कर्ता साम्य को जिससे मिले निर्वाण धन



परम पुरुष निज अर्थ को, साधि हुए गुणवृन्द;
आनन्दामृत चन्द्र को, वंदत हूँ सुखकन्द ।



शब्दब्रह्म परब्रह्म को वाचकवाच्य नियोग;
मंगलरूप प्रसिद्ध वह, नमुं धर्म धन-भोग ।



परम पदारथ पाने को, मंगलमय जिनवाण;
वंदुं निजगुण वृद्धिकर, लहू सदा सुखखाण ।



श्री जिनशासन गुरु नमुं, नाना विधि सुखकार,
आतमहित उपदेश दे, करूँ मंगलाचार ।

ॐ
परमात्मने नमः

परमागम-चिन्तामणि

हे भव्य ! लोक में नमन करनेयोग्य पुरुष भी जिसको नमस्कार करते हैं, ध्यानेयोग्य पुरुष भी जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं तथा स्तुति करनेयोग्य पुरुष भी जिसकी स्तुति करते हैं—ऐसा परमात्मा इस देह में ही विराजता है। उसको जैसे भी बने वैसे जान। (1)

(आचार्य कुन्दकुन्द, मोक्षपाहुड, 103)

* * *

जो परमात्मा है, वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ, वही परमात्मा है; इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासनेयोग्य हूँ, अन्य कोई उपास्य नहीं है—ऐसी वस्तुस्थिति है। (2)

(श्री पूज्यपाद आचार्य, समाधितन्त्र, श्लोक 31)

* * *

जो कोई मोक्ष की इच्छा रखकर परद्रव्य की उपासना करता है—परद्रव्य का भक्त और सेवक बनकर उसके ही पीछे डोलता है—वह मूढ़-जन हिमवान पर्वत पर चढ़ने का इच्छुक होते हुए भी समुद्र की ओर चला जाता है—ऐसा मैं मानता हूँ। (3)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार, जी.अ., गाथा-50)

* * *

जो परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, वह मैं ही हूँ जो कि अविनाशी देव स्वरूप हूँ, जो मैं हूँ, वही उत्कृष्ट परमात्मा है। इस प्रकार निःसन्देह तू भावना कर। (4)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, श्लोक-165-175)

* * *

जो सिद्ध भगवान् द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित हैं, केवलज्ञानादि अनन्त गुणों से पूर्ण हैं, वही मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, नित्य हूँ, एक हूँ और निरावलम्बी हूँ। (5)
(श्री देवसेनाचार्य, तत्त्वसार, गाथा-27)

* * *

सिद्ध भगवन्त, सिद्धपने के कारण, साध्य जो आत्मा, उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं, जिनके स्वरूप का संसारी भव्य जीव चिन्तवन करके, उसी समान अपने स्वरूप को ध्याकर, उन्हीं जैसे हो जाते हैं और चारों गतियों से विलक्षण जो पंचमगति मोक्ष है, उसको पाते हैं। (6)
(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार गाथा 1 टीका)

* * *

जो परमात्मा है, वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ, वही परमात्मा है—यह समझकर हे योगिन्! अन्य कुछ भी विकल्प मत करो। (7) (श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-22)

* * *

द्वादशांग का तथा प्रत्येक पूर्व का सार यही कहा गया है कि यद्यपि मेरा आत्मा शरीरसहित है, तथापि निश्चय से यह आत्मा, परमात्मा है—ऐसा जाननायोग्य है। (8)
(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-76)

* * *

जैसे सिद्ध आत्मा हैं, वैसे ही भवलीन (संसारी) जीव हैं; इसलिए (वे संसारी जीव, सिद्धात्माओं के समान) जन्म-जरा-मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत हैं। (9)
(श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, नियमसार, गाथा-47)

* * *

यह आत्मा ही निश्चय से श्री जिनेन्द्र परमात्मा है। हे भाई! तारण-तरण स्वरूप जिनेन्द्रदेव जिसको जिन कहते हैं, ऐसे अपने आत्मारूपी जिन भगवान् का ध्यान करो। यह आत्मा ही निश्चय से तारण-तरण अरिहन्त परमात्मा है। (10)
(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड़, भाग-1, पृष्ठ-349)

* * *

मेरा आत्मा, परमात्मा है, वह परम ज्योति प्रकाशस्वरूप है, जगत में ज्येष्ठ है, महान है, तो भी वर्तमान में देखने मात्र से रमणीक और अन्त में नीरस, ऐसे इन्द्रियों के विषयों से ठगाया गया हूँ। (11) (शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, 31, 2, श्लोक-8)

* * *

हे भव्य ! जब स्फटिकमणि की जिनमूर्ति के समान अन्तर में अपने शुद्धात्मा को तू भायेगा, तब कर्मजाल स्वयमेव क्षण में ही कट जायेंगे और आत्मभावों में तू परिशुद्ध हो जायेगा। (12) (श्री नैमिश्वर, वचनामृत शतक, श्लोक-38)

* * *

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये पाँचों परमेष्ठी इस आत्मा के ही परिणाम हैं, इसलिए आत्मा ही मुझे शरण है। (13) (कुन्दकुन्दाचार्य, बारस अनुप्रेक्षा, गाथा-12)

* * *

हे उत्तम मतिमान् ! 'शुद्ध चिद्रूपोऽहम्' शुद्ध चिद्रूप हूँ, इन छह अक्षरों का तू निरन्तर ध्यान कर। इस सद्विचारों से तुझे भलीभाँति समझ में आयेगा कि इस शुद्ध चिद्रूप का स्मरण ही संसार में सर्व तीर्थों में उत्तम तीर्थ है, शास्त्रज्ञानरूप समुद्र में उत्पन्न हुआ शीघ्र ग्रहण कर लेनेयोग्य, उत्तम अमूल्य रत्न है, सर्व सुखों का निधान है, मोक्ष पद में पहुँचानेवाला त्वरित गतिवाला वाहन है, कर्म के समूहरूप धूल को दूर करने के लिए वायु का चक्र है और संसार परिभ्रमणरूपी वन को जलाकर भस्म करने के लिए अग्नि है—ऐसा तू निश्चय से जान। (14)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी 2, गाथा-7)

* * *

मैं सदा ज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ, पंच पद हूँ, त्रिभुवन का सार हूँ, ब्रह्मा हूँ, ईश हूँ, जगदीशस्वरूप हूँ। 'सोऽहम्' (ऐसा जो मैं) उसके परिचय से ही मैं भवोदधि से तर जाऊँगा। (15) (श्री दीपचन्द्रजी शाह, आत्मावलोकन, पृष्ठ-163)

* * *

यह आत्मा कर्मकृत रागादि अथवा शरीरादि से संयुक्त न होने पर भी अज्ञानी जीवों को संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है और वह प्रतिभास निश्चय ही संसार के बीजरूप है। (16) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, पु.सि.उ., गाथा-14)

* * *

यद्यपि शुद्धोपयोग लक्षणवाला क्षायोपशमिक ज्ञान, मुक्ति का कारण होता है तो भी ध्यान करनेवाले को नित्य सकल निरावरण, अखण्ड, एक सम्पूर्ण, निर्मल केवलज्ञान जिसका लक्षण है, ऐसा परमात्मस्वरूप वह मैं हूँ, खण्ड ज्ञानरूप नहीं, ऐसी भावना करनी चाहिए। (17) (नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, द्रव्यसंग्रह, गाथा-34)

* * *

योगियों को अपने ध्यान के समय जो शुद्धात्मा दिखता है, वही परम ब्रह्मा है, वही जिन है, वही परमतत्त्व है, वही परमगुरु है, वही परमज्योति है, वही परमतप है, वही परमध्यान है, वही परमात्मा है, वही सर्व कल्याणरूप है, वही सुख का भाजन है, वही शुद्ध चिद्रूप है, वही परमशिव है, वही परमानन्द है, वही सुखदायक है, वही उत्कृष्ट चैतन्य है और वही सर्व गुणों का भण्डार भी है। अर्थात् ध्यान में, अनुभव में आता हुआ शुद्धात्मा, वही जीव का सर्वस्व है। (18) (परमानन्द स्रोत, श्लोक-19)

* * *

सुगुरु की महान छत्रछाया पाकर भी हे जीव! तूने सदा काल संताप को ही पाया। परमात्मा निजदेह मैं होने पर भी तूने पत्थर पर पानी डाला। (19) (श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड़ दोहा, गाथा-130)

* * *

जिस मुनि ने इस अपवित्र शरीर से अपने आत्मा को भिन्न ज्ञायकस्वरूप जाना, उसने सर्व शास्त्रों को जाना। (20) (श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-463)

* * *

प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ, केवल ज्ञायक होने से मेरा विश्व के (समस्त पदार्थों के) साथ भी सहज ज्ञेयज्ञायकलक्षण सम्बन्ध ही है, परन्तु दूसरे स्व-स्वामी लक्षणादि सम्बन्ध नहीं हैं, इसलिए मेरा किसी के साथ ममत्व नहीं, सर्वत्र

निर्ममत्व ही है ? (21)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-200)

* * *

जीव भिन्न है और पुद्गल भिन्न है, बस इतना ही तत्त्व कथन का सार है। (इसके अलावा) अन्य जो कुछ भी कहा जाता है, वह उसका ही विस्तार है। (22)

(श्री पूज्यपादस्वामी, इष्टोपदेश, गाथा-50)

* * *

हे जीव! मैं अकिंचन हूँ अर्थात् मेरा कुछ भी नहीं, ऐसी सम्यक् भावना तू निरन्तर कर, कारण कि इसी भावना के सतत् चिन्तन से तू त्रैलोक्य का स्वामी होगा। यह बात मात्र योगीश्वर ही जानते हैं। यह योगीश्वरों को गम्य ऐसा परमात्मतत्त्व का रहस्य मैंने तुझे संक्षेप में कहा है। (23)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-110)

* * *

आत्मा को एकरूप ही श्रद्धान करना अथवा एकरूप ही जानना चाहिए तथा एक में ही विश्राम लेना चाहिए। निर्मल-समल का विकल्प नहीं करना चाहिए। इसमें ही सर्वसिद्धि है, दूसरा उपाय नहीं है। (24)

(पण्डित बनारसीदासजी, नाटक समयसार, जीवद्वार, पद-20)

* * *

सिद्धगति में जैसे सर्व मलरहित ज्ञानस्वरूपी सिद्ध भगवान विराजमान हैं, वैसे ही देह के अन्दर विराजमान परमब्रह्मस्वरूप अपना आत्मा जानना चाहिए। (25)

(देवसेनाचार्य, तत्त्वसार, गाथा-26)

* * *

हे देव! तू देव का आराधन करता है परन्तु तेरा परमेश्वर कहाँ चला गया? जो शिव/कल्याणरूप परमेश्वर सर्वांग में विराज रहा है, उसको तू क्यों भूल गया है। (26)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड़ दोहा, गाथा-50)

* * *

भले ही 11 अंग तक शास्त्र हमेशा पढ़ा करे, परन्तु जो आत्मतत्त्व का बोध नहीं

करता तथा जिनदेव-समान निजाकार को अपने में नहीं देखता, वह जीव कल्याण प्राप्ति के योग्य नहीं है। (27) (नैमिश्वर, वचनमृत शतक, श्लोक-52)

* * *

जो जिनदेव हैं, वही मैं हूँ — इसकी भ्रान्तिरहित होकर भावना कर। हे योगिन! मोक्ष का कारण कोई अन्य मन्त्र-तन्त्र नहीं है। (28)

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार-75)

* * *

सबसे उत्कृष्ट परमतत्त्व एक परमात्मा है। अपने ही उत्कृष्ट स्वभाव के द्वारा वह पहिचाना जाता है। निश्चय से आत्मा जो है, वही परमात्मा है। जिसके भीतर यह उत्तम तत्त्व प्रगट हो जाता है, वह उत्तम मुक्ति पद से जाकर मिल जाता है। (29)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड़, भाग-2, पृष्ठ-271)

* * *

शुद्धनिश्चयनय से, शक्तिरूप से सर्वजीव शुद्ध-बुद्ध, एक स्वभावी होने से उपादेय हैं और व्यक्तिरूप से पंच परमेष्ठी ही उपादेय हैं। उनमें भी (पंच परमेष्ठियों में भी) अरिहंत और सिद्ध - ये दो ही उपादेय हैं। इन दोनों में भी निश्चय से सिद्ध ही उपादेय हैं और परमनिश्चयनय से तो भोगाकांक्षादिरूप समस्त विकल्पजालरहित, परमसमाधिकाल में सिद्धसमान स्वशुद्धात्मा ही उपादेय हैं, अन्य सर्वद्रव्य हेय हैं। (30)

(श्री नैमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, वृहद् द्रव्यसंग्रह, अधि-1 का उपसंहार)

* * *

शब्दों से शब्दार्थ का बोध होता है, शब्दों से पद जाना जाता है। आत्मा, परमात्मा के बराबर है, यह जानना ही शास्त्र का प्रयोजन है। (31)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, गाथा-49)

* * *

शुद्धनय की दृष्टि से देखने में आवे तो सर्वकर्मों से रहित चैतन्यमात्र देव, अविनाशी आत्मा अन्तरंग में स्वयं विराज रहा है। यह प्राणी-पर्यायबुद्धि, बहिरात्मा-

उसे बाहर ढूँढता है, यह बड़ा अज्ञान है। (32) (समयसार, श्लोक 12 का भावार्थ)

* * *

जगतिलक आत्मा को छोड़कर परद्रव्य में रमता है..... तो क्या मिथ्यादृष्टि के माथे पर सींग होते होंगे? (श्रेष्ठ आत्मा को छोड़कर पर में रमणा करता है, वह मिथ्यादृष्टि ही है।) (33) (मुनिवर रामसिंह, पाहुड़ दोहा, गाथा-70)

* * *

श्रुतकेवली ने कहा है कि तीर्थों में, देवालयों में देव नहीं है; जिनदेव तो देह-देवालय में विराजमान है, इसे निश्चित समझो। (34) (योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-42)

* * *

चैतन्यतत्त्व निश्चय से स्वयं में ही स्थित है, उस चैतन्यस्वरूप तत्त्व को जो अन्य स्थान में स्थित समझता है, वह मूर्ख मुट्टी में रखी हुई वस्तु को मानो प्रयत्नपूर्वक वन में खोज रहा है। (35) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, सद्बोध चन्द्रोदय अधिकार, श्लोक-9)

* * *

जो सिद्धालय है, वह देहालय है, अर्थात् जैसा सिद्धलोक में विराज रहा है, वैसा ही हंस (आत्मा) इस घट (देह) में विराजमान है। (36) (योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधि.-1, गाथा-25)

* * *

यह आत्मा, परमात्मा के समान है। दोनों के स्वभाव में निश्चय से कोई अन्तर नहीं है। यह आत्मा, परमानन्द में कल्लोल करनेवाला है। परमात्मा परमशुद्ध है, रागादिरहित वीतराग है, कर्ममलरहित निर्मल है तथा अविनाशी है। (37) (श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-79)

* * *

देह-देवालय में तू स्वयं शिव बसता है, और तू उसे दूसरे देवालय में ढूँढता है। अरे! सिद्ध प्रभु भिक्षा के लिए भ्रमण कर रहा है-ऐसा देखकर मुझे हँसी (आश्चर्य)

आती है। (38)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड़ दोहा, गाथा-186)

* * *

परमात्मदेव, देह में स्थित होने पर भी, जो देव को अन्यत्र खोजता है, वह मूढ़बुद्धि घर में भोजन तैयार होने पर भी बाहर भटकता है-ऐसा मैं मानता हूँ। (39)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत निर्जरा अधिकार, श्लोक-22)

* * *

जिनदेव, देह-देवालय में विराजमान है; परन्तु जीव (ईंट-पत्थरों के) देवाल्यों में उनके दर्शन करता है - यह मुझे कितना हास्यास्पद मालूम होता है! यह बात ऐसी ही है जैसे कोई मनुष्य सिद्ध हो जाने पर भिक्षा के लिए भ्रमण करता है। (40)

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-43)

* * *

जिस भगवान आत्मा के केवल स्मरणमात्र से भी ज्ञानरूपी तेज प्रगट होता है, अज्ञानरूपी अन्धकार का विनाश होता है तथा कृतकृत्यता अचानक ही आनन्दपूर्वक अपने मन में प्रगट हो जाती है। वह भगवान आत्मा इसी शरीर में विराजमान है, उसका शीघ्रता से अन्वेषण करो। दूसरी जगह (बाह्य पदार्थों की तरफ) क्यों दौड़ रहे हो?

(41)

(पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दिपंचविंशति, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-146)

* * *

यही आत्मा निश्चय से परमात्मा है। व्यवहारनय से अनादि कर्मों के बंधन के कारण यह पराधीन होकर दूसरों का जाप करता है परन्तु जब यह निश्चय से अपने आत्मा को जाने तो यही परमात्मा देव है। जो परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, वही मैं अविनाशी देव हूँ, जो मैं हूँ सो ही उत्कृष्ट परमात्मा है। इस तरह तू निःशंक होकर भावना कर। हे जीव! जैसे निर्मल स्फटिकमणि से उसके नीचे लगे सभी डाक भिन्न हैं, वैसे ही इस आत्मा के स्वभाव से सर्व ही शुभ व अशुभ कर्म के स्वभाव भिन्न हैं, ऐसा मान। (42)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड़, भाग-2, पृष्ठ-202)

* * *

निश्चय से देखा जाये तो यह मेरा आत्मा भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म रहित शुद्ध है। मेरा आत्मा ही शुद्धात्मा है, इस देह के भीतर विराजमान है, तथापि मूर्तिक देहरहित अमूर्तिक है। यह मेरा आत्मा ही निश्चय से परमात्मा है। (43)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-44)

* * *

हे योगिन्! मोक्ष प्राप्त करने में शुद्धात्मा और जिन भगवान में कुछ भी भेद न समझो, यह निश्चय मानो। (44)

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-20)

* * *

मेरा आत्मा निश्चय से अपने ही स्वभाव में रहता है। मेरा आत्मा ही परमात्मारूप है। इसी भाव से राग का क्षय हो जाता है तथा वीतराग शुद्ध केवलज्ञानमयस्वभाव झलक जाता है। फिर शेष कर्मों को क्षय करके यह निर्वाण को चला जाता है। (45)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-533)

* * *

जैसा केवलज्ञानादि प्रगटस्वरूप कार्यसमयसार, उपाधिरहित, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्मरूप मल से रहित, केवलज्ञानादि अनन्त गुणरूप, सिद्ध परमेष्ठी देवाधिदेव, परम आराध्य मुक्ति में रहता है, वैसा ही सब लक्षणों सहित परब्रह्म, शुद्धबुद्ध, एकस्वभाव परमात्मा, उत्कृष्ट शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर शक्तिरूप परमात्मा शरीर में तिष्ठता है, इसलिए हे प्रभाकर भट्ट! तू सिद्ध भगवान में और अपने में भेद मतकर। (46)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-26)

* * *

जैसे नेत्र (दृश्य पदार्थों का कर्ता-भोगता नहीं, देखता ही है) वैसे ही ज्ञान अकारक तथा अवेदक है और बंध, मोक्ष, कर्मोदय तथा निर्जरा को जानता ही है। (47)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, समयसार, गाथा-320)

* * *

‘शुद्ध निश्चयनय से मुक्ति में तथा संसार में अन्तर नहीं है’ ऐसा ही वास्तव में, तत्त्व विचारने पर (परमार्थ वस्तुस्वरूप का विचार अथवा निरूपण करने पर) शुद्धतत्त्व

के रसिक पुरुष कहते हैं। (48) (पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-73)

* * *

परमशुद्धनिश्चयनय से जीव में संवर ही नहीं है, इसलिए संवर के विकल्परहित आत्मा का शुद्धभावपूर्वक निरन्तर चिन्तवन करना चाहिए। (49)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, बारहभावना, गाथा-65)

* * *

व्यवहारनयकर द्रव्यकर्म, नोकर्म का सम्बन्ध होता है। उससे रहित और अशुद्ध निश्चयनयकर रागादिक का सम्बन्ध है, उससे तथा मतिज्ञानादि विभावगुणों के सम्बन्ध से रहित और नर नारकादि चतुर्गतिरूप विभाव-पर्यायों से रहित ऐसा जो चिदानन्द चिद्रूप एक अखण्डस्वभाव शुद्धात्मतत्त्व है, वही सत्य है। उसी को परमार्थरूप समयसार कहना चाहिए। वही सब प्रकार आराधनेयोग्य है। (50)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-7)

* * *

सिद्ध भगवान के समान ही निश्चय से मेरा आत्मा कर्ममलरहित शुद्ध है, शुद्ध स्वभाव में तन्मय है तथा रत्नत्रयस्वरूप है, संसार के भ्रमण से रहित है। यह आत्मा ही वास्तव में परमात्मा है, परम वीतराग व निर्दोष है। (51)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-706)

* * *

यह आत्मा कर्मों के बन्धन से सहित होने पर भी कर्मबन्धन से रहित है, राग-द्वेष से मलिन होने पर भी निर्मल है और देहधारी होने पर भी देह से रहित है, इसलिए आचार्य कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप आश्चर्यकारी है। (52)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, सद्बोधचन्द्रोदय अधिकार, श्लोक-13)

* * *

सिद्धान्त में कहा है कि 'निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः' अर्थात् शुद्धपारिणामिक (भाव) निष्क्रिय है। निष्क्रिय का क्या अर्थ है? (शुद्धपारिणामिकभाव) बन्ध के

कारणभूत जो क्रिया—रागादि—परिणति, उस-रूप नहीं और मोक्ष के कारणभूत जो क्रिया—शुद्धभावनापरिणति, उस-रूप भी नहीं। इसलिए ऐसा जानने में आता है कि शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप है, ध्यानरूप नहीं। किसलिए? क्योंकि ध्यान विनश्वर है। (और शुद्धपारिणामिकभाव तो अविनाशी है)। (53)

(श्री जयसेन आचार्य, समयसार टीका, गाथा-320)

* * *

यह आत्मा चिदानन्दमयी परमात्मा के स्वभाव के समान है, ऐसी भावना करने से कर्मों का क्षय हो जाता है; जैसे सिंह को देखते ही हाथियों के समूह भाग जाते हैं, दृष्टि से बाहर हो जाते हैं। (54)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-309)

* * *

हे योगीश्वर! निश्चयनयकर विचारा जावे तो यह जीव न तो उत्पन्न होता है, न मरता है और न बन्ध-मोक्ष को करता है, अर्थात् शुद्धनिश्चयनय से बन्ध-मोक्ष से रहित है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। (55)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-68)

* * *

हम भी श्री जिनेन्द्रदेव के समान ज्ञानगोचर हैं। हम भी स्वानुभवगोचर हैं। हम भी परमानन्दस्वभाव के धारी हैं। हम अपने आनन्दमयीस्वरूप में मगन हैं। हम ही मुक्तिस्वरूप हैं, हम ही सिद्धस्वभाव के धारी हैं। इस तरह साधक को एक द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा अपने आत्मा के स्वरूप का मनन करना चाहिए। (56)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड़, भाग-1, पृष्ठ-321)

* * *

जो जिन भगवान हैं, वही मैं हूँ, यही सिद्धान्त का सार समझो। इसे समझकर हे योगीजनों! मायाचार को छोड़ो। (57)

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-21)

* * *

हे भव्य! मैं तुझे एक वस्तु समझाता हूँ, अत्यन्त प्यार से उसे तू सुन और समझ

— 'यह आत्मा स्वयं नित्य सत्-चित् आनन्दस्वरूप है। उसे तू कभी भूल मत।' (58)
(श्री नैमिष्वर-वचनामृत शतक, श्लोक-9)

* * *

भाव से भावों की शुद्धि होती है, वह भाव यह है कि यह अपना आत्मा निश्चय से परमात्मारूप निर्मल अपने स्वभाव में रहनेवाला है। यही भाव भव्यजीवों के लिए शरण है। जो इस आत्मानुभवरूपी भाव की आराधना करते हैं, वे निर्वाण को जाते हैं। (59)
(तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-907)

* * *

जीवद्रव्य क्वचित् सद्गुणोंसहित विलसता है, दिखायी देता है; क्वचित् अशुद्धरूप-गुणोंसहित विलसता है, क्वचित् सहज पर्यायोंसहित विलसता है और क्वचित् अशुद्ध पर्यायोंसहित विलसता है। इन सबसे सहित होने पर भी जो इन सबसे रहित है—ऐसे इस जीवतत्त्व को मैं सकल अर्थ की सिद्धि के लिए सदा नमता हूँ, भाता हूँ। (60)
(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार, श्लोक-26)

* * *

अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा बालगोपाल सबसे अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी अनादि बन्ध के वश होकर पर (द्रव्यों) के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ़-अज्ञानीजन को 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ' — ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता। (61)
(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-18)

* * *

यह जो एकेन्द्रियादि तथा पृथ्वीकायिकादि 'जीव' कहे जाते हैं, वे अनादि जीव पुद्गल का परस्पर अवगाह देखकर व्यवहारनय से जीव के प्राधान्य द्वारा (जीव को मुख्यता देकर) 'जीव' कहे जाते हैं। निश्चयनय से उनमें स्पर्शादि इन्द्रियाँ तथा पृथ्वी आदि काय, जीव के लक्षणभूत चैतन्यस्वभाव के अभाव के कारण, जीव नहीं हैं, उन्हीं में जो स्व-पर की शक्तिरूप से प्रकाशित ज्ञान है, वही गुण-गुणी के कथंचित् अभेद के कारण, जीवरूप से प्ररूपित किया जाता है। (62)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पंचास्तिकाय टीका, गाथा-121)

* * *

भावकर्म की गुफा में राग-द्वेष-मोह के प्रकाश में छिपा हुआ स्वरूप रहता है। वह प्रकाश तेरे राजा का अशुद्ध स्वांग है। उसमें तू खोजकर, डर मत, निःशंक होकर इस राग-द्वेष-मोह की डोरी के साथ जाकर खोज। (यह राग-द्वेष-मोह की डोरी) जिस प्रदेश से उठी, वही तेरा राजा है। डोरी को देख मत। जिसके हाथ में यह डोरी है, उसे पकड़ने से तुरन्त मिलेगा। (तेरा राजा) निजज्ञान महिमा को छिपाकर बैठा है (उसे) तू पहिचान। यह गुप्तज्ञान होने पर (तेरा) राजा छिपा हुआ नहीं रहेगा। (वहाँ तू) चेतना प्रकाशरूप चिदानन्द राजा को प्राप्त करके सुखी होगा। (63)

(श्री दीपचंदजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ 9)

* * *

मोक्षार्थी सज्जन के लिए 'आत्मा' ऐसे दो अक्षर ही बस हैं, उसमें जो तन्मय होता है, उसका मोक्षसुख हथेली में है। (64)

(श्री नैमिश्वर वचनामृत, श., श्लोक-87)

* * *

टांकी से उकेरी मूर्ति के समान अविनाशी, स्वभाव से अमिट यह आत्मा है। दर्शनमोहनीय कर्ममल की मूढ़ता से रहित यह आत्मा है। आत्मा परमात्मस्वरूप है। शुद्ध ज्ञानमयी है। कर्ममलरहित परमात्मा है। (65)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चय, श्लोक-662)

* * *

द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाय तो (ज्ञायकभाव), दुरंत कषाय चक्र के उदय की (कषाय समूह के अपार उदयों की), विचित्रता के वश से प्रवर्तमान जो पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेक रूप, शुभाशुभभाव, उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता (ज्ञायकभाव से जड़ भावरूप नहीं होता)। इसलिए वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है। (66)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार-टीका, गाथा-6)

* * *

संसारी में सांसारिक गुण होते हैं और सिद्धजीव में सदा समस्त सिद्धिसिद्ध

(मोक्ष से सिद्ध अर्थात् परिपूर्ण हुए) निज परमगुण होते हैं, इस प्रकार व्यवहारनय है। निश्चय से तो सिद्धि भी नहीं है और संसार भी नहीं है। यह सुबुध पुरुषों का निर्णय है। (67)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार, श्लोक-35)

* * *

आत्मा विभाव परिणति से दुःखी दिखाई देता है, परन्तु उसकी शुद्ध चैतन्यशक्ति का विचार करो तो वह साहजिक शान्तिमय ही है। वह कर्म के संयोग से गति-योनि का प्रवासी कहलाता है, परन्तु उसका निश्चयस्वरूप देखो तो कर्मबन्धन से मुक्त परमेश्वर ही है। उसी ज्ञायकशक्ति के ऊपर दृष्टि दो तो वह लोकालोक का ज्ञाता, दृष्टा है, यदि उसके अस्तित्व के ऊपर ध्यान दो तो निज क्षेत्रावगाहप्रमाण ज्ञान का पिण्ड है। ऐसा जीव, जगत का ज्ञाता है। उसकी लीला विशाल है, उसकी कीर्ति कहाँ नहीं? अनादिकाल से चली आ रही है और अनन्त काल तक चलेगी। (68)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, साध्य-साधक द्वार, पद्य-50)

* * *

ये सब द्रव्य अपने-अपने प्रदेशोंकर सहित हैं, किसी के प्रदेश किसी से नहीं मिलते। इन छहों द्रव्यों में जीव ही उपादेय है। यद्यपि शुद्ध निश्चय से शक्ति की अपेक्षा सभी जीव उपादेय हैं, तो भी व्यक्ति की अपेक्षा पंच परमेष्ठी ही उपादेय है, उनमें भी अरिहंत-सिद्ध ही (उपादेय) हैं, उन दोनों में भी सिद्ध ही (उपादेय) हैं और निश्चयनयकर मिथ्यात्व-रागादि विभावपरिणाम के अभाव में विशुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा जानना। (69)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार 2, दोहा-22)

* * *

जो चेतनतत्व, कर्मकृत विकार के संसर्ग से रहित हैं, वही मैं हूँ। उसे (चैतन्य स्वरूप आत्मा को) संसार और जन्म-मरणादि कुछ भी नहीं है तो फिर भला मुझे (आत्मा को) चिन्ता कहाँ से हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। (70)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, निश्चय पंचाशत, श्लोक-36)

* * *

श्री जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ 'मान' वह है जो मान परिणाम चिन्तवन करे;—आत्मा, परमात्मा के बराबर है—ऐसा जानना ही 'मान' कहा जाता है। (71)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक 140)

* * *

(ज्ञानी शुद्धनय का अवलम्बन लेकर ऐसा अनुभव करता है) मैं अपने को अर्थात् मेरे शुद्धात्मस्वरूप को न तो द्रव्य से खण्डित करता हूँ, न क्षेत्र से खण्डित करता हूँ, न काल से खण्डित करता हूँ और न भाव से खण्डित करता हूँ, विशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव हूँ। (72)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार, परिशिष्ट)

* * *

हे भव्य जीवो! आत्मा ही के द्वारा आत्मा का मनन करो। जिसका स्वरूप शुद्ध है, रागादि मलरहित निर्मल है, उसे उत्कृष्ट स्वभावधारी परमात्मारूप ही मानो। परमात्मा के स्वभाव को नमन करके अर्थात् श्री सिद्ध भगवान को अपने भावों में प्रीतिपूर्वक धारण करके, दिव्यदृष्टि से अपने को वैसा ही जानकर, उसी दिव्यस्वभाव का मनन करो। क्योंकि जिस पर्याय को प्राप्त करना है, उसी की भावना करने से वह पर्याय प्रगट हो सकती है। (73)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड़, भाग-2, पृष्ठ-65)

* * *

विवक्षित एकदेश शुद्धनयाश्रित यह भावना (अर्थात् कहीं जाने योग्य आंशिक शुद्धिरूप यह परिणति) निर्विकार, स्वसंवेदन लक्षण क्षायोपशमिकज्ञानरूप होने से, जो कि व्यक्तिरूप है तो भी ध्याता पुरुष ऐसा भाता है कि जो 'सकलनिरावरण, अखण्ड, एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्ध पारिणामिकपरमभावलक्षण, निजपरमात्मद्रव्य वही मैं हूँ, परन्तु ऐसा नहीं भाता कि 'मैं' खण्डज्ञानरूप हूँ।' (74)

(श्री जयसेनाचार्य, समयसार, गाथा-320)

* * *

वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप, भावलिंग, यद्यपि शुद्धात्मस्वरूप का साधक है, इसलिए उपचारनयकर जीव का स्वरूप कहा जाता है, तो भी परमसूक्ष्म शुद्धनिश्चयनयकर

भावलिंग भी जीव का नहीं है। भावलिंग साधनरूप है, वह भी परमावस्था का साधक नहीं है। (75) (श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश टीका, गाथा-88)

* * *

ज्ञान की पर्याय में ज्ञानावरण के मन्द व अधिक क्षयोपशम की अपेक्षा निगोद से लेकर बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त अनन्तभेद हैं। जो पर्यायस्वरूप ज्ञान की अनुमोदना करता है, एकाकार शुद्धज्ञान को नहीं जानता है, वह ज्ञान में अन्तराय डाल रहा है। यदि यह अन्तराय न देखा जावे और शुद्धज्ञान को पहिचाना जावे तो वह निर्मल, स्वाभाविक आत्मा को अवश्य सिद्धि पाने का उपाय है। (76)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश, श्लोक-390)

* * *

जैसे (दीपक के द्वारा) प्रकाशित किये जानेवाले घटादिक (पदार्थ) दीपक के प्रकाशकत्व को ही प्रगट करते हैं, घटादिपने को नहीं, इसी प्रकार (आत्मा के द्वारा) चेतित होनेवाले रागादिक (अर्थात् ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात होनेवाले रागादिभाव) आत्मा के चेतकत्व को ही प्रगट करते हैं, रागादिकत्व को नहीं। (77)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-294)

* * *

जैसे कोई मनुष्य, पहाड़ पर से फिसल पड़े और कोई हितकारी बनकर उसकी भुजा मजबूती से पकड़ लेवे, उसी प्रकार ज्ञानियों को जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ है, तब तक व्यवहार का अवलम्बन है, यद्यपि यह बात सत्य है तो भी निश्चयनय चैतन्य को सिद्ध करता है तथा जीव को पर से भिन्न दर्शाता है और व्यवहारनय तो जीव को पर के आश्रित करता है। (78) (श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, जीवद्वार, पद-6)

* * *

परभाव होने पर भी, सहजगुणमणि के खानरूप तथा पूर्णज्ञानवाले शुद्ध आत्मा को एक जो तीक्ष्ण बुद्धिवाला शुद्धदृष्टि पुरुष भजता है, वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी (मुक्तिसुन्दरी) का वल्लभ बनता है। (79) (श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार, श्लोक-24)

* * *

जो जानता है, वही देखता है और वह निरन्तर चैतन्यस्वरूप छोड़ता नहीं, वह ही मैं हूँ; इससे भिन्न दूसरा मेरा कोई स्वरूप नहीं। यह समीचीन उत्कृष्ट तत्त्व है। चैतन्यस्वरूप से भिन्न क्रोधादि विभावभाव अथवा शरीरादि हैं, वे सब अन्य अर्थात् कर्म से उत्पन्न हुए हैं। सैकड़ों शास्त्र सुन करके इस समय अब मेरे मन में यही एक शास्त्र (अद्वैत तत्त्व) वर्तमान है। (80)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, परमार्थ विंशति, श्लोक-5)

* * *

जीवादि बाह्यतत्त्व हेय हैं; कर्मोपाधिजनित गुण-पर्यायों से व्यतिरिक्त 'आत्मा', आत्मा को उपादेय है। (81)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, नियमसार, गाथा-38)

* * *

छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थों में, निज शुद्धात्मद्रव्य, निज शुद्धजीवास्तिकाय, निजशुद्धात्मतत्त्व और निजशुद्धात्मपदार्थ ही उपादेय हैं, और अन्य सर्व हेय हैं। (82)

(श्री नैमिचंद्र सिद्धांतदेव, वृहद द्रव्यसंग्रह, गाथा-53 की टीका)

* * *

जिसके चित्त का चरित्र उदात्त (उदार, उच्च, उज्ज्वल) है—ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करें कि 'मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही हूँ और जो यह भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वे मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सभी मेरे लिए परद्रव्य हैं।' (83)

(अमृतचन्द्राचार्य, समयसार कलश-185)

* * *

जो ज्ञानादि के भी रूप में क्षयोपशमिकभाव है, वह भी तत्त्वदृष्टि से विशुद्ध जीव का स्वरूप नहीं। (84)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, जीव अधिकार, गाथा-58)

* * *

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि विभावपरिणामों को जीवस्वरूप से 'भिन्न' कहा, वहाँ 'भिन्न' का भावार्थ तो मैं समझा नहीं। 'भिन्न' कहने पर, 'भिन्न' है, वह वस्तुरूप है कि 'भिन्न' है, वह अवस्तुरूप है? उत्तर ऐसा है कि अवस्तुरूप है। उसी कारण से

शुद्धस्वरूप का अनुभवशील है जो जीव, उसको विभावपरिणाम दृष्टिगोचर नहीं होते। उत्कृष्ट है, ऐसा शुद्धचैतन्य द्रव्य दृष्टिगोचर होता है। (85)

(श्री राजमल्लजी, कलश टीका, कलश-37)

* * *

निश्चय से विद्यमान गुणस्थान, मार्गणास्थान, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म इत्यादि जितनी अशुद्धपर्यायें हैं, वे समस्त ही अकेले पुद्गलद्रव्य का कार्य अर्थात् पुद्गलद्रव्य के चित्राम जैसे हैं। ऐसा हे जीवों! निःसन्देहरूप से जानो। (86)

(श्री राजमल्लजी, कलश टीका, श्लोक-39)

* * *

उपयोग से कषाय और कषाय से उपयोग (उत्पन्न) नहीं होते और मूर्तिक-अमूर्तिक का परस्पर एक-दूसरे से उत्पाद सम्भव नहीं है। (87)

(अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत अधिकार-3, श्लोक-21)

* * *

ये (औदियिकादि) सभी भाव वास्तव में व्यवहारनय का आश्रय करके (संसारी जीवों में विद्यमान) कहने में आये हैं, शुद्धनय से संसार में रहनेवाले सर्व जीव सिद्धस्वभावी हैं। (88)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, नियमसार, गाथा-49)

* * *

जैसे सोना, कुधातु के संयोग से अग्नि के ताप में अनेकरूप में होता है तो भी उसका नाम सोना ही रहता है तथा सर्राफ, कसौटी के ऊपर कसकर उसकी रेखा देखता है और उसकी चमक के अनुसार कीमत लेता-देता है; उसी प्रकार अरूपी महादीप्तिवाला जीव, अनादि काल से पुद्गल के समागम में नवतत्त्वरूप दिखाई देता है, परन्तु अनुमानप्रमाण से सर्व अवस्थाओं में ज्ञानस्वरूप एक आत्मराम के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। (89)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, जीवद्वार, पद-9)

* * *

यह जो वर्ण से लगाकर गुणस्थान पर्यन्तभाव कहने में आये हैं, वे व्यवहार से तो

जीव के हैं (इसलिए सूत्र में कहे हैं) परन्तु निश्चयनय के मत में उनमें से कोई भी जीव के नहीं हैं। (90) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-56)

* * *

‘शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य ऐसे जो सर्व पुद्गलद्रव्य के भाव हैं, वे वास्तव में हमारे नहीं हैं’। ऐसा जो तत्ववेदी स्पष्ट कहते हैं, वे अति अपूर्वसिद्धि को पाते हैं। (91) (श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-74)

* * *

चैतन्य शक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व-सार है, ऐसा यह जीव इतना ही मात्र है; इस चित्शक्ति से शून्य जो ये भाव (गुणस्थानादि) हैं, वे सब पुद्गलजन्य हैं, पुद्गल के ही हैं। (92) (श्री अमृतचंद्राचार्य, समयसार टीका, 36)

* * *

यह जो विविक्त-कर्म कलंकरहित, निर्भय और निरामय (निर्विकार), अंतरंग (अध्यात्म) ज्योति है, वह परमतत्व है, उससे भिन्न अन्य सब उपद्रव हैं। (93) (श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत चूलिका अधिकार, श्लोक-33)

* * *

कर्म के उदय का विपाक (फल) जिनवरों ने अनेक प्रकार का वर्णन किया है वह मेरा स्वभाव नहीं है; मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ। (94) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-198)

* * *

जिस प्रकार घास, लकड़ी, बांस अथवा जंगल के अनेक ईंधनादि अग्नि में जलते हैं, उनके आकार के ऊपर ध्यान देने से अग्नि अनेक रूप में दिखाई देती है, परन्तु यदि मात्र दाहकस्वभाव के ऊपर दृष्टि डाली जाये तो सर्वाग्नि एकरूप ही है; उसी प्रकार जीव (व्यवहारनय से) नवतत्वों में शुद्ध, अशुद्ध, मिश्र आदि अनेक रूप हो रहा है; परन्तु जब उसकी चैतन्य शक्ति पर विचार करें, तब वह (शुद्धनय से) अरूपी और अभेदरूप जानने में आता है। (95) (श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, जीवद्वार, पद-8)

* * *

‘मैं अकेला हूँ’—इस प्रकार की बुद्धि से अद्वैत तथा “मैं कर्म संयुक्त हूँ”—इस प्रकार की बुद्धि से द्वैत होता है। इन दोनों में से प्रथम विकल्प (अद्वैत) अविनश्वर मुक्ति का कारण और द्वितीय विकल्प (द्वैत) केवल संसार का कारण है। (96)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, निश्चय पंचाशत, श्लोक-45)

* * *

जीव को क्षायिकभाव के स्थान नहीं हैं, क्षयोपशमभाव के स्थान भी नहीं हैं, औदयिकभाव के स्थान भी नहीं हैं तथा उपशमभाव के स्थान भी नहीं हैं। (97)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव, नियमसार, गाथा-41)

* * *

नवतत्त्वों में जो यह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय चैतन्यात्मक और जीव संज्ञावाला है, वह मैं उपादेय हूँ तथा यह मेरे से भिन्न पौद्गलिक रागादिभाव सब त्याज्य हैं। (98)

(श्री राजमल जी, पंचाध्यायी भाग-2, गाथा-457)

* * *

शरीर और आत्मा दोनों को एक माननेवाले मोहीजीवों द्वारा इन गुणस्थानों को जीव कहने में आता है। परन्तु भेदज्ञान में निपुण विवेकीजनों द्वारा नहीं, विवेकीजीव उनको पुद्गलरूप अजीव बताते हैं। (99)

(आचार्य अमितगति, योगसार प्राभृत, अधिकार-2, श्लोक-38)

* * *

जो वर्णादिक अथवा राग-मोहादिक कहे हैं, वे सब इस पुरुष से (आत्मा से) भिन्न हैं; इसलिए अन्तर्दृष्टि द्वारा देखनेवाले को यह सब दिखाई नहीं देते, मात्र एक सर्वोपरि तत्व ही दिखाई देता है, केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखाई देता है। (100)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार-टीका, कलश 37)

* * *

जिस प्रकार लोकाग्र में सिद्ध भगवंत अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा (विशुद्ध स्वरूपी) हैं, उसी प्रकार संसार में (सर्व) जीव जानना। (101)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, नियमसार, गाथा-48)

* * *

जिस प्रकार दर्पण में जो मयूर का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो वह प्रतिबिम्ब वास्तविक मयूर नहीं है, यदि वह वास्तविक हो, तब तो प्रत्यक्ष मयूर के समान प्रत्यक्ष होना चाहिए, परन्तु दर्पण में वह प्रत्यक्ष नहीं होता, मात्र उसका प्रतिबिम्ब ही जानने में आता है। उसी प्रकार जीवादि नवतत्त्व/ जीव की नौ अवस्थाएँ हैं, परन्तु वे वास्तविक, त्रैकालिक जीवस्वरूप नहीं हैं। जीवादि नवतत्त्व जीव की अवस्थाएँ हैं परन्तु वे शुद्ध जीवद्रव्य नहीं हैं। (102) (श्री राजमल्लजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा 168 का भावार्थ)

* * *

शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से ये (सम्यग्दर्शनादि) तीनों एक चैतन्यरूप ही हैं। कारण कि इस अखण्ड एक पदार्थात्मा में भेदों के लिए स्थान ही कौन सा है? उनमें भेद की कल्पना भी नहीं हो सकती, इत्यादि। (103)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, एकत्व, सप्तति अधिकार, श्लोक-15)

* * *

जो गुण कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए औदयिक हैं, कर्मों के उपशयजन्य औपशमिक हैं तथा कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए क्षयोपशमिक हैं और जो विविध शास्त्रसमूह द्वारा वर्णन किये गये हैं—अनेक शास्त्रों में जिनका वर्णन है—वे सब चेतनारहित अचेतन हैं। (104) (श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, अधिकार 2, श्लोक 49)

* * *

निश्चयनय का स्वरूप ऐसा है कि एकद्रव्य की अवस्था जैसी हो, उसी को कहे। आत्मा की दो अवस्थाएँ हैं - एक तो अज्ञानावस्था और एक ज्ञानावस्था। जब तक अज्ञानावस्था रहती है, तब तक तो बंधपर्याय को आत्मा जानता है—कि मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ, मैं मायावी हूँ, मैं पुण्यवान-धनवान हूँ, मैं निर्धन, दरिद्री हूँ, मैं राजा हूँ, मैं रंक हूँ, मैं मुनि हूँ, मैं श्रावक हूँ इत्यादि पर्यायों में आपा मानता है, इन पर्यायों में लीन होता है, तब यह मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है, इसका फल संसार में उसको भोगना पड़ता है। (105) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्षपाहुड़, गाथा-83)

* * *

प्रगटरूप से सदाशिवमय (निरन्तर कल्याणमय) ऐसे परमात्मतत्त्व में ध्यानावली होना ही शुद्धनय नहीं कहाता। “ वह है (अर्थात् ध्यानावली आत्मा में है) ” ऐसा (मात्र) व्यवहारमार्ग में सतत् कहा है। हे जिनेन्द्र! ऐसा वह तत्त्व (तूने नय द्वारा कहा हुआ वस्तुस्वरूप) अहो! महा इन्द्रजाल है। (106)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार-टीका, श्लोक 119)

* * *

जिस प्रकार जवापुष्प के योग से स्फटिकमणि में जो लालिमा का प्रतिभास होता है, वह क्षणिक है परन्तु स्फटिक का स्वरूप नहीं, उसी प्रकार जीवादि नवतत्त्वों में जो जीव का प्रतिभास होता है, वह वास्तविक नहीं परन्तु केवल व्यवहारदृष्टि से है—शुद्धदृष्टि से नहीं। शुद्धदृष्टि से तो जीवतत्त्व अद्वैतरूप ही है, उसमें यह नौ अवस्थाओं का प्रतिभास प्रतीत होता नहीं। (107) (श्री राजमल्ल जी, पंचाध्यायी, भाग 2, गाथा 169)

* * *

जो नय आत्मा को बंधरहित और पर के स्पर्शरहित, अन्यपनारहित, चलाचलतारहित, विशेषरहित, अन्य के संयोग से रहित—ऐसे पाँच भावरूप में देखता है, उसे हे शिष्य! तू शुद्धनय जान। (108) (श्री कुंदकुंदाचार्य, समयसार गाथा 14)

* * *

जीव का कषायादिक जितना परिणाम है, वह सब चेतना को निमित्तभूत करके कर्म द्वारा उत्पन्न करने में आता है, जैसे कुम्हार का निमित्त पाकर मिट्टी के पिण्ड द्वारा घटादिक उत्पन्न करने में आता है। (109)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभूत, अधिकार 2, श्लोक 39)

* * *

जिस प्रकार सहकारिता के साथ घड़ा उत्पन्न करने पर भी कुम्हार कभी घड़ारूप होता नहीं, उसी प्रकार सहकारिता के साथ कषायादि करने पर भी जीव कभी कषायादिरूप होता नहीं। (110)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभूत, चूलिका अधिकार, श्लोक 57-58)

* * *

जिस प्रकार कीचड़ और जल दोनों एकमेक होने जैसे मालूम पड़ते हैं परन्तु शुद्ध जल की तरफ ही लक्ष्य करने पर कीचड़ लक्ष्यगत होता नहीं, कारण कि वास्तव में जल, कीचड़ से भिन्न है, उसी प्रकार जीव भी नवतत्त्वों में एकमेक जैसा मालूम पड़ता है परन्तु शुद्धजीव इन नवतत्त्वों से वास्तव में भिन्न है। (111)

(श्री राजमल्लजी पंचाध्यायी, भाग 2, गाथा 166)

* * *

“बन्ध हो, न हो (अर्थात् बन्धावस्था में या मोक्षावस्था में) समस्त विचित्र मूर्तद्रव्यजाल (अनेकविधिमूर्तद्रव्यों का समूह) शुद्ध जीव के रूप से व्यतिरिक्त है” ऐसा जिनदेव का शुद्धवचन बुद्धपुरुषों को कहते हैं। इस भुवनविदित सत्य को (इस जगतप्रसिद्ध सत्य को) हे भव्य! तू सदा जान। (112)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक 70)

* * *

जगत के प्राणियों! इस एक सम्यक्स्वभाव का अनुभव करो कि जहाँ यह बद्धस्पृष्ट आदि भाव स्पष्टपने से उस स्वभाव के ऊपर तैरते हैं तो भी (उसमें) प्रतिष्ठा पाते नहीं, कारण कि द्रव्यस्वभाव तो नित्य है, एकरूप है, और ये भाव अनित्य है, अनेकरूप है, पर्यायें द्रव्यस्वभाव में प्रवेश करती नहीं, ऊपर ही रहती हैं। यह शुद्धस्वभाव सर्वावस्थाओं में प्रकाशमान है। ऐसे शुद्ध स्वभाव का जगत मोहरहित होकर अनुभव करो, कारण कि मोहकर्म के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वरूप अज्ञान जहाँ तक रहता है, वहाँ तक यह अनुभव यथार्थ होता नहीं। (113)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका कलश 11)

* * *

यद्यपि ‘शरीर-सुख-दुःख, राग-द्वेष संयुक्त जीव’—ऐसा कहा जाता है तो भी चेतनद्रव्य ऐसा जीव तो शरीर नहीं, जीव तो मनुष्य नहीं, जीव चेतनास्वरूप भिन्न है। भावार्थ यह है कि आगम में गुणस्थानों का स्वरूप कहा है, वहाँ ‘देव जीव, मनुष्य जीव, रागी जीव, द्वेषी जीव’ इत्यादि बहुत प्रकार कहा है; परन्तु वह सब कहना व्यवहारमात्र है; द्रव्यस्वरूप देखने पर ऐसा कहना झूठ है। (114)

(श्री राजमल्लजी, कलश-टीका, कलश-40)

* * *

वस्तु को भेदरूप तो सर्वलोक जानता है—और जो जानता है, वह ही प्रसिद्ध है, इसी से तो लोक पर्यायबुद्धि है। अर्थात् जीव को नर-नारकादि पर्यायें हैं, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादि पर्यायें हैं तथा ज्ञान के भेदरूप मतिज्ञानादि भी पर्यायें हैं, इन सब पर्यायों को ही लोक जीव मानता है। इससे उन पर्यायों में अभेदरूप अनादि, अनंत एकभावरूप चेतनाधर्म को ग्रहण करके, उसे निश्चयनय का विषय कहके जीवद्रव्य का ज्ञान कराया और पर्यायाश्रित भेदनय को गौण किया, अभेददृष्टि में वह (भेदनय) दिखता ही नहीं, इससे अभेदनय का दृढ़ श्रद्धान कराने के लिए कहा कि-पर्यायनय है, वह व्यवहार है-अभूतार्थ है-असत्यार्थ है। (115)

(श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-312 के भावार्थ में से)

* * *

जिस प्रकार लोक में यह तृणाग्नि है, यह काष्ठाग्नि है, यह कण्डे की अग्नि है और यह पाषाणाग्नि है, इत्यादि रूप अग्नि को कहने में आता है, परन्तु वास्तव में वह अग्नि, तृण, काष्ठ और पत्थर आदिरूप हो जाती नहीं, कारण कि वह उनसे वस्तुपने भिन्न है। उसी प्रकार जीव भी नवतत्त्वों में देखने में आता है परन्तु वह वस्तुतः नवतत्त्वरूप हो जाता नहीं। (116) (श्री राजमल्लजी, श्री पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-167 का भावार्थ)

* * *

अहो ज्ञानीजनों! ये वर्णादिक से लेकर गुणस्थान पर्यंत भाव हैं, वे सब एक पुद्गल की ही रचना जानो; क्योंकि यह भाव पुद्गल ही है, आत्मा नहीं है; कारण कि आत्मा तो विज्ञानधन है, ज्ञान का पुंज है, इसलिए यह वर्णादिक भावों से अन्य ही है। (117)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार-टीका, कलश-39)

* * *

सम्यग्ज्ञान का आभूषण ऐसा यह परमात्मतत्त्व समस्त विकल्प समूहों से सर्वतः मुक्त (सर्व ओर से रहित) है। ऐसा सर्व नयसमूह सम्बन्धी यह प्रपंच परमात्मतत्त्व में नहीं तो फिर वह ध्यानावली इसमें किस प्रकार उपजी, (अर्थात् ध्यानावली परमात्मतत्त्व में कैसे हो सकती है), वह कहो ?। (118)

(श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार-टीका, श्लोक-120)

* * *

कोई प्रश्न करे कि-रागादि जीव के भाव हैं और परभाव स्पर्शादिक हैं, तो रागादि को परभाव क्यों कहा ? उसका समाधान-शुद्ध निश्चयनय से रागादि जीव के नहीं। ये भी पर हैं। कैसे ? कि ये भावकर्म हैं, उनके नाश से मोक्ष है। पर हैं, तो छूटते हैं; इसलिए उन्हें पर ही कहना चाहिए। जब यह जीव रागादिक को अपना नहीं माने, तब भवबंध पद्धति मिटे, इसलिए पर-रागादि छोड़कर शुद्धदर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, इन्हें स्व जानकर, ग्रहण करें, यही मोक्ष का मूल है। परिणाम जैसा करो, उसी प्रकार होता है; इसलिए पर तरफ से छोड़कर स्वरूप में ध्यान लगाते ही निजपरिणाम है। (119)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ 69)

* * *

जीवद्रव्य का स्वभाव महिमा अर्थात् स्वरूप की महिमा सबसे उत्कृष्ट है। कैसी है महिमा ? आश्चर्य से आश्चर्यरूप है। वह आश्चर्य क्या है ? विभावपरिणाम शक्तिरूप विचारने पर मोह, राग, द्वेष का उदय होकर स्वरूप से भ्रष्ट होकर परिणमता है, ऐसा प्रगट ही है; जीव का शुद्धस्वरूप विचारने पर चेतनामात्र स्वरूप है, रागादि अशुद्धपना विद्यमान ही नहीं है। (120)

(श्री राजमल्लजी, कलश टीका, कलश-274)

* * *

देखो ! आकाश में एक चंद्र है, एक उसका निमित्त पाकर के पानी की स्वच्छता विकाररूप चंद्र है। और एक लाल रंग है, और (इस तरफ) एक उसका निमित्त पाकर के स्फटिक की स्वच्छता विकाररूप लाल है। और एक मोर स्कंध है, और (इस तरफ) एक उसका निमित्त पाकर के दर्पण की स्वच्छता विकाररूप मोर है। उसी प्रकार गुणस्थान, मार्गणादि एक पुद्गलस्कंधरूप संसार है, और (इस तरफ) एक उसका निमित्त पाकर के जीव की स्वच्छ विकाररूप चेतना-संसार है। (121)

(श्री दीपचंद्रजी, आत्मावलोकन, पृष्ठ 121)

* * *

जैसे वास्तव में स्वयं ही एकरसवाली नमक की डली नाना प्रकार के व्यंजनों में (शाकों में) मिलने पर भी भिन्न रसवाली हो जाती नहीं, उसी ही प्रकार जीव स्वयं ही अद्वैतरूप होकर के सर्वावस्थाओं में चिदात्मक ही है, वह परद्रव्य के संयोग-वियोग

पूर्वक होनेवाले जीवादि नवतत्त्वों में विमिश्रित होकर के भी अशुद्ध-द्वैतरूप हो नहीं जाता। (122) (श्री राजमल्लजी, श्री पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-172)

* * *

आत्मा से भिन्न जो अजीव पदार्थ है, उसके लक्षण दो तरह से है; एक जीवसम्बन्धी, दूसरा अजीवसम्बन्धी। जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूप है, वह तो जीव सम्बन्धी है और पुद्गलादि पाँच द्रव्यरूप अजीव, जीवसम्बन्धी नहीं है, अजीवसम्बन्धी ही है, इसलिए अजीव है, जीव से भिन्न है। इस कारण जीव से भिन्न अजीवरूप जो पदार्थ हैं, उनको अपने मत समझो। यद्यपि रागादिक विभावपरिणाम जीव में ही उपजते हैं, इससे जीव के कहे जाते हैं, परन्तु वे कर्मजनित हैं, परपदार्थ (कर्म) के सम्बन्ध से है, इसलिए पर ही समझो। (123) (श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-30)

* * *

जैसे अन्य धातुओं के संयोग से सुवर्ण में अनेक प्रकार के रूप दिखाई देते हैं, परन्तु यदि परसंयोग से होनेवाली उन सुवर्ण की अवस्थाओं पर ध्यान नहीं देकर उस सुवर्ण को ही देखा जाये तो वह स्वर्ण, शुद्ध स्वर्ण ही प्रतीत होता है; उसी प्रकार जीव भी विकार के कारण से अजीव, आस्रवादि पदार्थों में अशुद्धरूप से देखने में आता है, परन्तु यदि उस विकार की उपेक्षा करके उसे देखने में आवे तो वह जीव शुद्ध ही प्रतीत होता है। (124) (श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-158 का भावार्थ)

* * *

जीव गति आदि अवस्था—निगोद से लेकर अन्त अवस्था—सिद्धपर्याय तक अपने परिपूर्ण स्वभाव से संयुक्त है, परद्रव्यों की कल्पना से रहित है, सदैव एक चैतन्यरस से सम्पन्न है, ऐसा शुद्धनय की अपेक्षा से जिनवाणी में कहा है। (125)

(पण्डित बनारसीदासजी, नाटक समयसार, जीवद्वार, पद-11)

* * *

प्रश्न:—साम्प्रत (हाल में) जीवद्रव्य रागादि अशुद्ध चेतनारूप से परिणमा है, वहाँ तो ऐसा प्रतिभासित होता है कि ज्ञान क्रोधरूप परिणमा है, इसलिए ज्ञान भिन्न,

क्रोध भिन्न—ऐसा अनुभव करना बहुत ही कठिन है। उत्तर इस प्रकार है कि सत्य ही कठिन है, परन्तु वस्तु का शुद्धस्वरूप विचारने पर भिन्नपनेरूप स्वाद आता है। कैसा है भिन्नपना? 'कर्म का कर्ता जीव' ऐसी भ्रान्ति, उसे मूल से दूर करता है। दृष्टान्त कहते हैं—जैसे अग्नि और पानी का उष्णपना और शीतलपने का भेद निजस्वरूपग्राही ज्ञान से प्रगट होता है उसी प्रकार। (126) (श्री राजमलजी, कलशटीका, कलश-60)

* * *

शिष्य पूछता है:—राग, द्वेष आदि कर्मजनित हैं या जीवजनित हैं?

उसका उत्तर:—स्त्री और पुरुष इन दोनों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले पुत्र की भाँति, चूना और हल्दी के मिश्रण से उत्पन्न होनेवाले वर्ण विशेष की भाँति, राग-द्वेष आदि जीव और कर्म, इन दोनों के संयोगजनित हैं। नय की विवक्षा प्रमाण, विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनय से राग-द्वेष कर्मजनित कहे जाते हैं और अशुद्धनिश्चयनय से जीवजनित कहे जाते हैं। यह अशुद्धनिश्चयनय शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार ही है।

प्रश्न:—साक्षात् शुद्धनिश्चयनय से यह राग-द्वेष किसके हैं, ऐसा हम पूछते हैं?

उत्तर:—साक्षात् शुद्धनिश्चय से, स्त्री और पुरुष के संयोगरहित पुत्र की भाँति, चूना और हल्दी के संयोग रहित रंग विशेष की भाँति, उनकी (राग-द्वेषादि की) उत्पत्ति ही नहीं है, तो किस प्रकार उत्तर दें? (127)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-48 की टीका में से)

* * *

अज्ञानी जीव कर्मकृत बाह्य विकार में भी निरन्तर 'मैं हूँ', ऐसा मानता है। ठीक है—जिसने धतूरे का फल खाया हो, वह क्या पत्थर को भी स्वर्ण नहीं मानता? मानता ही है। (128) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, निश्चय पंचाशत, श्लोक-31)

* * *

अहो! आत्मा का वह यह सहज अद्भुत वैभव है कि—एक ओर से देखने पर

वह अनेकता को प्राप्त है और एक ओर से देखने पर सदा ही एकता को धारण करता है, एक ओर से देखने पर क्षणभंगुर है और एक ओर से देखने पर सदा उसका उदय होने से ध्रुव है, एक ओर से देखने पर परम विस्तृत है और एक ओर से देखने पर अपने प्रदेशों से ही धारण कर रखा हुआ है। (129)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, श्लोक-273)

* * *

जो जीव पर्यायों में लीन है, उन्हें परसमय कहा गया है; जो जीव आत्मस्वभाव में स्थित है, वे स्वसमय जानना। (130)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार, गाथा-94)

* * *

स्वज्ञेय आत्मा है और परज्ञेय आत्मा के अतिरिक्त जगत के सर्व पदार्थ हैं, जिसने यह स्वज्ञेय और परज्ञेय की उलझन (पहेली) समझ ली है, उसने सब ही जान लिया है, ऐसा समझो। (131)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, साध्यसाधक द्वार, पद-47)

* * *

परद्रव्य की चिन्ता में मग्न रहनेवाला आत्मा, परद्रव्य जैसा हो जाता है और शुद्ध आत्मा के ध्यान में मग्न आत्मा शीघ्र आत्मतत्त्व को—स्वयं के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। (132)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, गाथा-51)

* * *

शुद्ध आत्मा को जानता-अनुभवता जीव शुद्धात्मा को ही पाता है और अशुद्धात्मा को जानता अनुभवता जीव अशुद्धात्मा को ही पाता है। (133)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-186)

* * *

जीव शुद्ध निश्चयनय से शुद्धात्मा का ध्यान करता हुआ, शुद्ध ही आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है तथा व्यवहारनय का अवलम्बन लेकर के अशुद्धात्मा का विचार करता हुआ अशुद्ध ही आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है। ठीक है—मनुष्य सोने में से

सोनामय कुण्डल और लोहे में से लोहामय कुण्डल ही उत्पन्न करता है। (134)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, निश्चय पंचाशत, श्लोक-18)

* * *

हे जीव! शुद्धनय से सब जीव शुद्ध ही हैं—ऐसा जानकर तू कभी भी शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना को न छोड़। वास्तव में शुद्धनय का सेवन करनेवाला जीव सदा शुद्ध रहा करता है। (135)

(श्री नैमिश्वर-वचनामृत-शतक, श्लोक-16)

* * *

अशुद्ध संसारभाव में जीव के परिणाम ही व्याप्य-व्यापक होते हैं। इससे उस परिणाम को ही निश्चय से अशुद्धभाव का कर्ता कहने में आता है। भले निश्चय से द्रव्य को संसार का कर्ता कहने में आवे तो भी कोई दोष नहीं परन्तु ज्ञानदृष्टि में जीवद्रव्य को संसार का अकर्ता सदा समझना चाहिए। (136)

(श्री दीपचन्द्रजी, आत्मावलोकन, पृष्ठ-124)

* * *

यह चैतन्य आत्मा का स्वरूप वास्तव में ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म से भिन्न, रागादि भावकर्मों से रहित और शरीरादि नोकर्म से रहित है, उसे यथार्थरूप से जानना चाहिए। (137)

(परमानन्दस्तोत्र, श्लोक-8)

* * *

बँधा होवे, वह छूटे; इसलिए बँधे को तो मोक्ष कहना ठीक है, और बँधा ही न हो, उसे छूटे कैसे कह सकते हैं? उसी प्रकार यह जीव शुद्ध निश्चयनयकर बँधा हुआ नहीं है, इस कारण से मुक्त कहना ठीक नहीं है। बन्ध भी व्यवहारनयकर है और मुक्ति भी व्यवहारनयकर है, शुद्ध निश्चयनयकर न बन्ध है, न मोक्ष है और अशुद्धनयकर बन्ध है, इसलिए बन्ध के नाश का यत्न भी अवश्य करना चाहिए। यहाँ यह अभिप्राय है कि सिद्ध समान यह अपना शुद्धात्मा वीतराग निर्विकल्प-समाधि में लीन पुरुषों को उपादेय है, अन्य सब हेय हैं। (138)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार 1, गाथा - 68)

* * *

अनेक प्रकार के विलासवाले कर्मों के साथ मेरी एकता होने पर भी जो उत्कृष्ट ज्योति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उत्कृष्ट आनन्दस्वरूप है, वही मैं हूँ, उसके अतिरिक्त मैं दूसरा नहीं, ठीक भी है—स्फटिकमणि में काले पदार्थ के सम्बन्ध से कालिमा उत्पन्न होने पर भी वह उस मणि से भिन्न ही होती है। कारण यह है कि लोक में जो कोई विकार होता है, वह दो पदार्थों के निमित्त से ही होता है। (139)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दिपंचविंशति, परमार्थ विंशति, श्लोक-7)

* * *

यदि कोई अर्धक्षण भी परमात्मा से प्रीति करता है, वह सब पाप को उसी तरह जला देता है, जैसे काठ के पर्वत को आग भस्म कर देती है। हे जीव! सर्व चिन्ता छोड़कर तू निश्चिन्त होकर अपने चित्त को परमात्मा के पद में जोड़ और निरंजन शुद्ध आत्मरूपी देव का दर्शन कर। ध्यान करते हुए शुद्धात्मा के दर्शन या अनुभव से जो परमानन्द। हे भाई! तू पावेगा, वह अनन्त सुख ही परमात्मा देव को छोड़कर और कहीं तीन लोक में नहीं मिल सकता। (140)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड़, भाग-2, पृष्ठ-177)

* * *

आत्मा आत्मा में निज आत्मिक गुणों से समृद्ध आत्मा को एक पंचम भाव को जानता है, उसे देखता है, वह सहज एक पंचम भाव को उसने छोड़ा नहीं ही और अन्य ऐसे परभाव को जो कि वास्तव में पौद्गलिक विकार है, उसे वह ग्रहण करता ही नहीं। (141)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार-टीका, श्लोक-129)

* * *

जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूप से और अचलरूप से ज्ञानस्वरूप होता हुआ-परिणमता हुआ भासित होता है, वही मोक्ष का हेतु है, क्योंकि वह स्वयं भी मोक्षस्वरूप है; उसके अतिरिक्त जो अन्य कुछ है, वह बन्ध का हेतु है, क्योंकि वह स्वयं भी बन्धस्वरूप है, इसलिए ज्ञानस्वरूप होने का (ज्ञानस्वरूप परिणमने का) अर्थात् कि अनुभूति करने का ही आगम में विधान अर्थात् फरमान है। (142)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, श्री समयसार टीका, कलश-105)

* * *

जो जीव आत्मा को निरन्तर कर्म से बँधा हुआ देखता है, वह कर्म से बँधा हुआ ही रहता है। परन्तु जो उसे मुक्त देखता है, वह मुक्त हो जाता है। ठीक है—मुसाफिर जिस नगर के मार्ग में चलता है, उस नगर में वह पहुँचता है। (143)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दिपंचविंशति, निश्चय पंचाशत, श्लोक-48)

* * *

अपने आत्मारूपी कमल में रुचि या प्रीति वही कारण है, वही कार्य है। आत्मरुचि से ही प्रतीति गाढ़ होती जाती है। चतुर्थ गुणस्थान में जो आत्मरुचिरूप सम्यग्दर्शन है, वही बढ़ते-बढ़ते श्रुतकेवली मुनि को अवगाढ़ सम्यक्त्व हो जाता है। आत्मरुचि ही दातार है, आत्मरुचि ही पात्र है। आपसे आपको मनन करने से आत्मा का स्वभाव पुष्ट होता जाता है। आत्मा की गाढ़ रुचि के समान कोई दातार नहीं है। सम्यग्दर्शन ही आत्मानन्द प्रदान करता है, आत्मा को पुष्ट करते-करते उसको सिद्ध बना देता है। (144)

(श्री तारणस्वामी, ममल पाहुड़, भाग-1, पृष्ठ-90)

* * *

जो मोक्ष का किञ्चित् कथनमात्र (कहनेमात्र) कारण है, उसे भी (अर्थात्-व्यवहाररत्नत्रय को भी) भवसागर में डूबे हुए जीव ने पूर्व में भव-भव में (-बहुत भवों में) सुना है और आचरा (अमल में लाया) है। परन्तु अरे रे! खेद है कि जो सर्वदा एक ज्ञान है, उसे (अर्थात् जो सदा एक ज्ञानस्वरूप ही है, ऐसे परमात्मतत्त्व को) जीव ने सुना-आचरा नहीं, नहीं। (145)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार-टीका, श्लोक-121)

* * *

निर्मल सम्यग्दर्शन किसी दोष की तरफ दृष्टि नहीं रखता है, वह सकल दोषों से रहित परमात्मा को श्रद्धापूर्वक देखता है। तीन प्रकार के कर्मों पर दृष्टि नहीं रखता है। (146)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-253)

* * *

बहुत कहने से और बहुत दुर्विकल्पों से बस होओ, बस होओ, बस होओ।

यहाँ इतना ही कहना है कि इस परमार्थ को एक को ही निरन्तर अनुभव करो। क्योंकि निजरस के फैलाव से पूर्ण जो ज्ञान, उसके स्फुरायमान होनेमात्र जो समयसार (-परमात्मा) उससे ऊँचा वास्तव में दूसरा कोई भी नहीं है। (समयसार के अतिरिक्त दूसरा कोई भी सारभूत नहीं है)। (147)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार-टीका, कलश-244)

* * *

यहाँ कोई जानेगा कि शुभ-अशुभ क्रियारूप जो आचरणरूप चारित्र है, वह करनेयोग्य नहीं, उसी प्रकार वर्जनयोग्य भी नहीं। उत्तर इस प्रकार है कि वर्जनयोग्य है, क्योंकि व्यवहारचारित्र होता हुआ दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है; इसलिए विषय-कषाय की भाँति क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है, ऐसा कहते हैं—शुभ-अशुभरूप करतूत (कृत्य) निषेध्य है अर्थात् त्यजनीय है। (148) (श्री राजमलजी, कलश-टीका, कलश-108)

* * *

जो अजीवतत्त्व को, कि जो जीवतत्त्व से विधि द्वारा विभक्त है, उसे यथार्थरूप से जानते नहीं, वे चारित्रवान होने पर भी—चारित्र का अनुष्ठान करने पर भी वे विभक्त-शुद्ध और निर्मल आत्मा को प्राप्त नहीं होते कि जो दोषों से रहित है। (149)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, अजीव अधिकार, गाथा-50)

* * *

जैसे दुष्कार्य के उत्पादक हेतु को दुष्ट कहते हैं, उसी प्रकार अनिष्ट फलदायी होने से व्रत क्रिया, इष्टार्थरूप नहीं, परन्तु अनिष्टार्थ ही है। (150)

(श्री राजमल्लजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-568)

* * *

जिसके भीतर ज्ञानस्वभावी आत्मा का प्रकाश नहीं है। उसका व्रत करना, तप पालना, क्रिया करना, उपसर्ग सहना निष्फल है। आत्मज्ञान स्वभाव के प्रकाश बिना अन्य अनेक प्रकार सर्व ही चारित्र निन्दा के योग्य है। (151)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-227)

* * *

पुण्य-पाप के कारण से संसार-वन में प्रवेश होता है, यह देखनेवाला जो-जो शुद्ध बुद्धि है, वह पुण्य-पाप के भेद नहीं करते;—दोनों को संसार-वन में भ्रमण कराने की दृष्टि से समान समझते हैं। (152)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, बन्धाधिकार, गाथा-40)

* * *

पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है, ऐसा जो नहीं मानता, वह मोहाच्छादित वर्तता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है। (153)

(श्री कुन्दकुन्द आचार्य, प्रवचनसार, गाथा-77)

* * *

जितना शुभ-अशुभ क्रियारूप आचरण अथवा बाह्यरूप वक्तव्य अथवा सूक्ष्म अन्तरंगरूप चिन्तवन, अभिलाष, स्मरण इत्यादि है, वह समस्त अशुद्धत्वरूप परिणमन है, शुद्ध परिणमन नहीं; इसीलिए बन्ध का कारण है; मोक्ष का कारण नहीं। इसीलिए जैसे कम्बल का सिंह कहने का सिंह है, उसी प्रकार आचरणरूप (क्रियारूप) चारित्र कहने का चारित्र है, परन्तु चारित्र नहीं, निःसन्देहरूप से ऐसा जानो। (154)

(श्री राजमलजी, कलश-टीका, कलश-107)

* * *

बुद्धि की मन्दता से ऐसी आशंका नहीं करना कि शुभोपयोग एकदेश से भी निर्जरा का कारण होता है। क्योंकि शुभोपयोग, अशुभ को लानेवाला होने से वह निर्जरादिक का हेतु नहीं हो सकता तथा न तो वह शुभ भी कहा जा सकता है। (155)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-762)

* * *

जिस प्रकार चन्दन से उत्पन्न हुई अग्नि भी अवश्य जलाती है, उसी प्रकार धर्म से उत्पन्न (प्राप्त) हुए भोग भी अवश्य दुःख प्रदान करते हैं। (156)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, अधिकार-9, गाथा-25)

* * *

जिसे रागरेणु की कणिका भी हृदय में जीवित है, वह भले समस्त सिद्धान्त सागर

का पारगामी हो, तथापि निरूपराग—शुद्धस्वरूप स्वसमय को वास्तव में चेतता (अनुभवता) नहीं है। इसलिए 'पिंजण से चिपकी हुई रुई', का न्याय लागू पड़ता होने से, जीव को स्वसमय की प्रसिद्धि के लिये अरहन्तादि विषयक भी रागरेणु (अरहन्तादि के प्रति भी रागरज) क्रम से दूर करनेयोग्य है। (157)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पंचास्तिकाय टीका, गाथा-167)

* * *

समस्त सुकृत (शुभकर्म) भोगियों के भोग का मूल है; परम तत्त्व के अभ्यास में निष्णात चित्तवाले मुनिश्वर भव से विमुक्त होने के लिये उस समस्त शुभ कर्म को छोड़ो और सारतत्त्वरूप ऐसे उभय समयसार को भजो, उसमें क्या दोष है? (158)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-59)

* * *

हे जीव! यदि तू आत्मा को नहीं जानेगा और सब पुण्य ही पुण्य करता रहेगा, तो भी तू सिद्ध सुख को नहीं पा सकता, किन्तु पुनः पुनः संसार में ही भ्रमण करेगा। (159)

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-15)

* * *

अरहन्त, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन, मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका और ज्ञान में जो पुरुष अत्यन्त भक्ति रखता है, उसे बहुत ही पुण्य का संचय होता है, (परन्तु) वह पुरुष कर्म का क्षय नहीं करता अर्थात् उस पुरुष को इन कार्यों से शुभ उपयोग होकर पुण्यास्त्रव ही होता है। अरहन्तादि की भक्ति मोक्ष के लिये कारण नहीं होती, क्योंकि उन कार्यों से शुद्धोपयोग नहीं होता। (160)

(श्री कुन्दकुन्द आचार्य, मूलाचार, पंचाचार अधिकार, गाथा-62)

* * *

सर्वज्ञ वीतराग, जितनी शुभरूप व्रत, संयम, तप, शील, उपवास इत्यादि क्रिया अथवा विषय-कषाय असंयम इत्यादि क्रिया, उसे एक सरीखी दृष्टि से बन्ध का कारण कहते हैं। (161)

(पण्डित श्री राजमलजी, कलश-टीका, कलश-103)

* * *

जो महानुभाव अपने स्वरूप का ध्यान न करके, पंच परमेष्ठी के स्वरूप का ध्यान करते हैं, उन्हें उत्कृष्ट पुण्य का बन्ध तो होता है, परन्तु कर्मों का क्षय नहीं होता।
(162) (श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, अधिकार-1, गाथा-48)

* * *

हे जिनवर! जब तक देह में रहे हुए जिन को नहीं जाना, तब तक तुझे नमस्कार किया, परन्तु यदि देह में ही रहे हुए जिन को जान लिया तो फिर कौन किसे नमे ?
(163) (मुनिवर रामसिंह, पाहुड़ दोहा, गाथा-141)

* * *

परद्रव्य से दुर्गति होती है और स्वद्रव्य से सुगति होती है। यह स्पष्ट (प्रगट) जानो, इसलिए हे भव्य जीवो! तुम इस प्रकार जानकर स्वद्रव्य में रति करो और अन्य जो परद्रव्य, उनसे विरति करो। (164) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्षपाहुड़, गाथा-16)

* * *

जिनेन्द्र भगवान ने शुभराग को कहा है, जहाँ आत्मा परम शुद्धात्म के स्वरूप में प्रसन्न होता है, संसार के मार्ग से विरक्त होने का राग होता है, व जहाँ मुक्ति प्राप्ति के ज्ञान की अनुमोदना का राग होता है। (165) (तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-120)

* * *

यथार्थपने की अपेक्षा से तो ज्ञानी को ही सच्ची भक्ति है, अज्ञानी को नहीं तथा रागभाव की अपेक्षा से, भक्ति को मुक्ति का कारण जानने से अज्ञानी के श्रद्धान में अति अनुराग है, परन्तु ज्ञानी के श्रद्धान में उसे शुभबन्ध का कारण जानने से वैसा अनुराग नहीं। (166) (श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार 7, पृष्ठ-227)

* * *

जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए शुद्धरत्नत्रयमयी निज आत्मिक धर्म का राग ही कि यह अपना आत्मा परमात्मातुल्य है, इसे परमात्मा के रूप में करने का चाहिए, ऐसा रागमयी लोभ जो किया जाता है, वह लोभ मोक्षगामी जीवों के होता है। (167)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञान समुच्चयसार, श्लोक-119)

* * *

पुण्यकर्म है, वह सांसारिक अभ्युदय को देता है। अब उससे (दसलक्षण धर्म से) व्यवहार अपेक्षा से पुण्य का भी बन्ध होता है, तो वह स्वयमेव ही होता है, परन्तु उसकी वांछा करना, वह तो संसार की ही वांछा करने तुल्य है, और वह तो निदान हुआ, मोक्ष के जिज्ञासु को वह नहीं होता। जैसे किसान अनाज के लिये खेती करता है, उसे घास तो स्वयमेव होती है, उसकी वांछा वह किसलिए करे? उसी प्रकार मोक्ष के अर्थी को पुण्यबन्ध की वांछा करना योग्य नहीं है। (168)

(श्री स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-408, भावार्थ में से)

* * *

साक्षात् मोक्ष में अग्रेसर वास्तव में वीतरागता है। इसलिए वास्तव में अरहन्त आदिगत राग को भी, चन्दनवृक्षसंगत अग्नि की भाँति, देवलोकादि के क्लेश की प्राप्ति द्वारा अत्यन्त अन्तर्दाह का कारण समझकर, साक्षात् मोक्ष का अभिलाषी महाजन सबके प्रति राग को छोड़कर, अत्यन्त वीतराग होकर, जिसमें खलबलाते दुःख-सुख की कल्लोलें उछलती हैं और जो कर्माग्नि द्वारा तप्त, कलकलाहटवाले जल समूह की अतिशयता से भयंकर है, ऐसे भवसागर को पार उतरकर, शुद्धस्वरूप परमामृत समुद्र को अवगाहकर, शीघ्र निर्वाण को पाता है। (169)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पंचास्तिकाय-टीका, गाथा-172)

* * *

मोह के उदय से उत्पन्न हुई मोक्षप्राप्ति की भी अभिलाषा, वह मोक्ष की प्राप्ति में विघ्न डालनेवाली बनती है, तो फिर भला, शान्त मोक्षाभिलाषी जीव दूसरी किस वस्तु की इच्छा करे? किसी की भी नहीं। (170)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दिपंचविंशति, एकत्व समतति, श्लोक-53)

* * *

सम्यग्दृष्टि की अभिलाषा भोगों में ही मात्र निषेधरूप है, ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि सम्यग्दृष्टि को भोगाभिलाषा की भाँति शुद्धोपलब्धि के सम्बन्ध में भी जो अभिलाषा होती है, वह भी निषेधरूप है। (171)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-436)

* * *

जैसे परद्रव्य में राग को कर्मबन्ध का कारण पहले कहा, वैसे ही रागभाव यदि मोक्ष के निमित्त भी हो तो आस्रव का ही कारण है, कर्म का बन्ध ही करता है। इस कारण से जो मोक्ष को परद्रव्य की तरह इष्ट मानकर वैसे ही रागभाव करता है तो वह जीव मुनि भी अज्ञानी है, क्योंकि वह आत्मस्वभाव से विपरीत है, उसने आत्मस्वभाव को नहीं जाना है। (172) (श्री कुन्दकुन्द आचार्य, मोक्षपाहुड़, गाथा-55)

* * *

निश्चयदृष्टि से देखने पर एक शुद्धोपयोग ही उपादेय है; शुभ-अशुभ सर्व विकल्प त्याज्य है, तथापि वैसी तथारूप दशा-सम्पन्नता प्राप्त न हो, वहाँ तक उसी दशा की प्राप्ति के लक्ष्यपूर्वक प्रशस्त योग प्रवृत्ति उपादेय है अर्थात् शुभवचन, शुभ अन्तःकरण और शुभ कार्य-परिस्थिति आदरणीय है, प्रशंसनीय है। परन्तु मोक्षमार्ग का साक्षात् विघातकरूप अशुभोपयोगरूप तो सर्वथा त्याज्य है। यद्यपि शुभोपयोग मोक्षमार्ग में साक्षात् कारण नहीं, तथापि शुद्धोपयोग के प्रति वृत्ति का प्रवाह किसी एक अंश में लक्षित हुआ है, वैसे लक्ष्यवाले जीव को परम्परा से कारणरूप होता है। (173)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-249)

* * *

जिस प्रकार कोई पुरुष दर्पण को देखकर फिर (उस ओर) अपने मुख का रूप निःशंकरूप से देखता है, इसी प्रकार स्वयं सरागी होने पर भी वीतराग प्रतिबिम्ब को देखकर फिर (इस ओर) निश्चय से उसी वीतरागस्वरूप में स्वयं ही हूँ, ऐसा निःसन्देहरूप से जानता है। (174) (श्री दीपचन्द्रजी, आत्मावलोकन, श्लोक-1)

* * *

जब तक शुद्ध उपयोग में ही लीन न हो जाये, तब तक श्रमण को आचरण की सुस्थिति के लिये उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री साधना चाहिए। उसे अपनी निर्बलता का ख्याल रखे बिना मात्र उत्सर्ग का आग्रह रखकर केवल अति कर्कश आचरण की हट नहीं करना चाहिए तथा उत्सर्गरूप ध्येय का चूककर अकेले अपवाद के आश्रय से केवल मृदु आचरणरूप शिथिलता भी नहीं सेवन करना चाहिए। हठ भी न हो और शिथिलता भी सेवन न हो, ऐसे वर्तना चाहिए। सर्वज्ञ भगवान का मार्ग अनेकान्त है।

अपनी दशा जाँचकर जिस प्रकार से भी लाभ हो, उस प्रकार से वर्तने का भगवान का उपदेश है। अपनी चाहे जो (सबल या निर्बल) स्थिति हो तो भी एक ही प्रकार से वर्तना, ऐसा जिनमार्ग नहीं है। (175) (श्री प्रवचनसार, गाथा-231 का भावार्थ)

* * *

जब तक यथार्थ ज्ञान श्रद्धान की प्राप्ति रूपी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हुई हो, तब तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है, ऐसे जिनवचनों का सुनना, धारण करना, तथा जिनवचनों को कहनेवाले श्री जिन-गुरु की भक्ति, जिनबिम्ब के दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान् है। (176) (श्री समयसार, गाथा-12 के भावार्थ में से)

* * *

व्यवहार में स्थित हम भक्ति में तत्पर होकर जिनदेव, जिनप्रतिमा, गुरु, मुनिजन और शास्त्र आदि सर्व को मानते हैं। परन्तु निश्चय से अभेद (अद्वैत) का आश्रय लेने से प्रगट हुए चैतन्य गुण से प्रकाश में आयी हुई बुद्धि के विस्ताररूप तेज सहित हमारे लिये केवल आत्मा ही उत्कृष्ट तत्त्व रहता है। (177)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दिपंचविंशति, परमार्थ विंशति, श्लोक-12)

* * *

यह (प्रशस्त राग) वास्तव में, जो स्थूल लक्ष्यवाला होने से केवल भक्ति प्रधान है, ऐसे अज्ञानी को होता है, ऊपर की भूमिका में (-ऊपर के गुणस्थानों में) स्थिति प्राप्त न की हो तब, अस्थान का राग मिटाने के अर्थ अथवा तीव्र राग ज्वर हटाने के अर्थ, कदाचित् ज्ञानी को भी होता है। (178) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, पंचास्तिकाय टीका, गाथा-136)

* * *

कषायें बहुत पतली हुई, तथापि अपने ही साथियों के साथ मत्सरता प्रायः सर्व के हृदय में रहा करती है। वह मात्सर्यभाव सहज छूट नहीं सकता, इसलिए वह दुर्जय है। सहाध्यायी सहधर्मी के प्रति मत्सरता का—अदेशकता का विजय, वही एक महान कषाय-दावानल की विजय है। नहीं समझ में आता कि अपने ही सहाध्यायी सहधर्मी मित्रों के प्रति ऐसा मात्सर्य अर्थात् अदेशकभाव क्यों वर्तता होगा? परन्तु अहो अज्ञान!

तेरा माहात्म्य कोई अकथ्य है। (179) (श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-२१५)

* * *

वाद-प्रवाद आदि को छोड़कर अध्यात्म का—आत्मा के परमरूप का चिन्तन करना चाहिए। अन्धकार का समूह नाश पाये बिना ज्ञेय ज्ञान में प्रवर्तता नहीं। वाद-प्रवादादि सब अन्धकार है कि जो शुद्धात्मा के चिन्तन में बाधक है। (180)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, मोक्ष अधिकार, गाथा-38)

* * *

हे जिनेन्द्रदेव ! मेरा आत्मा प्राणियों के प्रति निर्वेरबुद्धि, गुणीजनों के प्रति प्रमोदभाव, दुःखी जीवों के प्रति करुणाभाव और विपरीत वृत्तिवाले जीवों के प्रति माध्यस्थभाव निरन्तर धारण करो। (181)

(श्री अमितगति आचार्य, सामायिक पाठ, श्लोक-1)

* * *

जो साधु-स्वभावी पुरुष उन व्यक्तियों को भी क्षमा कर देते हैं, जिन्होंने उनके प्रति अक्षम्य अपराध किये थे, उन सज्जन प्राणियों को ही विवेकी महानुभाव क्षमाशील कहते हैं। (182)

(श्री जटासिंहनन्दि आचार्य, वरांग चरित्र, सर्ग-21, श्लोक-16)

* * *

जो स्वशरीर के पोषण के लिये अथवा शिष्यादि के मोह से सावद्य को इच्छता नहीं, उसे तो वैयावृत्यादिक में भी सावद्य को नहीं इच्छना, वह शोभास्पद है, परन्तु जो अन्यत्र तो सावद्य को इच्छता है, परन्तु अपनी अवस्था के योग्य वैयावृत्यादि धर्मकार्य में सावद्य को इच्छता नहीं, उसे तो सम्यक्त्व ही नहीं। (183)

(श्री जयसेन आचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-250)

* * *

जब भाग्योदय से परमगुरु का लाभ होता है, तब वे दया के सागर परमात्मा का स्वभाव उत्तम प्रकार से दर्शाते हैं, वे बताते हैं कि यह आत्मा निश्चय से शुद्धात्मा है; वे गुरु कर्ममल रहित परमात्मा का स्वरूप झलका देते हैं। (184)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-24)

* * *

जीव का निज स्वरूप जो है, वह वीतराग है—ऐसा बारम्बार जो कहे, वही गुरुपदवी से सदा शोभते हैं। (185) (श्री दीपचन्दजी, आत्मावलोकन, श्लोक-2)

* * *

अतिशय विशुद्ध परमात्मतत्त्व की जो भावना है, वह अतिशय निर्मल मोक्षपद का कारण होती है तथा उससे विपरीत जो भावना है, वह संसार का कारण होती है। ठीक है—सुवर्ण से जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह सुवर्णमय और लोह से जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह लोहमय होती है। (186)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दिपंचविंशति, सद्बोध चन्द्रोदय, श्लोक-20)

* * *

आत्मध्यान के अतिरिक्त दूसरा सब घोर संसार का मूल है, (और) ध्यान-ध्येयादिक सुतप (अर्थात् ध्यान, ध्येय इत्यादि के विकल्पवाला शुभ तप भी) कल्पनामात्र रम्य है;—ऐसा जानकर धीमान् (बुद्धिमान पुरुष) सहज परमानन्दरूपी पीयूष के पूर में डूबते (-लीन होते हुए) ऐसे सहज परमात्मा का-एक का आश्रय करते हैं। (187)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-123)

* * *

केवल आत्मदर्शन, वही परमार्थ है, दूसरा सब व्यवहार है। तीन लोक का जो सार है, ऐसे एक इस परमार्थ को ही योगी ध्याते हैं। (188)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड-दोहा, गाथा-68)

* * *

योगीजन आत्मा को कर्म-नोकर्म से रहित—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, राग-द्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्मों से रहित, अमूर्तिक—स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण विहीन, अजर-अमर—जन्म-जरा-मरण से रहित, निर्विशेष—विशेष अथवा गुणभेद से रहित, सामान्यस्वरूप और सर्व प्रकार के सम्बन्ध और बन्धनों से रहित स्वतन्त्र (स्वाधीन) बतलाते हैं। (189) (श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, जीव अधिकार, गाथा-52)

* * *

अपने से भिन्न देह, रागादिकों से तुझे क्या प्रयोजन है ? देह में रहता हुआ भी निश्चय से देहस्वरूप जो नहीं होता, वही निज शुद्धात्मा उपादेय है । (190)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-29)

* * *

इस सर्व ज्ञान का सार यही है जो सर्व ही नाशवान क्षणिक सांसारिक पर्यायों से विरक्त होकर शुद्धस्वभाव को सार समझा जाये; अपने ही आत्मा के रागादि रहित व कर्ममल रहित स्वभाव को सार या उपादेय समझा जाये । (191)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, गाथा-901)

* * *

आत्मा को राग-द्वेष और मदादि जो कोई विकार है—विभाव परिणमन है—वह सब मेघजन्य सूर्य के विकारों की भाँति कर्मजनित है । (192)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, अधिकार-2, गाथा-46)

* * *

जो निजभाव को छोड़ता नहीं और किंचित् भी परभाव को ग्रहण नहीं करता, सर्व को जानता और देखता है, वह मैं हूँ—ऐसा ज्ञानी चिन्तवन करता है । (193)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, नियमसार, गाथा-97)

* * *

(हमारे आत्मस्वभाव में) विभाव असत् होने से उसकी हमें चिन्ता नहीं है; हम तो हृदयकमल में स्थित, सर्व कर्म से विमुक्त शुद्ध आत्मा को—एक को सतत् अनुभव करते हैं, क्योंकि अन्य किसी प्रकार से मुक्ति नहीं ही, नहीं ही है । (194)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-34)

* * *

शुद्ध चिद्रूप का स्मरण तजकर जो जीव अन्य कार्य करना चाहता है, वह दुर्बुद्धि जीव अमूल्य चिन्तामणिरत्न को तजकर पत्थर ग्रहण करने में ललचाता है । (195)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-9, श्लोक-14)

* * *

सब कोई कहते हैं कि जिनदेव तीर्थ में और देवालय में विद्यमान हैं, परन्तु जो जिनदेव को देह-देवालय में विराजमान समझता है, ऐसा पण्डित कोई विरला ही होता है। (196) (श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-45)

* * *

मूढ़ जीव, लोगों द्वारा बतलाये हुए देवालय में देव को शोधते हैं, परन्तु अपने देह-देवल में शिव-सन्त विराजमान है, उसे वे नहीं देखते। (197)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड़ दोहा, गाथा-180)

* * *

आत्म-प्रत्यक्ष करनेवाले ज्ञानी अपने को स्वयं एक ज्ञान का ही पात्र होने से तथा बद्ध-स्पृष्टादि भाव अपना स्वरूप नहीं होने से अपने को बद्ध-स्पृष्टादि भावों का अपात्र समझते हैं। (198) (श्री राजमल्लजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-233)

* * *

जो क्रोधादि कषायों की हवा से स्पर्शित नहीं होता है, जो ज्ञानरूपी अग्नि को धारनेवाला है, जो निर्मलपने उद्योतमान है, ऐसा चैतन्यरूपी दीपक जगत में प्रकाशमान है तो क्या वह मोहरूपी अन्धेरे को नहीं खण्डन करेगा ? वास्तव में वह दीपक मैं आत्मा ही हूँ। (199) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, सद्बोध चन्द्रोदय, श्लोक-37)

* * *

प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से ही है और उसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं। और जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्ब (सहायक) जानकर बहुत किया है, परन्तु उसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है—कहीं-कहीं है; इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से (मुख्यता से) दिया है कि—‘शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; उसका आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है, उसे जाने बिना जब तक जीव व्यवहार में मग्न है, वहाँ तक आत्मा का ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।’ (200)

(श्री समयसार, गाथा 11 के भावार्थ में से)

* * *

जीव को जितना वैषयिक (इन्द्रियजन्य) ज्ञान है, वह सब पौद्गलिक मानने में आया है और दूसरा जो ज्ञान विषयों से परावृत्त है—इन्द्रियों की सहाय बिना का है, वह सब आत्मीय है। (201)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, चूलिका अधिकार, गाथा-76)

* * *

हे योगी ! जिस पद को देखने के लिये तू अनेक तीर्थों में भ्रमता-भ्रमता घूमता है, परन्तु वह शिवपद तो तेरे साथ का साथ ही फिरता होने पर भी तू उसे नहीं जान सका ! (क्योंकि तूने शिवपद को बाहर के तीर्थों में खोजा, परन्तु अन्तरस्वभाव में दृष्टि नहीं की)। (202)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-179)

* * *

हे मूढ़ ! जगततिलक आत्मा को छोड़कर तू अन्य किसी का ध्यान न कर। जिसने मरकतमणि को जान लिया, उसे क्या कोई काँच की कीमत है ? (203)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-71)

* * *

हे मूढ़ ! देव किसी देवालय में विराजमान नहीं हैं, इसी तरह किसी पत्थर, लेप अथवा चित्र में भी देव विराजमान नहीं हैं। जिनदेव तो देह-देवालय में रहते हैं—इस बात को तू समचित्त से समझ। (204)

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-44)

* * *

जैसी जिनशासन में कही गयी है, ऐसी शुद्ध श्रद्धा या सम्यग्दृष्टि अविनाशी आत्मा के निज पद को या निर्वाण को देख लेती है, वह निर्वाण के मार्ग को भी देख लेती है, आत्मा को परमात्मा के समान ही एकरूप देख लेती है। (205)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-153)

* * *

अपने परमात्मस्वरूप का ध्यान करने से भव्य जीवों का मन विलय पाता है। जिस क्षण में ऐसा ध्यान होता है, उसी क्षण में चैतन्य चमत्कार लक्षण स्वरूप शुद्ध आत्मा दिखता है। (206)

(परमानन्द स्तोत्र, श्लोक-10)

* * *

आत्मा अपने आत्मा को, सर्व बाहरी पदार्थों से भिन्न, अपने आत्मा के द्वारा अनुभव करता हुआ निश्चय से कठिनता से प्राप्त होने योग्य तथा उपमारहित परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। क्या गाढ़ डटा हुआ बाँस के वृक्षों का समूह अपने से आपको घिसते-घिसते शीघ्र ही न बुझनेयोग्य तेजस्वी अग्निपने को नहीं प्राप्त हो जाता है ?

(207)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-49)

* * *

यह प्रत्यक्षीभूत स्वसंवेदनज्ञानकर प्रत्यक्ष जो आत्मा, वही शुद्ध निश्चयनयकर अनन्त चतुष्टयस्वरूप क्षुधादि अठारह दोष रहित निर्दोष परमात्मा है, यह व्यवहारनयकर अनादि कर्मबन्ध के विशेष से पराधीन हुआ दूसरे का जाप करता है, परन्तु जिस समय वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानकर अपने को जानता है, उस समय यह आत्मा ही परमात्मादेव है। (208)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-174)

* * *

यदि मोक्ष पाने की इच्छा करते हो तो निरन्तर ही आत्मा को शुद्ध, सचेतन, बुद्ध, जिन और केवलज्ञान स्वभावमय समझो। (209)

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-26)

* * *

सिद्ध भगवान् शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करते हैं। उनका यह ही उपदेश है कि शुद्ध आत्मिक स्वभाव का ही अनुभव करो। उसी आत्मा के स्वभाव की ही रुचि करो। उसी रुचि से ही ज्ञान, आवरणरहित और वीतराग हो जाता है। (210)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-499)

* * *

यह आत्मा जैसे-जैसे अपनी निजजातिरूप से परिणमता है, विश्राम लेता है; वैसे-वैसे उस काल में जो अशुद्धभाव हैं, वे यत्न बिना ही अपने आप ही कहीं नाश हो जाते हैं। जो अशुद्धभाव हैं, अनित्य भावरूप हैं, उन्हें जिनवचन में 'हेय' भाव कहा है।

(211)

(श्री दीपचन्द्रजी, आत्मावलोकन, श्लोक-8)

* * *

शुभ और अशुभ से रहित शुद्ध चैतन्य की भावना मेरे अनादि संसार रोग की उत्तम औषधि है। (212) (श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-167)

* * *

सम्यग्दृष्टि को अपना स्वभाव ही परम अतीन्द्रिय आनन्द में मग्न चैतन्य व आनन्दमयी, कर्मरहित शुद्ध दिखलाई पड़ता है, उसे आत्मा व परमात्मा एक-सा अनुभव में आता है। (213) (श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-156)

* * *

जो संसार के भ्रमण से उदास है तथा कल्याणमय मोक्ष के सुख के लिये अत्यन्त उत्साही हैं, वे ही साधुओं के द्वारा बुद्धिमान कहे गये हैं। बाकी सब जीव अपने आत्मा के पुरुषार्थ को ठगनेवाले हैं। (214)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-212)

* * *

हे मुनिजनो ! यदि चारगतिरूप संसार से छूटकर शीघ्र शाश्वत् सुखरूप मोक्ष को तुम चाहो तो भाव से शुद्ध जैसे हो वैसे अतिशय विशुद्ध निर्मल आत्मा को भाओ। (215) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड, गाथा-60)

* * *

जहाँ श्री जिनेन्द्रदेवरूपी सूर्य का दर्शन है, वहाँ निज आत्मा का दर्शन है। क्योंकि अपना आत्मा भी स्वभाव से श्री जिनेन्द्र सूर्य के समान है। श्री जिन का स्वभाव, वही यथार्थ आत्मस्वभाव है। वह प्रकाशित रत्नत्रयमयी भाव है, वही वीतराग आत्मा का स्वभाव स्वात्म-रमणरूप है। उसी की सहायता से आकाश के समान अनन्त ज्ञानधारी अर्हतपद प्रगट होता है। (216)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-1, पृष्ठ-205)

* * *

(गर्म पानी में) अग्नि की उष्णता का और पानी की शीतलता का भेद, ज्ञान से ही प्रगट होता है। सब्जी के स्वाद से लवण के स्वाद की अत्यन्त भिन्नता, ज्ञान से ही

प्रकाशित होती है। निज रस से विकसती नित्य चैतन्यधातु का और क्रोधादिभावों का भेद, कर्तृत्व को (कर्तापने के भाव को) भेदता हुआ—तोड़ता हुआ ज्ञान से ही प्रगट होता है। (217)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार-टीका, कलश-60)

* * *

सम्यग्दृष्टि जीव इच्छारहित क्रिया करता है और अन्तरंग भोगों से विरक्त रहता है, इसलिए वह सिद्ध भगवान समान मात्र ज्ञाता-दृष्टा है, कर्ता-भोक्ता नहीं। (218)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, सर्वविशुद्धि द्वार, पद-9)

* * *

तत्त्वज्ञानी महात्मा नोकर्म अर्थात् शरीररहित, कर्ममलरहित शुद्ध पदार्थ को ही अर्थात् आत्मा या परमात्मामयी शुद्ध तत्त्व का ही नित्य बारम्बार दर्शन करते हैं। (219)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-69)

* * *

केवलियों में भी औदयिकभाव का नानाप्रकारपना जानना, केवलियों के औदयिकभाव भी एक सरीखे नहीं होते; किसी केवली को दण्ड-कपाटरूप क्रिया का उदय हो, जबकि किसी केवली को वह न हो। इस प्रमार केवलियों में भी उदय की नानारूपता है तो अन्य गुणस्थानों की तो बात क्या कहना? इसलिए औदयिकभावों के भरोसे ज्ञान नहीं है। (220)

(श्री बनारसीदासजी, परमार्थ वचनिका)

* * *

सर्व कषायों में माया का फल बहुत ही पाप को उपजाता है। जो जीव निगोद में उपजकर महादुःखी हो, सो मायाकषाय का फल है और अन्य जो क्रोध, मान, लोभ इन कषाय से नरक होता है, निगोद नहीं होता है। (221)

(पण्डित टेकचन्द्रजी, सुदृष्टि तरंगिणी, पृष्ठ-539)

* * *

अहो! जगत में मूर्ख जीवों को क्या मुश्किल है? वे जो अनर्थ करें, उसका आश्चर्य नहीं, परन्तु न करे, वही वास्तव में आश्चर्य है। शरीर को प्रतिदिन पोषते हैं,

साथ ही साथ विषयों को भी वे सेवन करते हैं। उन मूर्ख जीवों को कुछ भी विवेक नहीं कि विषपान करके अमरत्व चाहते हैं?—सुख चाहते हैं? (222)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-196)

* * *

मोह से अन्ध जीवों के हृदय में बाह्य स्त्री, पुत्र, शरीर आदि पदार्थ अपनेरूप से भासित होते हैं। मोह रहित पुरुषों के हृदय में कर्ममल से रहित अविनाशी आत्मा ही सदा अपनेरूप भासित होता है। हे जीव! यदि तू इन दो भेद को समझ गया है तो तू इस स्त्री, पुत्रादि कि जिसे तूने अपने मान लिये हैं, उनमें एकत्वबुद्धिरूप दुष्ट मोह को क्षणमात्र में नाश क्यों नहीं करता? (223)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-88)

* * *

हे देव! मुझे तेरी चिन्ता है, जब यह मध्याह्न का प्रसार व्यतीत हो जायेगा, तब तू तो पोढ़ जायेगा और यह पाली सूनी पड़ी रहेगी। (आत्मा है, तब तक इन इन्द्रियों की नगरी बसी हुई लगती है; आत्मा के चले जाने पर वह सब सूनसान उज्जड़ हो जाता है)—इसलिए विषयों से विमुख होकर आत्मा को साध ले। (224)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड़ दोहा, गाथा-182)

* * *

जैसे स्फटिकमणि स्वभाव से निर्मल है, उसी तरह आत्मा ज्ञानदर्शनरूप निर्मल है। ऐसे आत्मास्वभाव को, हे जीव! शरीर की मलिनता देखकर, भ्रम से मैला मत मान। (225)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-177)

* * *

श्रावकों को पानी छानकर पीने का उपदेश है। प्रथम यह आवश्यक है कि उनके भावों में शुद्ध सम्यग्दर्शन हो व अपने चित्त को दोषों को हटाकर साफ करे, चित्त को छाने, फिर पानी को छानकर पीवे। (226)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-290)

* * *

आत्मज्ञानमयी आराधना उसे कहते हैं, जहाँ ऐसी शुद्ध आराधना हो कि मेरा आत्मा ही निश्चय से परमात्मारूप है, कोई परपदार्थ में परमाणुमात्र ममत्वरूप मिथ्यात्व का दोष न हो, ऐसी पवित्र भक्ति निर्वाण को ले जाती है। (227)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-234)

* * *

हे बुद्धिमानो! आत्मज्ञानरूप पवित्र तीर्थ एक आश्चर्यकारी तीर्थ है। उसमें भलीभाँति स्नान करो। जो कर्ममल अन्तरंग में है और जिसे अन्य करोड़ों तीर्थ धो नहीं सकते, उस मैल को यह आत्मज्ञानरूपी तीर्थ धो डालता है। (228)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दिपंचविंशति, सद्बोध चन्द्रोदय, श्लोक-28)

* * *

परमात्मपद में भावना करते रहने से वह—अनन्त ज्ञानस्वरूप परमात्मा 'मैं हूँ', ऐसे संस्कार प्राप्त वह—ज्ञानी पुरुष बारम्बार उसमें ही—आत्मस्वरूप में ही दृढ़ संस्कार के कारण निश्चय से आत्मा में स्थिरता प्राप्त करता है। (229)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-28)

* * *

शुद्ध जीव को 'सार'पना घटता है। सार अर्थात् हितकारी, असार अर्थात् अहितकारी। वहाँ हितकारी सुख जानना, अहितकारी दुःख जानना, क्योंकि अजीव पदार्थ को—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल को—और संसारी जीव को सुख नहीं, ज्ञान भी नहीं, और उनका स्वरूप जानने से जाननेवाले जीव को भी सुख नहीं, ज्ञान भी नहीं, इसलिए उसे 'सार'पना घटित नहीं होता। शुद्ध जीव को सुख है, ज्ञान भी है, उसे जानने से, अनुभव करने से जाननेवाले को सुख है, ज्ञान भी है, इसलिए शुद्ध जीव को 'सार'पना घटित होता है। (230) (श्री राजमलजी, कलशटीका, कलश-1)

* * *

हे हताश मधुकर! तूने कल्पवृक्ष की मंजरी का सुगन्धीरस चखा, और अब गन्धरहित घास-पलाश पर तू भ्रमता फिरता है!—अरे! ऐसे करते हुए तेरा हृदय फट क्यों नहीं गया? और तू मर क्यों नहीं गया? (अत्यन्त मधुर चैतन्यरस चखने के

पश्चात्, दूसरे नीरस विषयों में उपयोग भ्रमे, उसमें ज्ञानी को मरण जैसा दुःख लगता है।) (231) (श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुडदोहा, गाथा-152)

* * *

हे योगी! एक परम आत्मदर्शन ही मोक्ष का कारण है। अन्य कुछ भी मोक्ष का कारण नहीं है, ऐसा वास्तव में तू जान। (232) (श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-16)

* * *

सर्व कार्यों में, शुद्ध आत्मस्वरूप का चिन्तन, यह लोक-परलोक में सुख प्रदाता और स्वाधीन होने से सुगमता से सधे, ऐसा है। (233) (श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञानतरंगिणी, अध्याय-4, गाथा-16)

* * *

आत्मिक पदार्थ को ही परमात्मा कहा गया है। आत्मा का मूल स्वभाव परमात्मारूप है। इसी आत्मा के शुद्ध स्वभाव में रमण करने से सिद्धि प्राप्त होती है। आत्मपदार्थ ही आत्मा के स्वरूप को देखने को समर्थ है। मन, वचन, काया की वहाँ पहुँच नहीं है, आत्मा स्वसंवेदनगोचर है। यही आत्मानुभवरूपी जहाज क्षणमात्र में या एक अन्तर्मुहूर्त में सर्व कर्मों का क्षय कर डालता है। (234)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-1, पृष्ठ-211)

* * *

प्रश्न—‘जो कोई भी ध्येय (अर्थात् कोई भी ध्यान करनेयोग्य पदार्थ)’ कहा गया है, उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—प्राथमिक (पुरुष) की अपेक्षा से सविकल्प अवस्था में विषय और कषायें दूर करने के लिये और चित्त को स्थिर करने के लिये पंच परमेष्ठी इत्यादि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं, पश्चात् जब अभ्यास के वश चित्त स्थिर हो जाता है, तब शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावी निज शुद्धात्मा का स्वरूप ही ध्येय होता है। (235)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतदेव, बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35 की टीका में से)

* * *

जैसे कमलपत्र और जल सदा भिन्न ही रहते हैं, उसी प्रकार शरीर के संयोग में रहा हुआ यह आत्मा अपने स्वभाव से निर्मल है और शरीर, कर्म तथा रागादि मल से सदा अलिप्त रहता है। (236) (परमान्दस्तोत्र, श्लोक-7)

* * *

जिस परमात्मा के जाने बिना अन्य समस्त जाने हुए पदार्थों का जानपना भी निरर्थक है, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिसका स्वरूप जानने से समस्त विश्व जाना जाता है। (237) (श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, प्रकरण-31, श्लोक-30)

* * *

यह विषयसुख तो दो दिन रहनेवाला—क्षणिक है। पश्चात् तो दुःख की ही परिपाटी है। इसलिए हे जीव! तू तेरे आत्मा को भूलकर अपने ही कन्धे पर कुल्हाड़ी का प्रहार न कर। (238) (श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-17)

* * *

हे सांसारिक दुःखरूप क्षुधा से पीड़ित मनरूप पथिक! तू मनुष्यपर्यायरूप वृक्ष की विषयसुखरूप छाया की प्राप्ति से ही किसलिए सन्तुष्ट होता है? उससे तू अमृतरूप फल का ग्रहण कर। (239)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दिपंचविंशति, निश्चय पंचाशत, श्लोक-38)

* * *

गर्भ से लेकर ठेठ मरणान्त तक यह शरीर निरर्थक क्लेश, अपवित्रता, भय, तिरस्कार और पाप से भरपूर होता है—ऐसा विचारकर समझवान पुरुषों ने ऐसे विडम्बनापूर्ण शरीर का स्नेह सर्वथा त्यजनेयोग्य है। जो नश्वर और केवल दुःखपूर्ण शरीर के प्रति ममत्व छोड़ने से आत्मा वास्तव में मुक्तदशा को प्राप्त होता हो तो जगत में ऐसा कौन मूर्ख है कि जो उसके त्याग में प्रमाद करे? शरीर, वह वास्तव में दुष्ट मनुष्य के मिलाप जैसा है। (240) (श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-105)

* * *

जैसे किसी जीव को अशुभकर्म के उदय से रोग, शोक, दारिद्र आदि होते हैं,

उन्हें जीव छोड़ने को बहुत करता है, परन्तु अशुभकर्म के उदय से छूटते नहीं, इसलिए भोगने ही पड़ते हैं; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव को, पूर्व में अज्ञान परिणाम से बाँधा है जो सातारूप-असातारूप कर्म, उसके उदय से अनेक प्रकार की विषयसामग्री होती है, उसे सम्यग्दृष्टि जीव दुःखरूप अनुभव करता है। छोड़ने को बहुत करता है, परन्तु जब तक क्षपकश्रेणी चढ़ न सके, तब तक छूटना अशक्य है, इसलिए परवश हुआ भोगता है, हृदय में अत्यन्त विरक्त है, इसलिए अरंजित है। (241)

(श्री राजमलजी, कलशटीका, कलश-152)

* * *

सत्पुरुषों के उपदेश का एक अक्षर ही मुक्ति का बीज होता है, क्योंकि सदुपदेश के प्राप्त होने से स्वप्न में भी मनुष्य को कुबुद्धि का प्रादुर्भाव नहीं होता। (242)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-15, श्लोक-38)

* * *

हे संसारी जीवो! जिसे तुम कहते हो कि यह हमारा धन है, उसे सज्जन, जिस प्रकार नाक का मैल खिरा दिया जाता है, उसी प्रकार छोड़ देते हैं और फिर ग्रहण नहीं करते। जो धन तुम्हें पुण्य के निमित्त से मिला कहते हो, वह डेढ़ दिन की महत्ता है और फिर नरक में डालनेवाला है अर्थात् पापरूप है, तुमको उससे आँखों का सुख दिखता है, इसलिए तुम कुटुम्बीजन इत्यादि से ऐसे घिरे रहते हो, जिस प्रकार मिठाई पर मक्खी भिनभिनाती है। आश्चर्य की बात है कि इतना होने पर भी संसारी जीव संसार से विरक्त होते नहीं। सच पूछो तो संसार में मात्र असाता ही है। क्षणमात्र भी साता नहीं। (243)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, बन्ध द्वार, पद-44)

* * *

हे योगी! तूने दायीं ओर तथा बायीं ओर सर्वत्र इन्द्रियविषयोंरूपी गाँव बसाया है, परन्तु अन्तर को तो सूना रखा.... वहाँ भी एक दूसरा (इन्द्रियातीत) गाँव बसा। (244)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-181)

* * *

आशारूप अलंघ्य अग्नि में धनादिरूप ईंधन के भारा डालकर तूने आशारूप

अग्नि को प्रतिपल बढ़ाकर उसमें निरन्तर जलने पर भी, अपने को शान्त हुआ मानना, वही बराबर जीव का अनादि विभ्रम है। (245)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-85)

* * *

पण्डित समताभाव को समस्त शास्त्रों का सार बतलाते हैं। वह समताभाव कर्मरूपी महावन को भस्म करने के लिये दावानल समान है। (246)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दिपंचविंशति, एकत्व समति, श्लोक-68)

* * *

यह जिन-वचनरूपी औषध विषयसुख का विरेचन करनेवाला है, भव्य जीवों को अमृत समान है, जिनवचन के सेवन से भव्य जीव अमर बनते हैं। इसलिए यह जिन-वचनरूपी औषध जरा-मरण का नाशक है। दीर्घकाल तक रहनेवाले रोग और अकस्मात् उत्पन्न होनेवाली व्याधि को जिन-वचन तत्काल नष्ट करते हैं। सर्व दुःखों का नाश करके मुक्ति-सुख देते हैं। इसलिए हे मुनि! ऐसे जिन-वचनरूपी औषध का तू सतत सेवन कर। (247)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, अधिकार-2, गाथा-91)

* * *

यदि सूर्य की किरण समूह में कदाचित् ठण्डकपना हो जाये तथा चन्द्रमा में गर्मी हो जाये, व कदाचित् सुमेरुपर्वत में जंगमपना या हल-चलपना प्राप्त हो जाये तो हो जाओ, परन्तु कभी भी दुःखों की खान इस संसार भयानक संसार के चक्र में भ्रमण करते हुए पुरुष को प्रगटरूप से सुख प्राप्त नहीं हो सकता है। (248)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-68)

* * *

कालद्रव्य तथा अन्य द्रव्य में परमागम के अविरोधरूप से विचार करना। परन्तु 'वीतराग सर्वज्ञ का वचन सत्य है', ऐसा मन में निश्चय करके विवाद नहीं करना। किसलिए? क्योंकि विवाद करने से राग-द्वेष होते हैं, और राग-द्वेष से संसार की वृद्धि होती है। (249)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-22 की टीका में से)

* * *

इस आत्मा को अन्य द्रव्यों से भिन्न देखना (श्रद्धा करना), वही नियम से सम्यग्दर्शन है। कैसा है आत्मा? अपने गुण-पर्यायों में व्यापनेवाला है। और कैसा है? शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है। और कैसा है? पूर्ण ज्ञानघन है। और जितना सम्यग्दर्शन है, उतना ही यह आत्मा है। इसलिए आचार्य प्रार्थना करते हैं कि 'इस नौ तत्त्व की परिपाटी को छोड़कर, यह आत्मा एक ही हमको प्राप्त होओ। (250)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-6)

* * *

हमने एक जिन को जाना, वहाँ अनन्त देव को जान लिया। उन्हें जाने बिना मोह से मोहित जीव दूर भ्रमता है। (251) (श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-58)

* * *

यह आत्मा अरिहन्त और सिद्ध के स्वरूप से ध्याने में आने पर चरमशरीरी को मुक्ति प्रदान करता है और उसके ध्यान के साथ पुण्य उपार्जन करनेवाले अन्य को वह भुक्ति (स्वर्ग, चक्रवर्ती आदि के भोग) प्रदान करता है। (252)

(श्री नागसेन मुनिराज, तत्त्वानुशासन, श्लोक-197)

* * *

जो देह में रहता है तो भी देह से जुदा है, सर्व अशुचिमय देह को वह देव छूता नहीं है, वही आत्मदेव उपादेय है। (253)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-33)

* * *

साढ़े तीन हाथ की देहरी में सन्त-निरंजन बसता है; बालजीव उसमें प्रवेश नहीं कर सकते; तू निर्मल होकर उसे चेत। (254) (श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-94)

* * *

मेरा आत्मा एक अकेला ही है, अविनाशी है, ज्ञान-दर्शनस्वरूप है। मेरे शुद्धात्मा के भाव को छोड़कर जितने भी रागादि भाव हैं, वे सर्व पुद्गल के संयोग से होते हैं, अतएव मेरे आत्मा से बाहर हैं। (255) (श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-249)

* * *

यदि मेरे मत में समस्त इच्छाओं के अभावरूप अनुपम स्वरूपवाला उत्कृष्ट आत्मतत्त्व स्थित हो तो फिर राज्यलक्ष्मी तृण समान तुच्छ है; उसके विषय में तो क्या कहूँ? परन्तु मुझे तो तब इन्द्र की सम्पत्ति का भी कोई प्रयोजन नहीं। (256)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दिपंचविंशति, निश्चय पंचाशत, श्लोक-62)

* * *

मैं चैतन्यस्वरूप, अद्वितीय, अन्य के संग से रहित अकेला, कर्ममल से रहित निर्मल, आनन्दस्वरूप (हूँ), ऐसा स्मरण करता हूँ। (इस) अर्ध श्लोक द्वारा मुक्ति के लिये सर्वज्ञ का उपदेश निरूपण किया गया है। (257)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-3, गाथा-22)

* * *

हे जीव! जब तक तू निर्मल आत्मस्वभाव की भावना नहीं करता, तब तक मोक्ष नहीं पा सकता। अब जहाँ तेरी इच्छा हो, वहाँ जा। (258)

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-27)

* * *

पुष्कल, महा, चंचल विकल्परूप तरंगों द्वारा उठती यह समस्त इन्द्रजाल को जिसका स्फुरणमात्र ही तत्काल भगा देता है, वह चिन्मात्र तेजपुंज मैं हूँ। (259)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-91)

* * *

हे जीव! रागादि मलरहित आत्मा को छोड़कर तू दूसरे तीर्थों में मत जाये, दूसरे गुरु को मत सेवन कर, अन्य देव को मत ध्या, अर्थात् अपना आत्मा ही तीर्थ है, वहाँ रमण कर, अपना आत्मा ही गुरु है, उसकी सेवा कर, और आत्मा ही देव है, उसकी आराधना कर; अपने अतिरिक्त दूसरे का सेवन मत कर। (260)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-95)

* * *

जो सर्व तत्त्वा में एक सार है, जो समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों से दूर है, जिसने दुर्वार काम को नष्ट किया है, जो पापरूप वृक्ष को छेदनेवाला कुठार है, जो शुद्ध ज्ञान का

अवतार है, जो सुखसागर का पूर है और जो क्लेशोदधि का किनारा है, वह समयसार (शुद्ध आत्मा) जयवन्त वर्तता है। (261)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-54)

* * *

वास्तव में मैं शरीर, वाणी और मन के स्वरूप के आधारभूत ऐसा अचेतनद्रव्य नहीं हूँ; मैं स्वरूप-आधार हुए बिना भी (अर्थात् मैं उनके स्वरूप का आधार हुए बिना भी) वे वास्तव में अपने स्वरूप को धारते हैं। इसलिए मैं शरीर, वाणी और मन का पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ। (262)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-160)

* * *

चिद्रूप के ध्यान से ऐसा कोई परम आनन्द होता है (कि) उसका अंश भी तीन जगत के स्वामियों को भी नहीं होता। (263)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-2, गाथा-4)

* * *

जो अनादि है अर्थात् किसी काल में उत्पन्न हुआ नहीं, जो अनन्त है अर्थात् किसी काल में जिसका विनाश नहीं। जो अचल है अर्थात् जो कभी चैतन्यपने से अन्यरूप—चलाचल होता नहीं, जो स्वसंवेद्य है अर्थात् जो स्वयं अपने से ही ज्ञात होता है और जो प्रगट है अर्थात् छुपा नहीं, ऐसा जो यह चैतन्य अत्यन्तरूप से चकचकाट प्रकाशित हो रहा है, वह स्वयं ही जीव है। (264)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-41)

* * *

जैसे विकारी होनेवाले मेघों से आकाश का स्वभाव विकारी नहीं होता है, वैसे ही क्रोधादिक कर्मों का संयोग होने पर भी उत्कृष्ट तेजवाला आत्मा भी क्रोधी, मानी आदिरूप नहीं होता। उस आत्मा के स्वभाव से तो नाम भिन्न है, क्योंकि चैतन्यप्रभु का कोई नाम नहीं है। जन्म-मरण-रोगादि ये सर्व स्वभाव शरीर के हैं, ऐसा ज्ञानी लोग मानते हैं। (265) (एकत्वशीति, श्लोक-38, तत्त्वभावना, श्लोक-69 की टीका में उद्धृत)

* * *

लोग कुतीर्थ में जब तक परिभ्रमण करते हैं और धूर्तता यहाँ तक करते हैं कि जब तक गुरु के प्रसाद से वे देह में ही रहे हुए देव को नहीं जानते। (266)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-80)

* * *

योनि में सुख और दुःख दुष्कृत के समूह से होते हैं। (अर्थात् चार गति के जन्मों के सुख-दुःख शुभाशुभ कृत्यों से होते हैं)। और दूसरे प्रकार से (निश्चयनय से) आत्मा को शुभ का भी अभाव है तथा अशुभ परिणति भी नहीं—नहीं, क्योंकि इस लोक में एक आत्मा को (अर्थात् आत्मा सदा एकरूप होने से उसे) निश्चित भव का परिचय बिल्कुल नहीं। इस प्रकार जो भवगुणों के समूह से संन्यस्त है (अर्थात् जो शुभ-अशुभ, राग-द्वेष इत्यादि भव के गुणों से—विभाव से रहित है) उसे (-नित्य शुद्ध आत्मा को) मैं स्तवन / रक्षण करता हूँ। (267) (श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-209)

* * *

सिद्ध भगवान कोई बाह्य कारण की अपेक्षा बिना अपने आप ही स्वपरप्रकाशक ज्ञानरूप है, अनन्त आत्मिक आनन्दरूप है, और अचिंत्य दिव्यतारूप है। सिद्ध भगवान जैसा ही सर्व जीवों का स्वभाव है। इसलिए सुखार्थी जीव, विषयालम्बी भाव छोड़कर निरालम्बी परमानन्दस्वभाव से परिणमो। (268)

(श्री प्रवचनसार, गाथा-68 का भावार्थ)

* * *

जो व्यवहारनय है, वह यद्यपि इस पहली पदवी में (जब तक शुद्धस्वरूप की प्राप्ति न हुई हो तब तक) जिन्होंने अपना पैर रखा है, ऐसे पुरुषों को, अरेरे ! हस्तावलम्ब तुल्य कहा है, तो भी जो पुरुष चैतन्यचमत्कारमात्र, परद्रव्य भावों से रहित (शुद्धनय के विषयभूत) परम 'अर्थ' को अन्तरंग में अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं तथा तद्रूप लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं, उन्हें यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है। (269)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-5)

* * *

जो भव्यजीव तीन लोक के अग्रभाग में विराजित सिद्धभगवान का स्वरूप मनन

करते हैं, उसी शुद्ध स्वरूप को देखने से कर्म छूट जाते हैं तथा द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म को जीता जाता है तथा अनिष्टकर्म का बन्ध नहीं होता है। (270)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-503)

* * *

रागरहित चिद्रूप पूर्णानन्द का समुद्र आत्मा, उसमें ही सच्चा सुख है; संसार के इन्द्रिय सुख उसके समक्ष जुगनू जैसे हैं, उसमें सुख मानना, वह तो मात्र दुर्बुद्धि का फैलाव है। (271)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक 86)

* * *

एक तत्त्व तो भलीभाँति जानता है, दूसरा तत्त्व कुछ जानता नहीं। सबको जाननेवाले ऐसे आत्मतत्त्व का चरित्र देव भी नहीं जानते; जो अनुभव करते हैं, वे ही उसे बराबर जानते हैं, पूछ-परख द्वारा उसकी संतृप्ति कहाँ से होगी? (आत्मतत्त्व स्वानुभवगम्य है, वाद-विवाद से या पूछ-परख से वह प्राप्त नहीं होता)। (272)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-165)

* * *

राग से रंजित मन में रागादिरहित आत्मदेव नहीं दिखता, जैसे कि मलिन दर्पण में मुख नहीं भासता। यह बात, हे प्रभाकर भट्ट! तू सन्देहरहित जान। (273)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-120)

* * *

ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करते हैं कि मैं सदैव अकेला हूँ, अपने ज्ञान-दर्शन रस से भरपूर अपने ही आधार से ही हूँ, भ्रमजल का कूप मोहकर्म मेरा स्वरूप नहीं है! नहीं है!! मेरा स्वरूप तो शुद्ध चैतन्यसिन्धु है। (274)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, जीवद्वार, पद-33)

* * *

जिन सुबुद्धियों को तथा कुबुद्धियों को प्रथम से ही शुद्धता है, उनमें कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ? (उनमें वास्तव में कुछ भी भेद अर्थात् अन्तर नहीं है।) (275)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-71)

* * *

आचार्यदेव कहते हैं कि, सर्व वस्तुओं में जो अध्यवसान होते हैं, वह समस्त ही (अध्यवसान) जिन भगवन्तों ने पूर्वोक्त रीति से त्यागनेयोग्य कहा है, इसलिए हम ऐसा मानते हैं कि 'पर जिसका आश्रय है, ऐसा व्यवहार ही सम्पूर्ण छोड़ाया है।' तो फिर यह सत्पुरुष एक सम्यक् निश्चय को ही निष्कम्परूप से अंगीकार करके शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप निज महिमा में (आत्मस्वरूप में) स्थिरता क्यों नहीं धरते? (276)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-173)

* * *

चैतन्यरूप एकत्व का ज्ञान दुर्लभ है, परन्तु मोक्ष देनेवाला वही है। यदि वह किसी भी प्रकार से प्राप्त हो जाये तो उसका बारम्बार चिन्तवन करना चाहिए। (277)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दिपंचविंशति, एकत्व भावना दशक, श्लोक-4)

* * *

कैसा है निर्विकल्प अनुभव? जिसमें पठन-पाठन, स्मरण, चिन्तन, स्तुति, वन्दना इत्यादि अनेक क्रियारूप विकल्प विष समान कहे हैं। उस निर्विकल्प अनुभव में न पढ़ना, न पढ़ाना, न वन्दना, न निन्दना, ऐसा भाव अमृत के निधान समान है। भावार्थ ऐसा है कि निर्विकल्प अनुभव सुखरूप है, इसलिए उपादेय है, नाना प्रकार के विकल्प आकुलतारूप है, इसलिए हेय है। (278) (श्री राजमलजी, कलश टीका, कलश-189)

* * *

जिस तत्त्व के अभाव में लोक को प्रकाश करने में कुशल ऐसे सर्व चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, तारे आदिक अन्धेरे के समूह के समान हो जाते हैं। जो ज्ञानमयी प्रकाश को बहुत निर्मल रखनेवाला है और जो योगियों के द्वारा ध्याया जाता है, उस निर्मल और निश्चल आत्मतत्त्व को अपने ही शरीर में विराजमान ध्याना चाहिए। (279)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-55)

* * *

हे आत्महितैषी प्राणी! पुण्य के फलों में हर्ष न कर और पाप के फलों में द्वेष न कर। (क्योंकि यह पुण्य और पाप) पुद्गल की पर्याय है, उत्पन्न होकर नाश पा जाती है और फिर से उत्पन्न होती है। अपने अन्तर में निश्चय से वास्तव में लाखों बातों का

सार इसी प्रकार ग्रहण करो कि पुण्य-पापरूप समस्त जन्म-मरण के द्वन्द्वरूप (राग-द्वेषरूप) विकारी मलिनभाव तोड़कर हमेशा आत्मा का ध्यान करो। (280)

(पण्डित दौलतरामजी, छहढाला, ढाल-4, श्लोक-8)

* * *

प्रज्ञा द्वारा (आत्मा को) ऐसा ग्रहण करना कि जो चेतनेवाला है, वह निश्चय से मैं हूँ, बाकी के जो भाव हैं, वे मुझसे पर हैं, ऐसा जानना। (281)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-297)

* * *

भव्य जीवों को श्रीगुरु उपदेश करते हैं कि शीघ्र मोह का बन्धन तोड़ डालो, अपना सम्यक्त्वगुण ग्रहण करो और शुद्ध अनुभव में मस्त हो जाओ। पुद्गलद्रव्य और रागादि भावों के साथ तुम्हारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वे स्पष्ट अचेतन हैं और तुम अरूपी चैतन्य हो तथा जल से भिन्न तेल की भाँति उनसे भिन्न हो। (282)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, जीवद्वार, पद-12)

* * *

मेरा परमात्मा शाश्वत है, कथंचित् एक है, सहज परम चैतन्यचिन्तामणि है, सदा शुद्ध है और अनन्त निज दिव्य ज्ञानदर्शन से समृद्ध है। ऐसा है तो फिर बहुत प्रकार के बाह्य भावों से मुझे क्या फल है? (283)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-138)

* * *

आत्मा की साधनादि विधि में मात्र एक ज्ञान ही प्रसिद्ध गुण है तथा ज्ञान ही स्वानुभव में एक कारण है, इसलिए वह ज्ञान ही परमपद है। (284)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-401)

* * *

(हे भव्य प्राणी!) तू इसमें (ज्ञान में) नित्य रत अर्थात् प्रीतिवाला हो, इसमें नित्य सन्तुष्ट हो और इससे तृप्त हो; (ऐसा करने से) तुझे उत्तम सुख होगा। (285)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-206)

* * *

बारह अंगरूप श्रुतसमुद्र शुद्ध आत्मा का अंश है। जहाँ शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हुई, वहाँ उसका मुझे क्या काम है ? (286)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञानतरंगिणी, अध्याय-13, गाथा-9)

* * *

यह आत्मा का सच्चा निधान इस आत्मा के समीप ही है। उसे पहिचानने से ही वह सुखी हो जाता है। मेरा आत्मा अनन्त ज्ञान का धारक चिदानन्द है। मेरा स्वरूप अनन्त चैतन्यशक्ति से मण्डित अनन्त गुणमय है। मेरे उपयोग के आधीन वह बन रहा है। मैं मेरे परिणामरूप उपयोग को मेरे स्वरूप में धारण कर रखूँ तो अनादि दुःख मिट जायेगा और परमपद को प्राप्त करूँगा। यह स्वरूप प्राप्त करने का मार्ग सुगम है, दृष्टिगोचर करना ही दुर्लभ है; यह सन्तों ने सुगम कर दिया है। (287)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-12)

* * *

शब्द शास्त्र का विस्तार तो अपार है और आयु भी यदि अपार हो, तब तो उन सबका सुविचार कर्तव्य है; परन्तु आयु-काल तो अति अल्प है और इतने शब्द शास्त्र से कहीं मुक्ति हो नहीं जाती, इसलिए व्यर्थ काल न गँवाकर प्रयोजनभूत तत्त्व में बुद्धि जोड़ना चाहिए। (288)

(श्री नेमीश्वर-वचनमृत शतक, श्लोक-68)

* * *

(शुद्ध आत्मतत्त्व में) बहिरात्मा और अन्तरात्मा ऐसा यह विकल्प कुबुद्धियों को होता है; संसाररूपी रमणी को प्रिय ऐसा यह विकल्प सुबुद्धियों को होता नहीं। (289)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-261)

* * *

अध्यात्म का अभ्यास करते समय मुमुक्षु को तत्त्व समझने का यत्न करना चाहिए; शब्द के गुण-दोष के विचार में अटकना नहीं चाहिए। हे भव्य! यदि तू बुद्धिमान हो तो बारम्बार अध्ययन करके तत्त्व समझ। (290)

(श्री नेमीश्वर-वचनमृत शतक, श्लोक-32)

* * *

कितने ही जीव किसी शास्त्र आदि के निमित्त से कुछ थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त कर इतने अधिक अभिमानी हो जाते हैं कि वे सब लोगों को मूर्ख समझकर अन्य किसी भी विशिष्ट विद्वानों का आश्रय नहीं लेते। (291)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दिपंचविंशति, एकत्व सप्तति, श्लोक-8)

* * *

सम्यग्दृष्टि जीव का अपने आत्मा को जाननेवाला स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप ज्ञान, शुद्ध और सिद्धों के जैसा होता है। (292)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-489)

* * *

उन्नति का क्रम तो यह है कि—एक को देखकर दूसरा उसके आदर्श गुणों का अनुकरण करे, परन्तु दोषदृष्टिवान मनुष्य 'अपने से जगत में कोई विशेष गुणवान है' यह समझता ही नहीं। दूसरे में दोष होने अथवा नहीं होने से तुझे स्वयं को क्या लाभ-हानि है? तेरा दोष जिस दिन निवृत्त होगा, उस दिन तू वास्तव में सुखी होगा। इसलिए हे मुमुक्षु! यह परदोष देखने की ओर तू निरन्तर उपेक्षित रह। (293)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-250)

* * *

हे जीव! परमार्थ को समझनेवालों को कोई जीव बड़ा-छोटा नहीं है; सभी जीव परमब्रह्मस्वरूप हैं। (294)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, श्लोक-94)

* * *

श्रुतियों का अन्त नहीं है (शास्त्रों का पार नहीं है) काल थोड़ा है और हम दुर्मेध (मन्दबुद्धि) हैं। इसलिए केवल वही सीखनेयोग्य है कि जो जरा-मरण का क्षय करे। (295)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-98)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पंचास्तिकाय टीका, गाथा-146 की टीका में उद्धृत श्लोक)

* * *

पण्डितों में पण्डित ऐसे हे पण्डित! यदि तू ग्रन्थ और उनके अर्थों में ही सन्तुष्ट हो गया है और परमार्थ आत्मा को नहीं जानता तो तू मूर्ख है, तूने कण को छोड़कर

छिलके ही कूटे हैं। (296)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-85, मोक्षमार्गप्रकाशक में उद्धृत गाथा)

* * *

क्रम-क्रम से चढ़कर चींटी वृक्ष पर रहे हुए फल के पास तोते की भाँति पहुँचती है और मनुष्य अपने में रहे हुए शुद्ध चिद्रूप का चिन्तन उसी प्रकार क्रम से करके पाता है। (297)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-18, गाथा-17)

* * *

हे भव्य! यह बात तुम निःसन्देह जानो कि मात्र युक्तिपूर्वक शास्त्र के चिन्तन-मनन से ही जीव के सद्गुणों की प्राप्ति होना असम्भव है, परन्तु आत्मभावना में परिणति द्वारा उनकी प्राप्ति होना सुगम है। (298)

(श्री नेमीश्वर वचनमृत शतक, श्लोक-27)

* * *

जैसे मिश्री खाने से गधा मर जाये तो इससे कहीं मनुष्य तो मिश्री खाना नहीं छोड़ेगा, उसी प्रकार कोई विपरीतबुद्धि जीव अध्यात्म ग्रन्थ सुनकर स्वच्छन्दी हो तो इससे कहीं विवेकी जीव तो अध्यात्म ग्रन्थों का अभ्यास नहीं छोड़ेंगे। (299)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-8, पृष्ठ-294)

* * *

हे भगवान! आपकी यह महिमा है कि आपने वस्तु को एकान्त से वाच्यरूप और अवाच्यरूप न कहकर दोनों धर्मरूप कहा है। उन दोनों धर्मों में से यदि मैं मात्र एक धर्म का ही कथन करूँ तो जीभ के सौ टुकड़े हो जाओ। (300)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, लघुतत्त्व स्फोट, स्तुति-15, श्लोक-9)

* * *

सर्वथा नित्यवादी और सर्वथा अनित्यवादी दोनों ही मिथ्यादृष्टि हैं, परन्तु जो पदार्थों को नित्यानित्य मानता है, वह मिथ्यादृष्टि नहीं है, ऐसा कहना योग्य नहीं है। निरपेक्ष नित्यानित्यवाद भी एकान्त नित्यवाद और एकान्त अनित्यवाद की भाँति मिथ्या ही

है। क्योंकि अपेक्षा बिना नित्यानित्य वस्तु मानने से सर्व नयों का घात होता है। (301)
(श्री नरेन्द्रसेन आचार्य, सिद्धान्तसारसंग्रह, अध्याय-4, गाथा-74)

* * *

जो गृहस्थ साधर्मी जीवों के प्रति अपनी शक्ति अनुसार वात्सल्य नहीं करता, वह धर्म से विमुख होकर बहुत पाप से अपने को आच्छादित करता है। (302)
(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, उपासक संस्कार, श्लोक-36)

* * *

यह बड़ा खेद है कि जहाँ अमृत तो विष के लिये हो और ज्ञान मोह के लिये हो और ध्यान नरक के लिये होता है, सो जीवों की यह विपरीत चेष्टा आश्चर्य उत्पन्न करती है। भावार्थ—जहाँ प्रशस्त वस्तु भी अप्रशस्त हो जाती है, उसका यहाँ आश्चर्य किया है। (303)
(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-25, श्लोक-10)

* * *

जो बुद्धिरूपी स्त्री बाह्य शास्त्ररूपी वन में घूमनेवाली है, अनेक विकल्प धारण करती है तथा चैतन्यरूपी कुलीन घर में से निकल चुकी है, वह पतिव्रता समान समीचीन नहीं, परन्तु दुराचारिणी स्त्री के समान है। (304)
(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, सद्बोध चन्द्रोदय, श्लोक-38)

* * *

जो मनुष्य अगणित गुणरत्नों से शोभित सुन्दर आत्मतत्त्व के चिन्तन में सदा ही रत है, उसकी बराबरी करनेवाला संसार में कौन है?—क्या जुगनू का प्रकाश सूर्य की बराबर कर सकता है? (305)
(श्री नेमीश्वर-वचनमृत शतक, श्लोक-77)

* * *

और देव-गुरु-धर्मादिक के निकट मद करना, और साधर्मियों से मद करना, और पूजनादिक धर्म कार्य में धनादिक खर्च कर मद करना, और धर्म पद्धति में मुखियापने को प्राप्त हो मद करना, बहुत शास्त्र पढ़कर मद करना, तथा अनेक प्रकार के धर्म-अंग में मान के अभिनिवेशसहित धनादिक खर्च करना, अपने को महान मानकर अन्य साधर्मियों को अपने से तुच्छ समझना, और साधर्मी का अपमान करना, अनेक

प्रकार वस्त्राभूषणादि से साधर्मियों में मद धारकर बैठना—इत्यादि अनन्तानुबन्धी का धर्म-विरुद्ध मानभाव जानना। (306) (श्री दीपचन्दजी, भावदीपिका, पृष्ठ-57)

* * *

पुण्य और पाप दोनों के मार्ग को छोड़कर अलख में जाया जाता है, उन दोनों का (पुण्य-पाप का) कोई ऐसा फल नहीं मिलता कि जिससे लक्ष्य की प्राप्ति हो। (307) (श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-188)

* * *

मिथ्यात्वी जीव को क्षयोपशमरूप बुद्धि होती है, परन्तु स्व-पर का भेद नहीं जानता, इसलिए निजसूर्य को देखता नहीं। (अर्थात् ज्ञानस्वरूप मूल आत्मा को देखता नहीं)। मात्र धूप को (-अर्थात् उघाड़रूप पर्याय को) देखता है। (308) (श्री दीपचन्दजी, आत्मावलोकन, पृष्ठ-158)

* * *

केवलज्ञानमय आत्मा जिसके हैया में बसता है, वह तीन लोक में मुक्त रहता है और उसे पाप नहीं लगता। (309) (श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-59)

* * *

जैसे एक डिब्बी में रत्न, उसका कुछ बिगड़ा नहीं, वह गुप्त है, ढक्कन दूर करके निकाले तो व्यक्त है। उसी प्रकार शरीर में छुपा हुआ आत्मा है, उसका कुछ बिगड़ा नहीं, वह गुप्त है और कर्मरहित होने पर प्रगट है। गुप्त-प्रगट यह अवस्थाभेद है। उन दोनों अवस्थाओं में स्वरूप तो जैसा है, वैसा ही है। ऐसा श्रद्धाभाव, वही सुख का मूल है। जिसकी दृष्टि पदार्थशुद्धि पर नहीं है, कर्मदृष्टि से अवलोके, वहाँ सुख कैसे पावे? जैसी दृष्टि से देखे वैसा फल होता है। (310) (श्री दीपचन्दजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-44)

* * *

(यह सम्यग्दर्शन ही) मोक्षरूपी महल का पहला सोपान है, इस सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पना नहीं प्राप्त करते, इसलिए हे भव्य जीवो! ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो। हे समझदार दौलतराम! सुन, जान और सावधान रह, तेरा

समय व्यर्थ—अनावश्यक नहीं गँवा। यदि सम्यग्दर्शन नहीं हुआ तो यह मनुष्यपर्याय फिर से मिलना मुश्किल है। (311)

(पण्डित दौलतरामजी, छहढाला, ढाल-3, श्लोक-17)

* * *

पूर्ण, एक, अच्युत और शुद्ध ऐसा ज्ञान, जिसकी महिमा है, ऐसा यह ज्ञायक आत्मा ज्ञेय पदार्थों से जरा भी विक्रिया नहीं पाता, जैसे दीपक प्रकाश्य पदार्थों से विक्रिया नहीं पाता, उसी प्रकार। फिर ऐसी वस्तुस्थिति के ज्ञान से रहित जिसकी बुद्धि है, ऐसे यह अज्ञानी जीव अपनी सहज उदासीनता को क्यों छोड़ते हैं और राग-द्वेषमय क्यों होते हैं? (ऐसा आचार्यदेव ने खेद किया है।) (312)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-222)

* * *

‘शरीरादि से आत्मा भिन्न है’ यह बात बहुत बार गुरुमुख से सुने तथा दूसरों को वैसा उपदेश भी बारम्बार दे, तथापि जब तक आत्मा को शरीरादि से दृढरूप से भिन्न अनुभव नहीं करे, अर्थात् जब तक स्वसन्मुखतापूर्वक उसका उसे भावभासन नहीं हो, तब तक जीव मुक्ति के योग्य नहीं हो सकता। (313)

(श्री पूज्यपाद आचार्य, समाधिशतक, गाथा-81)

* * *

जैसे मार्ग में चलते हुए किसी गरीब को (अथवा राहगीर को) यदि स्वर्ण से भरा हुआ घड़ा मिल जाये तो वह उसे गुप्त रखता है। इसी प्रकार हे भव्य! तू तेरी निजात्मभावना को अपने में गुप्त रखना—गुप्तरूप से उसका अनुभव करना। (314)

(श्री नेमीश्वर-वचनामृत शतक, श्लोक-17)

* * *

जब तक परमतत्त्व को न जाने, न श्रद्धा करे, न अनुभवे, तब तक कर्मबन्ध से नहीं छूटता। इससे यह निश्चय हुआ कि कर्मबन्ध से छूटने का कारण एक आत्मज्ञान ही है, और शास्त्र का ज्ञान भी आत्मज्ञान के लिये ही किया जाता है, जैसे दीपक से वस्तु को देखकर वस्तु को उठा लेते हैं और दीपक को छोड़ देते हैं; उसी तरह शुद्धात्मतत्त्व

के उपदेश करनेवाले जो अध्यात्मशास्त्र, उनसे शुद्धात्मतत्त्व को जानकर उस शुद्धात्मतत्त्व का अनुभव करना चाहिए और शास्त्र का विकल्प छोड़ना चाहिए। शास्त्र तो दीपक के समान हैं, तथा आत्मवस्तु रत्न के समान है। (315)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-82)

* * *

जिस प्रकार आँख रूप को ग्रहण करती हुई रूपमय नहीं हो जाती, उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञेयरूप नहीं हो जाता। (316)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, अधिकार-1, गाथा-22)

* * *

देखो परिणामों की विचित्रता! कि कोई जीव तो ग्यारहवें गुणस्थान में यथाख्यातचारित्र पाकर वापस मिथ्यादृष्टि बनकर किञ्चित् न्यून अर्धपुद्गलपरावर्तन काल तक संसार में भटकता है, तब कोई जीव नित्यनिगोद में से निकलकर मनुष्य होकर आठ वर्ष की आयु में मिथ्यात्व से छूटकर अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करता है—ऐसा जानकर अपने परिणाम बिगड़ने का भय रखना और उन्हें सुधारने का उपाय करना। (317)

(श्री पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-7, पृष्ठ 269)

* * *

हे योगी! जिसके हृदय में जन्म-मरण रहित एक देव नहीं बसता, वह जीव परलोक को (मोक्ष को) किस प्रकार प्राप्त करेगा? (318)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-164)

* * *

अन्ध तो कुँए में गिरे, यह अचरज नहीं है, परन्तु सूझता गिरे, यह अचरज है; इसी प्रकार आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है और संसाररूप कूप में गिरता है, यह बड़ा आश्चर्य है। मोह ठग ने उसके सिर पर ठगोरी डाली है, इसलिए वह परघर को ही अपना मानकर निजघर भूला है। ज्ञानमन्त्र से मोह ठगोरी को उतारे, तब निजघर को पावे। श्रीगुरु बारम्बार निजघर प्राप्त करने का उपाय बतलाते हैं कि अपने अखण्डित उपयोगनिधान को लेकर अविनाशी राज्य कर! तेरी हरामजादी से ही अपना राज्यपद भूलकर कोड़ी-

कोड़ी का याचक कंगाल हुआ है; तेरा निधान तेरे पास ही था, परन्तु तूने सम्हाला नहीं, इसलिए तू दुःखी हुआ। (319) (श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-26)

* * *

मुझे कुछ भी जानने का बाकी नहीं रहा, देखने का बाकी नहीं रहा। तथा कोई भी इस जगत में समझनेयोग्य, करनेयोग्य, कहनेयोग्य, श्रवण करनेयोग्य, प्राप्त करनेयोग्य, कल्याणकारी, आदरनेयोग्य, मुझे कुछ बाकी नहीं रहा। क्योंकि इस जगत में अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक जाननेयोग्य, देखनेयोग्य, समझनेयोग्य, अनुभवनेयोग्य, करनेयोग्य, कहनेयोग्य, ध्यान करनेयोग्य, श्रवण करनेयोग्य, प्राप्त करनेयोग्य, श्रेयरूप परम कल्याणकारी, आदरनेयोग्य यदि कुछ भी हो तो वह एक शुद्ध चिद्रूप, शुद्ध सहज आत्मस्वरूप है, वह तो महाभाग्ययोग से ज्ञानी-भगवान की वाणी के आराधन से मैंने प्राप्त किया है। इसलिए मुझे वही अत्यन्त प्रिय है। (320)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-1, गाथा-19)

* * *

श्री जिनेन्द्र की भक्ति करने से भाव शुद्ध होता है, तब विषयों का भाव दूर होता है। श्री जिनेन्द्र की भक्ति की सहायता से ही कर्मों को जीतकर जिनपना प्रगट होता है। जिनपद का प्रकाश शुद्धोपयोग सहित है। शुद्धभाव का ध्रुवरूप से प्रगट रहना, यही मोक्ष का साक्षात् साधन है। (321) (श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-2, पृष्ठ-143)

* * *

शुद्ध मन से जिन का स्मरण करो, जिन का चिन्तवन करो और जिन का ध्यान करो। उनका ध्यान करने से एक क्षण भर में परमपद प्राप्त हो जाता है। (322)

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-19)

* * *

हे जिनेन्द्र प्रभो! श्री वीर भगवान ने (अथवा वीरनन्दि गुरु ने) प्रसन्नचित्त होकर उच्च पद (मोक्ष) की प्राप्ति के लिये मरे चित्त में उत्तम उपदेश की जमावट की है, उस उपदेश के समक्ष क्षणमात्र में विनाशी ऐसा पृथ्वी का राज्य मुझे प्रिय नहीं, यह बात तो

दूर रहो, परन्तु उस उपदेश के समक्ष तीन लोक का राज्य भी मुझे प्रिय नहीं। (323)
(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, आलोचना अधिकार, श्लोक-32)

* * *

हे सखा! ऐसे दर्पण का क्या करना कि जिसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब न दिखायी दे! मुझे तो यह जगत सूना-सूना प्रतिभासित होता है,—कि जिसे गृहपति घर में होने पर भी उनका दर्शन नहीं होता। (324) (श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-122)

* * *

भव के भय को भेदन करनेवाले इन भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है ? तो तू भवसमुद्र के मध्य में रहनेवाले मगर के मुख में है। (325)
(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-12)

* * *

जैसे कोई सूर्य के सामने छत्र धरे तो इससे सूर्य को कुछ लाभ नहीं होता, परन्तु छत्र धारण करनेवाले को छाया का सुख अवश्य मिलता है; उसी प्रकार भगवान की सेवा इन्द्र करता है, इससे भगवान को कुछ प्रयोजन नहीं, परन्तु भक्ति करने से इन्द्र को ही वह भक्ति सुख का कारण होती है। (326)
(श्री महाकवि धनंजय, विषापहारस्तोत्र, श्लोक-17)

* * *

जो मानवों को प्रसन्न करनेवाले राग में रमणता का पद है, वह सर्व श्री जिनेन्द्र के गुणों में रंजायमान होनेवाले ज्ञान से दूर हो जाता है। वह ज्ञान वीतराग आत्मा का अनुभवस्वरूप है। (327) (श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-1, पृष्ठ-148)

* * *

हे जीव! जो पाप का उदय जीवों को दुःख देकर, शीघ्र मोक्ष जाने के योग्य उपायों में वृद्धि कराता है तो वह पाप का उदय भी भला है, ऐसा ज्ञानी कहते हैं। (328)
(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-57)

* * *

एकान्त से अर्थात् नियम से स्वर्ग में भी देह, देही को (-आत्मा को) सुख नहीं

करता; परन्तु विषयों के वश सुख अथवा दुःखरूप स्वयं आत्मा होता है। (329)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार, गाथा-66)

* * *

भक्ति तो रागरूप है और राग से बन्ध है, इसलिए वह मोक्ष का कारण नहीं। राग का उदय आने पर यदि भक्ति न करे तो पापानुराग होता है, इसलिए अशुभराग छोड़ने के लिये ज्ञानी भक्ति में प्रवर्तते हैं व मोक्षमार्ग में बाह्य निमित्तमात्र भी जानते हैं, परन्तु वहाँ ही उपादेयपना मानकर सन्तुष्ट नहीं होते, परन्तु शुद्धोपयोग के उद्यमी रहते हैं। (330)

(श्री पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-7, पृष्ठ-226)

* * *

प्रभो! जो मनुष्य भयंकर जलोदर आदि दर्द के भार से दुःखी हो गये हैं, और जिनकी स्थिति अत्यन्त सोचनीय हो गयी है अथवा जो अपने जीवन से सर्वथा निराश हो गये हैं, ऐसे मनुष्य भी आपके चरणकमल की रज-धूल भी अपने शरीर पर लगाने से कामदेव जैसे सुन्दर हो जाते हैं। (331)

(श्री मानतुंग आचार्य, भक्तामरस्तोत्र, श्लोक-45)

* * *

जिस गृहस्थावस्था में जिनेन्द्र भगवान के चरणकमल की पूजा नहीं की जाती तथा भक्तिपूर्वक संयमीजनों को दान नहीं दिया जाता, उस गृहस्थ अवस्था को अगाध जल में प्रवेश कर क्या शीघ्र डुबो नहीं देना चाहिए? अर्थात् अवश्य डुबो देना चाहिए। (332)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, दान अधिकार, श्लोक-24)

* * *

हे प्रभु! जीव और अजीव पदार्थों को जानते हुए, आस्रव और बन्ध को रोकते हुए, निरन्तर संवर और निर्जरा को करते हुए, मोक्षरूपी प्रिया की चाह रखते हुए, शरीर आदि परपदार्थों से भिन्न निर्मल परमात्मा के स्वरूप को यथार्थरूप से अनुभव करते हुए, और धर्मध्यान और समभाव में शुद्ध मन को लगाते हुए मेरा समय व्यतीत हो। (333)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-4)

* * *

हे जिनेन्द्र ! क्या आप मेरे साथ नहीं चलोगे ? क्या आप मुझे मुक्ति पहुँचाने में मदद नहीं देंगे ? आप सहकारी हैं । आपकी सहायता से मैं स्वयं उस मोक्षस्थान को मिला लूँगा । वह स्थान ऐसा है, जहाँ वीतराग आत्मा स्वयं अपने शुद्ध ज्ञान के भीतर निवास करता है । वही कमल है, वही ज्ञानचेतना में रमण है, वही वीतरागता का घर है और रहने का ठिकाना है । (334) (श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-2, पृष्ठ 158)

* * *

जिस प्रकार किसी पुण्यवान जीव के हाथ में चिन्तामणि रत्न होता है, उससे सर्व मनोरथ पूरे होते हैं, वह जीव लोहा, ताँबा, सोना ऐसी धातु का संग्रह नहीं करता । उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव के पास शुद्धस्वरूप अनुभव ऐसा चिन्तामणि रत्न है, उससे सकल कर्म क्षय होता है, परमात्मपद की प्राप्ति होती है, अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है; वह सम्यग्दृष्टि जीव शुभ-अशुभरूप अनेक क्रिया-विकल्प का संग्रह नहीं करता । क्योंकि उनसे कार्यसिद्धि नहीं होती । (335) (श्री राजमलजी, कलश टीका, कलश-144)

* * *

जो जीव मनुष्यपर्याय में उत्तम कुल में जन्म लेकर कष्टपूर्वक बुद्धिचातुर्य को प्राप्त हुए हैं तथा जिन्होंने पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म के उदय से किसी भी प्रकार से जैनमत में भक्ति भी प्राप्त कर ली है, तथापि यदि वे संसार-समुद्र को पार कराकर सुख उत्पन्न करनेवाला धर्म नहीं करते तो समझना चाहिए कि वे दुर्बुद्धिजन हाथ में प्राप्त हुए होने पर भी अमूल्य रत्न को छोड़ देते हैं । (336)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अधिकार-1, श्लोक-169)

* * *

यह अल्प आयुष्य और चंचल काया को इस (मोक्ष) मार्ग में खपा देने से जो परम शुद्ध चैतन्यघन अविनाशी निःश्रेयस की प्राप्ति होती हो तो तुझे फूटी कोड़ी के बदले में चिन्तामणि रत्न से भी अधिक प्राप्त हुआ है, ऐसा समझ । हे जीव ! सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य और तप, इन चार आराधना से उत्तरोत्तर वृद्धि और शुद्धि में तेरे इस मानव जीवन का जो काल है, उतना ही तेरा सफल आयुष्य है, ऐसा समझ । (337)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-70)

* * *

जैसे कोई पुरुष दरिद्री है, कर्जदार है, उसका चिन्तामणि है, तब किसी ने कहा—चिन्तामणि के प्रभाव से निधि विस्तार कर रहा है, अमुक को फल दिया है इसलिए अब वह भी निधि तो लो ! साक्षात्कार होने से सर्व फल प्राप्त करोगे । तब प्रतीति में तो चिन्तामणि प्राप्त करने जैसा उसे हर्ष होता है । तत्प्रमाण मतिज्ञानी को स्वरूप का प्रभाव एकदेश में ऐसा जानने में आया कि केवलज्ञान का शुद्धत्व प्रतीति द्वार आया, जिससे अशुद्धत्व अंश भी अपना नहीं । (338) (श्री दीपचन्दजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-15)

* * *

जैसे किसी महान दरिद्री को अवलोकनमात्र चिन्तामणि की प्राप्ति हो, तथापि वह अवलोकन न करे तथा जैसे किसी कोढ़ी को अमृतपान करावे, तथापि वह न करे; उसी प्रकार संसार पीड़ित जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बनने पर भी वह अभ्यास न करे तो उसके अभाग्य की महिमा कौन कर सकता है ? उसकी होनहार ही का विचारकर अपने को समता आती है । (339)

(श्री पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-1, पृष्ठ-23)

* * *

जो भव्य प्राणी भक्ति से जिनभगवान के दर्शन, पूजन और स्तुति करता रहता है, वह तीन लोक में स्वयं ही दर्शन, पूजन और स्तुति के योग्य बन जाता है । अभिप्राय यह है कि वह स्वयं भी परमात्मा बन जाता है । (340)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, उपासक संस्कार, श्लोक-14)

* * *

वहाँ तक पंच पद की सेवा होती है, जब तक निजपद की सेवा न हो, निजपद की सेवा होने पर स्वयं ही पंच पद देव है । पंच पदों को विचारने और ध्याने से निजपद की शुद्धि होती है । निजपद की शुद्धि होने से निजपद भवजल से पार होने के लिये जहाज है । (341)

(श्री दीपचन्दजी, आत्मावलोकन, अनुभव दोहा नं.-13, 14)

* * *

पंच परमेष्ठी की वन्दना, अपने अशुभकर्म की निन्दा और अपराधों की प्रायश्चितादि विधि से निवृत्ति, यह सब तो पुण्य के कारण हैं, मोक्ष के कारण नहीं हैं; इसलिए पहली

अवस्था में पाप को दूर करने के लिये ज्ञानी पुरुष इनको करता है, कराता है और करते हुए को भला जानता है, तो भी निर्विकल्प शुद्धोपयोग अवस्था में ज्ञानी जीव इन तीनों में से एक भी न तो करता है और न करते हुए को भला जानता है। (342)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-64)

* * *

हे जिनेन्द्र भगवान! आप हमारे साथ मिलकर मुक्तिपुरी को न चलोगे? अर्थात् जब तक हम मुक्ति के निकट न पहुँचें, (तब तक) आपका आलम्बन व आपकी भक्ति और आपके स्वरूप का ध्यान आवश्यक है। उस मुक्ति मिलने से जिसका अनादि से सम्बन्ध है, वे कर्म क्षय हो जाते हैं, ऐसा जिनेन्द्र का उपदेश है। जो आनन्दसहित मुक्ति का ध्यान करते हैं, वे अनन्त कर्मों को जीत लेते हैं। (343)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-2, पृष्ठ-157)

* * *

अरे जीव! जिनवर को तेरे मन में स्थापित कर, विषय-कषाय को छोड़; सिद्धि महापुरी में प्रवेश कर और दुःखों को पानी में डुबोकर तिलांजलि दे। (344)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुडदोहा, गाथा-134)

* * *

यह रागरूपी अग्नि अनादिकाल से हमेशा जीव को जला रही है, इसलिए समतारूप अमृत का सेवन करना चाहिए। विषय-कषाय का अनादि काल से सेवन किया है। अब तो उनका त्याग करके आत्मस्वरूप को पहिचानना चाहिए—प्राप्त करना चाहिए। परपदार्थों में—परभावों में क्यों रच रहा है? वह पद तेरा नहीं, तू दुःख क्यों सहन कर रहा है? हे दौलतराम! अब तेरा आत्मपद-सिद्धपद, उसमें लगकर सुखी हो! यह अवसर गँवाना नहीं। (345)

(श्री दौलतरामजी, छहढाला, ढाल-6, श्लोक-15)

* * *

हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! समस्त वस्तुओं के समूह में जो मनुष्य हेय तथा उपादेय को देखनेवाला है, उस पुरुष की दृष्टि में 'परमात्मा आप ही सार हैं' और आपसे भिन्न

जितने परपदार्थ हैं, वे समस्त सूखे तृण के समान असार हैं। (346)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, ऋषभजिनस्तोत्र, गाथा-55)

* * *

जो (पर्यायें) अभी उत्पन्न हुई नहीं तथा जो उत्पन्न होकर विलय पा गयी है, वे (पर्यायें), वास्तव में अविद्यमान होने पर भी, ज्ञान के प्रति नियत होने से (ज्ञान में निश्चित-स्थिर-चिपकी हुई होने से, ज्ञान में सीधे ज्ञात होने से) ज्ञानप्रत्यक्ष वर्तती हुई, पत्थर के स्तम्भ में उत्कीर्ण भूत और भावि देवों की (तीर्थकर देवों की) भाँति अपना स्वरूप अक्रमरूप से (ज्ञान को) अर्पित करती हुई (वे पर्यायें) विद्यमान ही हैं। (347)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-38)

* * *

ज्ञान दूरवर्ती पदार्थों को—क्षेत्र-कालादि की दृष्टि से दूर स्थित पदार्थों को—समूह को भी स्वभाव से जानता है। क्या लोहचुम्बक दूर रहे हुए लोहे को अपनी ओर खींचता नहीं? खींचता ही है। (348)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, अधिकार-1, गाथा-23)

* * *

जीवद्रव्य के निपजाये हुए जो एक चेतनमय परिणाम है, उस परिणाम ने ही अपने में संसारभाव—अशुद्धभाव रचा है, इसलिए जीव के परिणाम संसारभाव के—अशुद्धभाव के कर्ता होते हैं। परन्तु जीवद्रव्य कभी कर्ता नहीं होता, यह निःसन्देह है। परन्तु एक बात है कि जीव के जो परिणाम, वे संसार के कर्ता हुए हैं, वे परिणाम इस जीवद्रव्य के हैं, इसलिए व्यवहारनय से जीवद्रव्य को भी कर्ता कहा जाता है। (349)

(श्री दीपचन्द्रजी, आत्मावलोकन, पृष्ठ-124)

* * *

हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने से मेरा अन्तःकरण ऐसे उत्कृष्ट आनन्द से परिपूर्ण हो गया है कि जिससे मैं मुझे मुक्ति प्राप्त हुआ ही समझता हूँ। (350)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, जिनवर स्तवन, श्लोक-3)

* * *

लोक का समागम करना, वह हमको दुःखरूप लगता है। धनवानों का समागम उससे भी विशेष दुःखरूप लगता है और भूपति का मिलना, वह तो मरणतुल्य दुःखद लगता है। अकेली एकान्तदशा हमको प्रिय लगती है। इच्छारूपी अग्नि से मूर्ख जीव जल रहे हैं, इच्छारहित निःस्पृही महा सुखी हैं। दानतरायजी कहते हैं कि ज्ञानी निःस्पृह निर्वाछक होकर कर्म की सर्व प्रवृत्ति को टालता है। (351)

(श्री दानत विलास, सवैया-23)

* * *

असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्यों का प्रमाण सात सौ करोड़ मात्र है। (352)

(श्री धवला, पुस्तक-5, पृष्ठ-276)

* * *

निर्ममता चिंतवने के लिये क्लेश नहीं होता, पर की याचना नहीं करनी पड़ती, किसी की खुशामद नहीं करनी पड़ती, कुछ चिन्ता नहीं होती, तथा कुछ धनादि खर्च नहीं करना पड़ता। इसलिए निर्ममत्वभाव की सतत चिन्तवना करना। (353)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-10, गाथा-17)

* * *

अधिक कितना कहना?—स्वर्ग से च्युत होने से पहले मिथ्यादृष्टि देव को तीव्र दुःख होता है, वह नारकी को भी नहीं होता। (354)

(श्री जिनसेन आचार्य, महापुराण)

* * *

देवालय के पाषाण, तीर्थ का जल और पोथी के सर्व काव्य इत्यादि जो वस्तुएँ खिली हुई दिखती हैं, वे सब कालरूपी अग्नि का ईंधन हो जायेंगी। (355)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-161)

* * *

कठिन परिश्रम करके यत्न से किये गये संसार के सभी कार्य, पानी में मिट्टी की पुतली की भाँति क्षणभर में बिल्कुल नाश हो जाते हैं। जब ऐसा है, तब हे मूर्ख! बहुत खेद की बात है कि इस सांसारिक कार्य की ही किसलिए प्रवृत्ति की जाती है? बुद्धिमान

प्राणी व्यर्थ निरर्थक परिश्रम करानेवाले कार्य में कभी भी निश्चय से व्यापार नहीं करता। (356) (श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-80)

* * *

जिस संसारभय से श्री तीर्थकरादि डरे, उस संसारभय से जो रहित है, वह बड़ा सुभट है। (357) (श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-1, पृष्ठ-24)

* * *

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं—हे भाई भव्य! मेरा उपदेश सुनो कि किसी भी उपाय से और किसी भी प्रकार का बनकर ऐसा काम कर, जिससे मात्र अन्तर्मुहूर्त के लिये मिथ्यात्व का उदय न रहे, ज्ञान का अंश जागृत हो, आत्मस्वरूप की पहिचान हो। जिन्दगी भर उसका ही विचार, उसका ही ध्यान, उसकी ही लीला में परम रस का पान करो और राग-द्वेषमय संसार का परिभ्रमण छोड़कर तथा मोह का नाश करके सिद्धपद प्राप्त करो। (358) (श्री बनारसीदास, नाटक समयसार, जीवद्वार, पद-4)

* * *

आत्मा मूर्ति (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) रहित होने पर भी, शरीर में स्थित होने पर भी तथा अदृश्य अवस्था को प्राप्त होने पर भी निरन्तर 'अहम्' अर्थात् 'मैं' इस उल्लेख से स्पष्टरूप से प्रतीति में आता है। ऐसी अवस्था में, हे भव्य जीवो! तुम आत्मोन्मुख इन्द्रिय समूह से संयुक्त होकर क्यों मोह को प्राप्त होते हो? गुरु की आज्ञा से भी भ्रम छोड़ो और अभ्यन्तर में निश्चल मन से उस आत्मा का अवलोकन करो। (359)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अधिकार-1, श्लोक-136)

* * *

जैसे मोह से मत्त मन, कंचन और कामिनी में रमता है, उसी प्रकार यदि अपने शुद्ध आत्मा में (रमे तो) मोक्ष के समीप शीघ्र क्या न आवे? मुक्ति समीपवर्ती क्यों न हो? (360) (श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-2, गाथा-17)

* * *

इन्द्रियसुखों के भाजनों में प्रधान देव हैं; उन्हें भी वास्तव में स्वाभाविक सुख

नहीं; उल्टे उन्हें स्वाभाविक दुःख ही देखने में आता है, क्योंकि वे पंचेन्द्रियात्मक शरीररूप पिशाच की पीड़ा द्वारा परवश होने से भृगुप्रपात (अर्थात् कि अति दुःख से उकताकर आपघात करने के लिये पर्वत के निराधार ऊँचे स्थान से खायी जानेवाली पछाड़) सम मनोज्ञ विषयों की ओर घुसते हैं। (361)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-71)

* * *

हे आत्मन्! तू जिस प्रकार काम के बाणों से पीड़ित होकर स्त्री के संयोग से प्राप्त होनेवाले सुख के विषय में अपने चित्त को करता है, उसी प्रकार यदि मुक्ति के कारणभूत जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट मत के विषय में उस चित्त को करता तो जन्म, जरा और मरण के दुःख से छूटकर किस-किस सुख को न प्राप्त होता—सब प्रकार के सुख को पा लेता। ऐसा उत्तम स्थिर बुद्धि से विचार करके उक्त जिनेन्द्र के मत में चित्त को स्थिर कर। (362)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-406)

* * *

जितना अनुराग विषयों में करता है—मित्र, पुत्र, स्त्री और धन, शरीर में करता है, उतनी रुचि-श्रद्धा-प्रतीतिभाव स्वरूप में तथा पंच परमगुरु में करे तो मोक्ष अति सुगम होता है। जैसे सन्ध्या का लाल सूर्य अस्तता का कारण है तथा प्रभात की सन्ध्या की लालिमा सूर्योदय को करती है, उसी प्रकार विविध परमगुरु बिना शरीरादि का राग केवलज्ञान की अस्तता का कारण है और पंच परमगुरु का राग केवलज्ञान के उदय का कारण है। ऐसा पंच परमगुरु-राग है। (363) (श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-93)

* * *

कर्मरूपी शत्रुओं को पकड़ने की इच्छा करनेवाले बुद्धिमानों को संसार, भोग और शरीर में वैराग्य बड़ी बुद्धिमानी के साथ सदा भाने योग्य है। (364)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-127)

* * *

हे आत्मन्! जैसे परपदार्थों को तू प्रतिदिन स्मरण करता है, उसी प्रकार यदि शुद्ध

आत्मस्वरूप को स्मरण करे तो मोक्ष क्या तुझे हस्तगत नहीं होगा ? (365)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-15, गाथा-6)

* * *

माता के गर्भ में रहने से जो दुःखी होता है, वह नरक की भाँति अतिशय तीव्र होता है और कुम्भीपाक समान होता है। (घड़े की भाँति शरीर को अग्नि में डालता है)। नरक में नारकी जीव अन्य नारकी को बहुत व्यथित कर-करके जलाते हैं। वैसा दुःख गर्भ में जीव को होता है। और गर्भाशय रुधिर से अतिशय घृणास्पद होता है। ऐसे गर्भ में मुझे रहना पड़ेगा, ऐसा भय जिनके मन में उत्पन्न होने से, उससे दूर रहने के लिये मुनिराज हमेशा जिनवाणी के चिन्तन में तत्पर होते हैं। (366)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, अणगार भावना, गाथा-41)

* * *

जिनके गर्भावतरण से पहले सर्वोत्कृष्ट ऋद्धि का स्वामी इन्द्र दोनों हाथ जोड़कर अत्यन्त विनीत परिणाम से किंकर की भाँति जिन्हें वन्दन करता है, और जो महान आत्मा युगसृष्टा है, चक्रवर्ती जैसा जिनके निधियों का स्वामी विशिष्ट पुण्यवान पुत्र है, ऐसे श्री आदिनाथस्वामी ने क्षुधावन्तरूप से पृथ्वी में घर-घर आहार के लिये परिभ्रमण किया। अहो! विधाता (कर्म) का विलास वास्तव में आश्चर्य प्राप्त कराता है, अतिशय अलंघ्य, किसी से मिटाया नहीं जा सकता, ऐसा महा समर्थ है। (367)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-119)

* * *

स्वयं किये हुए कर्म के फलानुबन्ध को स्वयं भोगने के लिये तू अकेला जन्म में तथा मृत्यु में प्रवेश करता है, दूसरा कोई (स्त्री-पुत्र-मित्रादिक) सुख-दुःख के प्रकारों में बिल्कुल सहायभूत नहीं होता। अपनी आजीविका के लिये (मात्र अपने स्वार्थ के लिये स्त्री-पुत्र-मित्रादिक) ठगों की टोली तुझे मिली है। (368)

(श्री सोमदेव, यशस्तिलकचम्पू, अधिकार दूसरा, श्लोक-119)

* * *

पागल लोग तुझे गहल-पागल कहे तो इससे तू क्षुब्ध मत होना, लोग चाहे जैसे

बोलें, तू तो मोह को उखाड़कर महान सिद्धिनगरी में प्रवेश करना। (369)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-143)

* * *

पैसा, कुटुम्ब, हाथी, घोड़ा, राज्य तो अपने काम में आते नहीं, परन्तु सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है—जो प्राप्त होने के पश्चात् अचल रहता है। उस सम्यग्ज्ञान का कारण आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान कहा है; इसलिए हे भव्य जीवो! करोड़ों उपाय करके उस भेदविज्ञान को हृदय में धारण करो। (370)

(श्री पण्डित दौलतरामजी, छहढाला, ढाल-4, श्लोक-6)

* * *

मैं एक चैतन्यमयी हूँ और कुछ अन्यरूप कभी नहीं होता हूँ। मेरा किसी भी पदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह मेरा पक्ष परम मजबूत ऐसा ही है। (371)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, एकत्वसमति, श्लोक-54)

* * *

दयारहित यमराज, जो मरण से डरता है, उसको छोड़ता नहीं है; इसीलिए बेमतलब डर न कर। अपना चाहा हुआ सुख कभी प्राप्त नहीं होता है; इसलिए तू इस सुख की इच्छा न कर। जो मर गया, नष्ट हो गया, उसका सोच करने पर लौटकर नहीं आता है; इसलिए बेमतलब शोक न कर। समझकर काम करनेवाले विद्वान बेमतलब काम किसलिए करेंगे? (372)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-73)

* * *

बहुत लम्बा समय अतिचाररहित ज्ञान-दर्शन-चारित्र में प्रवृत्ति करके भी कोई पुरुष मरण के समय चार आराधना का विनाश करके अनन्त संसारी होता हुआ भगवान ने देखा है; इसलिए मरण के समय जैसे आराधना बिगड़े नहीं, वैसे यत्न करो। (373)

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-15)

* * *

(संसार से वैराग्य होने पर चक्रवर्ती सोचता है कि) यह चक्रवर्ती का साम्राज्य कुम्हार की जीवनी के समान है क्योंकि जिस प्रकार कुम्हार अपना चक्र (चाक)

घुमाकर मिट्टी से बने हुए घड़े आदि बर्तनों से अपनी आजीविका चलाता है, उसी प्रकार चक्रवर्ती भी अपना चाक (चक्ररत्न) घुमाकर मिट्टी से उत्पन्न हुए रत्न या कर (टैक्स) आदि से अपनी आजीविका चलाता है—भोगोपभोग की सामग्री जुटाता है, इसलिए इस चक्रवर्ती के साम्राज्य को धिक्कार है। (374)

(श्री जिनसेन आचार्य, आदि पुराण, भाग-2, श्लोक-235)

* * *

अरेरे! संसार में भ्रमते जीव को नहीं तो सन्त दिखते या नहीं तत्त्व दिखता और पर की रक्षा का भार कन्धे पर लेकर घूमता है! इन्द्रियों और मनरूपी फौज को साथ लेकर पर की रक्षा के लिये भटका करता है! (375)

(श्री मुनिराज रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-191)

* * *

जिससे अनादि मिथ्यात्वरोग मिटे, ऐसे निमित्तों का मिलना तो उत्तरोत्तर महादुर्लभ जानकर इस (हल्के) निकृष्ट काल में जैनधर्म का यथार्थ श्रद्धानादि होना तो कठिन है ही, परन्तु तत्त्वनिर्णयरूप धर्म तो बाल, वृद्ध, रोगी, निरोगी, धनवान, निर्धन, सुक्षेत्री तथा कुक्षेत्री इत्यादि सर्व अवस्था में प्राप्त होनेयोग्य है, इसलिए जो पुरुष अपने हित का वांछक है, उसे तो सर्वप्रथम यह तत्त्वनिर्णयरूप कार्य ही करनेयोग्य है। (376)

(श्री भागचन्दजी, सत्तास्वरूप, पृष्ठ-4)

* * *

जगत में दूसरे जीवों की टोके बिना आत्मगुण धारक जीव बहुत अल्प हैं। बहुधा जगतवासी लोकनिन्दा के भय से ही पूर्व महापुरुषों ने योजित सुन्दर बाह्य मर्यादा में प्रवर्तते हैं। और वह भी हितकारक है। भगवान का और आत्ममलिनता का जीव को जितना भय नहीं, उतना जगत का भय जीवों को मर्यादा में रख रहा है, बाकी सर्व जीव मनोयोग प्रमाण काययोग को यदि ढीला करे तो जगत की और जगतवासी जीवों की कितनी अकथ्य अन्धाधुंधी हो? दुर्जन एक प्रकार से सज्जनों की सज्जनता के अवैतनिक (बिना वेतन के) रखवाले हैं, इसलिए ही महापुरुष कहते हैं कि—‘जगत एक प्रकार से गुरु की गरज निभाता है।’ (377) (श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-140)

* * *

बहुत लम्बे समय से जिस घड़े में मल-मूत्र भरे हों, उस घड़े को जल से धोने पर भी उसमें से दुर्गन्ध नहीं जाती। उसी प्रकार सम्यक्त्वरूपी जल से ज्ञानामृतस्वरूप घट को धोने से भी विषयजन्य वासना के संस्कार नहीं जाते, इसलिए सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को, जैसे रोगी को औषधि सेवन की रुचि नहीं, तो भी रोगवश औषधि का सेवन करना पड़ता है, उसी प्रकार विषयों की रुचि नहीं होने पर भी, वासना के संस्कारवश विषयों का त्याग नहीं हो सकता। (378) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, रयणसार, गाथा-139-140)

* * *

मिथ्यादृष्टि जीव को जो प्रगट है, ऐसा जीव-कर्म के एकत्वरूप विपरीत संस्कार क्यों प्रवर्त रहा है, यह आश्चर्य है! भावार्थ ऐसा है कि सहज जीव-अजीव भिन्न है, ऐसा अनुभव करना तो बराबर है, सत्य है; मिथ्यादृष्टि जो एक करके अनुभव करता है, वह ऐसा अनुभव कैसे आता है, यह बड़ा अचम्भा है! (379)

(श्री राजमलजी, कलशटीका, कलश-43)

* * *

हे प्राणी! प्रायः प्रत्येक प्राणियों के अन्तःकरण वह आशारूप महान, गहन, गम्भीर और अति गहरा गर्त (कुँआ) है। और वह अमर्यादित है, जिसमें एक गर्त में इस तीन लोक की समस्त विभूति मात्र एक अणु समान सूक्ष्मरूप से वर्तती है, और जगतवासी प्राणी तो अनन्तानन्त हैं, तो इस तीन लोक की समस्त विभूति का बँटवारा करने पर किसे-किसे कितनी-कितनी आवे? अर्थात् तीन लोक की समस्त विभूति कदाचित् एक प्राणी के हाथ में आ जाये तो भी उसकी तृष्णा शान्त नहीं होती। धनादि सर्व सम्पत्ति जगत में संख्यात है, जबकि उसके ग्राहक अनन्तानन्त हैं। इसलिए हे आत्मा! तेरी यह विषय की आकांक्षा व्यर्थ है। (380)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-36)

* * *

शुभ-आचरणरूप कर्म और अशुभ-आचरणरूप कर्म—ऐसे समस्त कर्म का निषेध किये जाने पर और इस प्रकार निष्कर्म अवस्था से प्रवर्तते मुनि कहीं अशरण नहीं है। (क्योंकि) जब निष्कर्म अवस्था (निवृत्ति अवस्था) प्रवर्तती है, तब ज्ञान में आचरण

करता हुआ—रमण करता हुआ—परिणमता हुआ ज्ञान ही उन मुनियों को शरण है। वे उस ज्ञान में लीन होते हुए परम अमृत को स्वयं अनुभव करते हैं—आस्वादते हैं। (381)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-104)

* * *

साधु पुरुष का चित्त एक पक्का (श्वेत) बाल देखने से ही शीघ्र वैराग्य पा जाता है, परन्तु उससे विपरीत अविकेकी मनुष्य की तृष्णा प्रतिदिन वृद्धत्व के साथ बढ़ती जाती है अर्थात् जैसे-जैसे उसकी वृद्धावस्था बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उत्तरोत्तर उसकी तृष्णा भी बढ़ती जाती है। (382)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अधिकार-1, श्लोक-171)

* * *

जो जीव वास्तव में मोक्ष के लिये उद्यमी चित्तवाला वर्तता हुआ, अचिन्त्य संयमतपभार सम्प्राप्त किया होने पर भी परमवैराग्य भूमिका का आरोहण करने में समर्थ ऐसी प्रभुशक्ति उत्पन्न नहीं की होने से, 'धुनकी से चिपकी हुई रुई के न्याय से नव पदार्थ तथा अर्हतादि की रुचिरूप (प्रीतिरूप) परसमयप्रवृत्ति का परित्याग नहीं कर सकता, वह जीव वास्तव में साक्षात् मोक्ष को प्राप्त नहीं करता परन्तु देवलोकादि के क्लेश की प्राप्तिरूप परम्परा द्वारा उसे प्राप्त करता है। (383)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पंचास्तिकाय टीका, गाथा-170)

* * *

जैसे शिकारी के उपद्रव द्वारा भयभीत हुआ खरगोश अजगर के खुल्ले मुख को दर / बिल जानकर प्रवेश करता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव क्षुधा, तृषा, कामक्रोधादिक तथा इन्द्रिय के विषय की तृष्णा के आताप द्वारा संतापित होकर विषयादिरूप अजगर के मुख में प्रवेश करता है; उसमें प्रवेश करके अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, सत्तादिक भावप्राण का नाश करके निगोद में अचेतनतुल्य होकर अनन्त बार जन्म-मरण करता हुआ अनन्त काल व्यतीत करता है कि जहाँ आत्मा अभावतुल्य ही है। (384)

(श्री समन्तभद्राचार्य, रत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा-121, सदासुखदासजी की टीका, पृष्ठ-609)

* * *

मेरा आयुष्य बहुत लम्बा है, हाथ-पैर इत्यादि सब अवयव बहुत मजबूत हैं, यह लक्ष्मी भी मेरे वश में है तो फिर मैं व्यर्थ व्याकुल किसलिए होऊँ? उत्तरकाल में जब वृद्धावस्था प्राप्त होगी, तब मैं निश्चिन्त होकर बहुत धर्म करूँगा। खेद की बात है कि इस प्रकार का विचार करते-करते यह मूर्ख प्राणी काल का ग्रास बन जाता है। (385)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अधिकार-1, श्लोक-170)

* * *

सम्यग्दृष्टि को लखनेयोग्य, ग्रहण करनेयोग्य, अनुभव करनेयोग्य अपने आत्मा के स्वभाव को अनुभव कर लिया है। वह आत्मिक पद के भीतर जमने के लिये विचक्षण हो गया है। भेदविज्ञान की कला से सम्यक्त्वी के भीतर स्वानुभव की कला जग गयी है। उसने उद्योतरूप आत्मदर्शन को देख लिया है तथा प्रकाशमान अपने प्रिय परमात्मस्वभाव को प्रगट करने का प्रेम उसने प्राप्त कर लिया है। (386)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-1, पृष्ठ-110)

* * *

एक अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई वैरी नहीं है। इसलिए हे योगी! जिस भाव से तूने कर्मों का निर्माण किया, उस परभाव को तू मिटा। (387)

(श्री मुनिराज रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-117)

* * *

इस संसार में विषयान्ध जीवों ने कौतूहलपूर्वक भोग भोगकर छोड़े हुए पदार्थों को मोहमूढ़ जीव बारम्बार इच्छता है। तू उन परवस्तुरूप भोगादि में इतना तीव्र रागी हुआ है कि उन्हें तू बारम्बार आश्चर्ययुक्त और महत्त्वपूर्ण दृष्टि से देख रहा है कि मानो इस क्षण से पहले ये भोगादि पदार्थ पूर्व में मैंने कभी देखे नहीं या अनुभव नहीं किये। परन्तु भाई! यह भोगादि पदार्थ तूने पूर्व में अनन्त बार भोगे हैं। अरे! तूने इतने ने ही नहीं, परन्तु अनन्त जीवों ने अनन्त बार तेरे ही वर्तमान अभिलाषित भोगादिक पदार्थों को भोगे हैं और छोड़े हैं। परन्तु भाई! उसकी तुझे कुछ भी सुध नहीं रही, इसीलिए वह तेरी तथा दूसरे अनन्त जीवों की अनन्त बार छोड़ी हुई उच्छिष्ट को तू बारम्बार फिर-फिर से आदरयुक्त भाव से और आश्चर्ययुक्तरूप से ग्रहण किया करता है। (388)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-50)

* * *

विद्वान साधु की बुद्धिरूपी नदी आगम में स्थित होकर निरन्तर वहाँ तक ही आगे-आगे दौड़ती है, जहाँ तक उसका हृदय उत्कृष्ट आत्मतत्त्व के ज्ञान से नहीं भिंदता है। (389) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, सद्बोध चन्द्रोदय, गाथा-36)

* * *

जैसे कोई निशाचरों के नेत्र स्वयमेव अन्धकार को नष्ट करने की शक्तिवाले होने से, अन्धकार को दूर करने के स्वभाववाले दीपक—प्रकाशादिक से कुछ प्रयोजन नहीं (अर्थात् दीपक इत्यादि का प्रकाश कुछ नहीं करता), उसी प्रकार यद्यपि अज्ञानी 'विषय, सुख के साधन हैं' ऐसी बुद्धि द्वारा विषयों का व्यर्थ अध्यास (आश्रय) करते हैं तथापि संसार में या मुक्ति में स्वयमेव सुखरूप से परिणमते इस आत्मा को विषय क्या करते हैं? (390) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-67)

* * *

जो योगी ध्यानी मुनि व्यवहार में सोता है, वह अपने स्वरूप के काम में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह अपने आत्मकार्य में सोता है। (391)

(श्री कुन्दकुन्द आचार्य, मोक्षपाहुड़, गाथा-31)

* * *

हे जीव! आत्मकल्याण के लिये कुछ यत्न कर! कर! क्यों शठ होकर प्रमादी बन रहा है? जब यह काल अपनी तीव्र गति से आ पहुँचेगा, तब यत्न करने पर भी वह रुकेगा नहीं—ऐसा तू निश्चय समझ। कब, कहाँ से और किस प्रकार से यह काल अचानक आ चढ़ेगा, इसकी भी कुछ खबर नहीं। यह दुष्ट यमराज जीव को कुछ भी सूचना पहुँचाये बिना अचानक हमला करता है, उसका तो कुछ ख्याल कर! काल की अप्रहत अरोक गति के समक्ष मन्त्र, तन्त्र और औषधादि सर्व साधन व्यर्थ है! (392)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-78)

* * *

चेतना शुद्ध जीव का स्वरूप है, उसे जानने से ज्ञाता-जीव को ऐसे भाव होते हैं—अब मैंने शुद्ध चेतना का स्वरूप जाना है। मैं ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप हूँ, विकाररूप

मैं नहीं, सिद्ध समान हूँ, बन्ध-मोक्ष, आस्रव, संवररूप मैं नहीं। अब मैं संसार से भिन्न हुआ, स्वरूप गज पर मैं आरूढ़ हुआ, स्वरूपगृह में प्रवेश किया। इन संसार परिणामों का मैं तमाशगीर हुआ। अब मैं स्वयं अपने स्वरूप को देखूँ-जानूँ, इतना विचार तो विकल्प है और ज्ञान का प्रत्यक्ष रस वेदना, वह भाव में अनुभव है। विचार प्रतीतिरूप साधक है, अनुभव का भाव साध्य है। साधक-साध्यभेद जाने तो वस्तु की सिद्धि होती है। (393)

(श्री दीपचन्दजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-46)

* * *

एक घड़ी या अर्ध घड़ी भी प्रतिदिन जिनाकार (जिनस्वरूप) जैसे अपने स्वरूप का अनुसन्धान (ध्यान) करना चाहिए; जिससे भव-भव के कर्मों के ढेर भी इस प्रकार विलीन हो जायेंगे कि जिस प्रकार सूर्य का उदय होते ही अन्धकार विलीन हो जाता है। (394)

(श्री नेमिश्वर-वचनमृत शतक, श्लोक-28)

* * *

तत्त्वदृष्टि से देखने पर, राग-द्वेष का उत्पादक अन्य द्रव्य किंचित् दिखाई नहीं देता, क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अन्तरंग में अत्यन्त प्रगट प्रकाशित होती है। (395)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-219)

* * *

मानवों के जो-जो स्वभाव कहे गये हैं, वे-वे अशुभ ज्ञान को या शुभ ज्ञान को अनुभव करते हैं, जो कोई भी मानव शुद्ध ज्ञान के धारी हैं, उनका विज्ञान या भेदविज्ञान अपने आत्मा को निश्चय से परमात्मारूप जानता है, या अनुभव करता है। (396)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-7)

* * *

संसार परिणामी मोहमुग्ध जीव को अपने अस्तित्व का निश्चय करने का या उसके असाधारण धर्मों के प्रति उपयोग को प्रेरित कर 'मैं जीव हूँ' इस प्रकार का सम्यक् निर्णय करने का अनादि मोह के कारण अवकाश कहाँ है? नहीं तो अपने से अपना निर्णय न हो, इतना अधिक जीव पदार्थ कहीं अन्धेरे में नहीं पड़ा है। वास्तव्य विचारने

से स्पष्ट समझ में आता है, इतना अधिक स्वयं प्रकाशित पदार्थ है। (397)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-241)

* * *

तत्त्व का अवलम्बन करनेवाले ऐसे मुझे जो परद्रव्य का परिज्ञान पुस्तकों से होता है, वह भी हेय है तो परद्रव्य कैसे हेय न होंगे ? (398)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-15, गाथा-13)

* * *

जो शुभोपयोगजन्य उदयगत पुण्य की सम्पदावाले देवादिक (अर्थात् शुभोपयोगजन्य पुण्य के उदय से प्राप्त होती ऋद्धिवाले देव इत्यादि) और अशुभोपयोगजन्य उदयगत पाप की आपदावाले नारकादिक—ये दोनों ही स्वाभाविक सुख के अभाव के कारण अविशेषरूप से (अन्तर बिना) पंचेन्द्रियात्मक शरीर सम्बन्धी दुःख को ही अनुभव करते हैं, तो फिर परमार्थ से शुभ-अशुभ उपयोग की पृथक् व्यवस्था टिकती नहीं है। (399)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-72)

* * *

हे जीव! देह के जरा-मरण देखकर तू भय न कर; अपने आत्मा को तू अजर-अमर परम ब्रह्म जान। (400)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-33)

* * *

ज्ञानमयी निजतत्त्व के अतिरिक्त अन्य सर्व भाव परगत है, (इसलिए) उन्हें छोड़कर शुद्ध स्वभाववाले अपने आत्मा की ही भावना करनी चाहिए। (401)

(श्री देवसेन आचार्य, तत्त्वसार, गाथा-43)

* * *

जैसे निश्चय से (वास्तव में) जिसने सिंह को जाना नहीं, उसे बिल्ली ही सिंहरूप होती है, उसी प्रकार जिसने निश्चय का स्वरूप जाना नहीं, उसको व्यवहार ही निश्चयरूप होता है अर्थात् वे व्यवहार को ही निश्चय मान बैठते हैं। (402)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्धिउपाय, श्लोक-7)

* * *

जो मोक्ष के सच्चे कारण को तो जानता नहीं, और मात्र अक्षर के ज्ञान द्वारा ही गर्वित होकर घूमता है, वह तो, जैसे वंशरहित वैश्यापुत्र जहाँ-तहाँ हाथ लम्बाकर भीख माँगता भटकता है, उसके जैसा है। (403)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-86)

* * *

यह साक्षात् (सर्व प्रकार से) संवर वास्तव में शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से होता है; और उस शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि भेदविज्ञान से ही होती है। इसलिए वह भेदविज्ञान अत्यन्त भानेयोग्य है। (404)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, श्री समयसार टीका, कलश-129)

* * *

जो सिद्ध हो चुके हैं, भविष्य में होंगे और वर्तमान में होते हैं, वे सब निश्चय से आत्मदर्शन से ही सिद्ध हुए हैं—यह भ्रान्तिरहित समझो। (405)

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-107)

* * *

शुद्ध चैतन्यद्रव्य के साथ अनमेल हैं जो रागादि अशुद्धभाव, शरीर आदि, सुख-दुःख आदि नाना प्रकार की अशुद्ध पर्यायें, वे सब जीवद्रव्यस्वरूप नहीं। कैसे हैं अशुद्धभाव? मेरे शुद्ध चैतन्यस्वरूप के साथ अनमेल हैं। किस कारण से? क्योंकि जिनस्वरूप को अनुभवने पर, जितने हैं रागादि अशुद्ध विभावपर्यायें, वे मुझे परद्रव्य हैं, क्योंकि शुद्ध चैतन्यलक्षण के साथ मिलते नहीं, इसलिए समस्त विभाव परिणाम हेय हैं। (406)

(श्री राजमलजी, कलशटीका, कलश-185)

* * *

‘मैं पर का नहीं, पर मेरे नहीं, मैं एक ज्ञान हूँ’ ऐसा जो ध्याता है, वह ध्याता ध्यानकाल में आत्मा अर्थात् शुद्धात्मा होता है। (407)

(श्री कुन्दकुन्द आचार्य, प्रवचनसार, गाथा-191)

* * *

नख से लेकर शिखा तक इस पूरे देह में मैं ही नर-चेतनरूप बसता हूँ। जिस

क्षण में मुझे ही देखता हूँ, उस क्षण में चेतनभूप हूँ। (408)

(श्री दीपचन्द्रजी, आत्मावलोकन, पृष्ठ-161)

* * *

शुद्ध-अशुद्ध की जो विकल्पना (विपरीत कल्पना) वह मिथ्यादृष्टि को सदैव होती है। सम्यग्दृष्टि को तो हमेशा (ऐसी मान्यता होती है कि) कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व दोनों शुद्ध हैं। इस प्रकार परमागम के अतुल अर्थ के सारासार के विचारवाली सुन्दर बुद्धि द्वारा जो सम्यग्दृष्टि स्वयं जानते हैं, उन्हें हम वन्दन करते हैं। (409)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-72)

* * *

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि जिसे दर्शन की विशुद्धि हो गयी है, वह पवित्र आत्मा मुक्त ही है—ऐसा हम मानते हैं। क्योंकि दर्शनशुद्धि को ही मोक्ष का मुख्य कारण मानने में आया है। (410)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानाणैव, सर्ग-6, गाथा-57)

* * *

अब मैंने उस इष्ट प्रिय वस्तु को देख लिया है, जिसके लिये मेरा उद्देश्य था, जिसके लिये मेरी चाह थी, अर्थात् मैं शुद्धस्वरूप का अनुभव चाहता था, सो मुझे सम्यग्दर्शन के लाभ से शुद्धात्मा का दर्शन या अनुभव हो गया है। आत्मा का दर्शन होते ही मानो मेरे प्रगट सर्व बन्धन विला गये हैं अर्थात् मैंने शरीर और कर्मों के बन्धनों को पर अनुभव किया है, निश्चयनय के अनुसार मुझमें यह बन्धन दिखते ही नहीं, मैं अपने को बन्धनमुक्त अनुभव कर रहा हूँ। अनन्त गुणधारी आत्मा की रुचि होने से ही दर्शनमोहनीयकर्म का अन्धकार दूर हो गया है। (411)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-2, पृष्ठ-197)

* * *

मोक्षाभिलाषियों के लिये चैतन्यस्वरूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है, आत्मा से अन्य कोई भी मोक्षमार्ग नहीं तथा आनन्द भी आत्मा में ही है परन्तु उसके अतिरिक्त अन्य कहीं भी आनन्द की प्रतीति नहीं होती, इसलिए भव्य जीवों को उसका ध्यान करना चाहिए। (412)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, एकत्व सप्तति, श्लोक-46)

* * *

जो शुद्ध आत्मा को अशुचि शरीर से भिन्न समझता है, वह शाश्वत् सुख में लीन होकर समस्त शास्त्रों को जानता है। (413) (श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-95)

* * *

पर-अवलम्बन दुःख है, स्व-अवलम्बन सुखरूप है, इस प्रगट लक्षण को पहिचानकर सुख के भण्डाररूप अपने को अवलम्बन करना। (414)

(श्री दीपचन्द्रजी, आत्मावलोकन, पृष्ठ-162)

* * *

वस्तुस्वरूप का प्रत्यक्षरूप से आस्वाद आता है, उसका नाम अनुभव है। और अनुभवशील जीव जैसा अनुभव करे, वैसा कहता है; इसलिए द्रव्यपिण्डरूप अथवा जीवसम्बन्धी भावपरिणामरूप जितने विभावरूप अशुद्ध परिणाम, वे सब सर्वथा नहीं... नहीं। अब वह जैसा है, वैसा कहते हैं—समस्त विकल्पों से रहित चैतन्य के समूहरूप उद्योत का समुद्र मैं हूँ। (415)

(श्री राजमलजी, कलशटीका, कलश-30)

* * *

श्री जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ उपभोग यह है कि संसार में भ्रमण करानेवाले पाँचों इन्द्रियों के और मन के उपभोगों को त्याग करके जिनवाणी के अक्षरों के वाक्यों को भले प्रकार जाना जावे तथा अपने भीतर आत्मा को शुद्ध परमात्मा के समान अनुभव किया जावे। (416)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-494)

* * *

देहदेवल में जो शक्तिसहित देव बसता है, हे योगी! वह शक्तिमान शिव कौन है? उसका भेद तू शीघ्र खोज ले। (417) (श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-53)

* * *

जो जीव परद्रव्य में रत है, रागी है, वह तो अनेक प्रकार के कर्मों से बँधता है, कर्मों का बन्ध करता है, और जो परद्रव्य से विरत है, रागी नहीं है, वह अनेक प्रकार के कर्मों से छूटता है, यह बन्ध का और मोक्ष का संक्षेप में जिनदेव का उपदेश है।

(418)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्षपाहुड, गाथा-13)

* * *

सूर्यकान्तमणि की भाँति (अर्थात् जैसे सूर्यकान्तमणि स्वयं से ही अग्निरूप परिणमती नहीं, उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य का बिम्ब निमित्त है, उसी प्रकार) आत्मा अपने को रागादि का निमित्त कभी भी नहीं होता, उसमें निमित्त परसंग ही (-परद्रव्य का संग ही) है, ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है। (सदा ही वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, किसी ने किया नहीं।) (419) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-175)

* * *

भावकर्म जो मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्ध चेतनारूप परिणाम, वह अशुद्ध परिणाम वर्तमान में जीव के साथ एक परिणमनरूप है, तथा अशुद्ध परिणाम के साथ वर्तमान में जीव व्याप्य-व्यापकरूप परिणमता है, इसलिए उन परिणामों का जीव से भिन्नपने का अनुभव कठिन है, तथापि सूक्ष्म सन्धि का भेद पाड़ने पर भिन्न प्रतीति होती है। (420)

(श्री राजमलजी, कलशटीका, कलश-181)

* * *

परमात्मतत्त्व के प्रतिपादक शास्त्र के मात्र एक ही वचन द्वारा भी जो सारभूत आत्मतत्त्व को जानते हैं, वे तो शास्त्र समुद्र का पार पायेंगे, दूसरे आत्मज्ञान बिना दिन-रात पढ़कर थक जाये तो भी शास्त्र का और भव का पार नहीं पायेंगे। (421)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-49)

* * *

‘मेरा ऐसा मन्तव्य है कि—आत्मा भिन्न है और उसके पीछे जानेवाला कर्म भिन्न है; आत्मा और कर्म की अति निकटता से जो विकृति होती है, वह भी उसी प्रकार से (आत्मा से) भिन्न है; और काल-क्षेत्रादि जो है, वे भी (आत्मा से) भिन्न हैं। निज-निज गुणकला से अलंकृत यह समस्त भिन्न-भिन्न हैं (अर्थात् अपने-अपने गुण और पर्यायों से युक्त सर्व द्रव्य अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं)।’ (422)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, एकत्व सप्तति, श्लोक-79)

* * *

नरभव कहीं सदा तो रहता नहीं, साक्षात् मोक्षसाधन ज्ञानकला इस भव के बिना अन्य जगह उपजती नहीं। इसलिए बारम्बार कहते हैं कि निजबोधकला के बल द्वारा

निजस्वरूप में रहो। निरन्तर यही यत्न करो। ऐसा बारम्बार कहना तो बालक भी नहीं कराता। तुम तो अनन्त ज्ञान के धनी बनकर, ऐसी भूल धारते हो, यह देखकर महा आश्चर्य होता है। (423) (श्री दीपचन्दजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-38)

* * *

हे पण्डित! जैसे लोहे की साँकल को तू साँकल समझता है, उसी तरह तू सोने की साँकल को भी साँकल ही समझ। जो शुभ-अशुभ दोनों भावों का परित्याग कर देते हैं, निश्चय से वे ही ज्ञानी होते हैं। (424) (श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-72)

* * *

मुनिवरजन निरन्तर स्वरूप सेवन करते हैं। इसलिए मुझे भी मेरा त्रैलोक्यपूज्य सर्वोत्कृष्ट पद अवलोककर निजकार्य करना है। कर्मघटा में मेरा स्वरूपसूर्य छिपा रहा है। मेरे स्वरूपसूर्य का प्रकाश कर्मघटा से जरा भी घात नहीं हुआ, मात्र आवरण को प्राप्त हुआ है। चाहे जितना उस कर्मघटा का जोर बढ़ जाये, तो भी वह मेरे स्वरूप को घात नहीं सकता, चेतन को अचेतन कर नहीं सकता। मेरी ही भूल हुई, स्वपद को भूला, भूल मिट जाये तो मेरा स्वपद तो जैसा का तैसा ही बना रहता है। (425)

(श्री दीपचन्दजी, अनुभव प्रकाश, पृष्ठ-11)

* * *

कोई पुरुष निर्विकार-शुद्धात्मभावनास्वरूप परमोपेक्षा संयम में स्थित रहना चाहता है, परन्तु उसमें स्थित रहने को अशक्त वर्तता हुआ काम-क्रोधादि अशुभ परिणाम के वंचनार्थ अथवा संसारस्थिति के छेदनार्थ जब पंच परमेष्ठी के प्रति गुणस्तवनादि भक्ति करता है, तब वह सूक्ष्म परसमयरूप से परिणत वर्तता हुआ सराग सम्यग्दृष्टि है। और यदि वह पुरुष शुद्धात्मभावना में समर्थ होने पर भी, उसे (शुद्धात्मभावना को) छोड़कर 'शुभोपयोग से ही मोक्ष होता है' ऐसा एकान्त से माने तो वह स्थूल परसमयरूप परिणाम द्वारा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होता है। (426)

(श्री जयसेन आचार्य, पंचास्तिकाय टीका, गाथा-165)

* * *

वास्तव में यह, सर्व पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय स्वभाव की प्रकाशक पारमेश्वरी (-परमेश्वर ने कही हुई) व्यवस्था भली-उत्तम-पूर्ण-योग्य है, दूसरी कोई नहीं, क्योंकि बहुत से (जीव) पर्यायमात्र को ही अवलम्बकर तत्त्व की अप्रतिपत्ति जिसका लक्षण है, ऐसे मोह को प्राप्त करते हुए परसमय होते हैं। (427)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-93)

* * *

सम्यग्दर्शन की निर्मल दृष्टि जब प्रकाशित होती है, तब अहितकारी पर्याय सम्बन्धी राग-द्वेषादि मल दिखलाई नहीं देते हैं। इसी की सहायता से ही केवलज्ञान पैदा होता है। इसके अभ्यास को चलाने से परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले भाव दूर हो जाते हैं। (428)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-553)

* * *

जगत में जो कुछ जितनी वस्तुएँ जो कुछ जितने चैतन्यस्वरूप और अचैतन्यस्वरूप द्रव्य में और गुण में निज रस से ही अनादि से ही वर्तती हैं, वे वास्तव में अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा तोड़ना अशक्य होने से, उसमें ही (अपने उतने द्रव्य-गुण में ही) वर्तती है परन्तु द्रव्यान्तर और गुणान्तररूप से संक्रमण को नहीं पाती। और द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप से नहीं संक्रमित होती हुई, वह अन्य वस्तु को कैसे परिणामा सकती है? (कभी नहीं परिणामा सकती।) इसलिए परभाव किसी से नहीं किये जा सकते। (429)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार-टीका, गाथा-103)

* * *

ब्रह्मचर्य, तप, संयम, व्रत, दान, पूजा आदि अथवा असंयम, कषाय, विषय-भोग आदि, इसमें कोई शुभ और कोई अशुभ है, आत्मस्वभाव का विचार किया जाये तो दोनों ही कर्मरूपी रोग हैं। भगवान् वीतरागदेव ने दोनों को बन्ध की परम्परा कहा है। आत्मस्वभाव की प्राप्ति में दोनों त्याज्य हैं। एक शुद्धोपयोग ही संसार-समुद्र से तारनेवाला, राग-द्वेष का नाश करनेवाला और परमपद देनेवाला है। (430)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, पुण्य-पाप एकत्वद्वार, पद-7)

* * *

कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसी आशंका करेगा कि जीवद्रव्य ज्ञायक है, समस्त ज्ञेय को जानता है, इसलिए परद्रव्य को जानने से किंचित् थोड़ा-बहुत रागादि परिणति का विकार होता होगा? उत्तर इस प्रकार है कि परद्रव्य को जानने से तो एक निरंशमात्र भी (विकार) नहीं, अपनी विभाव परिणति करने से विकार है, अपनी शुद्ध परिणति होने से निर्विकार है। (431) (श्री राजमलजी, कलशटीका, कलश-222)

* * *

प्रतिमा उसे कहा गया है, जहाँ रत्नत्रयधर्म को तथा शुद्ध उत्कृष्ट आत्मतत्त्व को मनन किया जावे। यह अनुभव किया जावे कि मेरे आत्मा का अपना ही स्वभाव शुद्ध स्वरूपी परमात्मा है। ऐसा स्वरूपाचरणचारित्र हो, तब प्रतिमा कही जाती है। (432) (श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-303)

* * *

जैसे दूध में पड़ी हुई इन्द्रनीलमणि अपने तेज से दूध में चारों ओर व्याप्त हो जाती है—अपने तेज जैसा नीला बनाया लेती है, उसी प्रकार ज्ञेय के मध्य में रहा हुआ ज्ञान अपने प्रकाश से ज्ञेयसमूह को सर्व ओर से व्यापकर उसे प्रकाशित करता है—अपना विषय बना लेता है। (433)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, जीव अधिकार, गाथा-21)

* * *

हे भव्य! तू जीव को रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को गोचर नहीं ऐसा, चेतना जिसका गुण है ऐसा, शब्दरहित, चिह्न से जिसका ग्रहण नहीं ऐसा, और जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता, ऐसा जान। (434)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-49)

* * *

जगत में तत्त्व को कोई विरले पुरुष सुनते हैं, सुनकर भी तत्त्व को यथार्थरूप विरले ही जानते हैं, जानकर भी तत्त्व की भावना अर्थात् पुनः-पुनः अभ्यास विरले ही करते हैं तथा अभ्यास करके भी तत्त्व की धारणा (तत्त्व का धारण करना) तो विरलों को ही होता है। (435)

(श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-279)

* * *

यदि परद्रव्य इष्ट-अनिष्ट होता और वहाँ यह जीव राग-द्वेष करता हो तो मिथ्या नाम नहीं पाता, परन्तु वे तो इष्ट-अनिष्ट नहीं हैं और यह जीव उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करता है, इसलिए उन परिणामों को मिथ्या कहा है। (436)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-4, पृष्ठ-94)

* * *

एक ओर सम्यग्दर्शन का लाभ होता हो तथा दूसरी ओर तीन लोक का राज्य मिलता हो तो भी तीन लोक के लाभ की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है। तीन लोक का राज्य पाकर भी अमुक निश्चितकाल के पश्चात् वहाँ से पतन होगा ही, और सम्यग्दर्शन का लाभ होने से अविनाशी मोक्ष-सुख प्राप्त होता है। इसलिए तीन लोक के लाभ से सम्यक्त्व का लाभ श्रेष्ठ है। (437)

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-746-747)

* * *

शुद्ध चिद्रूप मैं हूँ, यह स्मरण करने से, दूसरा उत्तम स्मरण, कभी, कहीं, किसी का भी, किसी ने भी, देखा नहीं, सुना नहीं। (438)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-2, गाथा-14)

* * *

जिनसूत्र अनुसार उपदेश देनेवाले उत्तम वक्ता कदाचित् रोष करे तो भी वह क्षमा का भण्डार है और जो पुरुष जिनसूत्र से विरुद्ध उपदेश देता है, उसकी क्षमा भी रागादि दोष तथा मिथ्यात्वादि का ठिकाना है। (439)

(यह गाथा पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में उद्धृत की है, पृष्ठ-301)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, श्लोक-14)

* * *

हे जीव! तूने भीषण (भयंकर) नरकगति तथा तिर्य्यचगति में और कुदेव, कुमनुष्यगति में तीव्र दुःख पाये हैं, अतः अब तू जिनभावना अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना भा, इससे तेरे संसार का भ्रमण मिटेगा। (440)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड, गाथा-8)

* * *

जिसे आत्मा का अनुभव हुआ नहीं, ऐसे लोगों को ग्राम या अरण्य ऐसे दो प्रकार के निवासस्थान हैं, परन्तु जिन्हें आत्मस्वरूप का अनुभव हुआ है, ऐसे ज्ञानी पुरुषों को, चित्त की व्याकुलतारहित, रागादिरहित शुद्ध आत्मा ही निवासस्थान है। (441)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितंत्र, गाथा-73)

* * *

जो मनुष्य, दूसरे जीव के पदार्थ अथवा धन हरता है, वह मनुष्य उस जीव के प्राण हरता है, क्योंकि जगत में जो यह धनादि पदार्थ प्रसिद्ध हैं, वे सब ही मनुष्यों को बाह्यप्राण हैं। (442)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्धि उपाय, श्लोक-103)

* * *

यदि क्रोधाग्नि द्वारा मन कलुषित हो जाये तो, निरंजन तत्त्व की ऐसी भावनारूप निर्मल जल द्वारा आत्मा का अभिषेक करना; कि जहाँ-जहाँ देखूँ वहाँ कुछ भी मेरा नहीं; मैं किसी का नहीं और कोई मेरा नहीं। (ऐसी तत्त्वभावना द्वारा क्रोध शान्त हो जाता है।) (443)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-140)

* * *

ज्ञानी पापों से लिप्त नहीं होता, जैसे सूर्य अन्धकार से व्याप्त नहीं होता, ज्ञानी विषयों से बँधता नहीं, जैसे कवच पहना हुआ योद्धा बाणों से विंधता नहीं। (444)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, चूलिका अधिकार, गाथा-30)

* * *

जैसे कोई पुरुष तपे हुए लोहखण्ड के गोले द्वारा पर को जलाना चाहता है, तो प्रथम तो अपने को ही जलाता है (-स्वयं अपने हाथ को जलाता है), पश्चात् पर को तो कष्ट हो या न हो, नियम नहीं है। उसी प्रकार जीव तपे हुए लोहखण्ड के गोले समान मोहादि परिणामों से परिणमता हुआ प्रथम तो निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानस्वरूप निज शुद्ध भावप्राण को ही पीड़ित करता है, पश्चात् पर के द्रव्यप्राणों को पीड़ा हो या न हो, नियम नहीं है। (445)

(श्री जयसेन आचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-149)

* * *

यद्यपि इस लोक में मृत्यु है, सो जगत को आताप का करनेवाला है तो भी सम्यग्ज्ञानी के अमृतसंग जो निर्वाण, उसके लिये है। जैसे कच्चे घड़े को अग्नि में पकाना है, सो अमृतरूप जल के धारण के लिये है, यदि कच्चा घड़ा अग्नि में नहीं पके तो घड़ा में जल धारण नहीं होता है, अग्नि में एक बार पक जाये तो बहुत काल जल का संसर्ग भी प्राप्त होता है। उसी प्रकार मृत्यु के अवसर में आताप समभावसहित एकबार सहन कर जाये तो निर्वाण का पात्र हो जाये। (446) (मृत्यु महोत्सव, श्लोक-13)

* * *

जैसे कोई पुरुष, मदिरा के प्रति जिसे तीव्र अरतिभाव प्रवर्तित है, ऐसा वर्तता हुआ, मदिरा को पीने पर भी, तीव्र अरतिभाव के सामर्थ्य के कारण मत्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी भी, रागादि भावों के अभाव से सर्व द्रव्यों के उपभोग के प्रति जिसे तीव्र वैराग्यभाव प्रवर्तित है, ऐसा वर्तता हुआ, विषयों को भोगने पर भी, तीव्र वैराग्यभाव के सामर्थ्य के कारण (कर्मों से) बँधता नहीं। (447)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-196)

* * *

जिसने परमात्मस्वरूप को देख लिया है, वे जीव के स्वरूप में छोटे-बड़ेपने का भेद नहीं देखते, वे सदा सर्वत्र दोषरहित पवित्र आत्म-गुणसामर्थ्य को ही देखते हैं। (448)

(श्री नेमीश्वर-वचनामृत शतक, श्लोक-23)

* * *

मुमुक्षु को तत्त्व में कहीं भी आग्रह नहीं रखना चाहिए, क्योंकि जो समस्त आग्रहों से—एकान्त अभिनिवेशों से रहित है, वही निर्वाण को साधता है। (449)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, चूलिका अधिकार, गाथा-34)

* * *

जो कोई जीव विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभाववाले शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप निश्चयमोक्षमार्ग से निरपेक्ष केवल—अनुष्ठानरूप व्यवहारनय को ही मोक्षमार्ग मानते हैं, वे उसके द्वारा देवलोकादि के क्लेश की परम्परा को पाते हुए संसार में परिभ्रमण करते हैं, परन्तु जो शुद्धात्मानुभूतिलक्षण निश्चयमोक्षमार्ग को मानते हैं और

निश्चयमोक्षमार्ग का अनुष्ठान करने की शक्ति के अभाव के कारण निश्चयसाधक शुभानुष्ठान करे, तो वे सराग सम्यग्दृष्टि हैं और परम्परा से मोक्ष को पाते हैं। ऐसा व्यवहार-एकान्त के निराकरण की मुख्यता से दो वाक्य कहे गये हैं। (450)

(श्री जयसेन आचार्य, पंचास्तिकाय टीका, गाथा-172)

* * *

जो भव्यजीव अतिशय विस्तृत ज्ञानरूप अद्वितीय शरीर के धारक सिद्ध परमात्मा के विषय में ज्ञानवान हैं, वे ही निश्चय से समस्त विद्वानों में श्रेष्ठ हैं। परन्तु जो सिद्धान्तविषयक ज्ञान से शून्य रहकर न्याय और व्याकरण आदि शास्त्रों के जानकार हैं, उनका यहाँ कुछ भी प्रयोजन नहीं है, कारण यह है कि जो लक्ष्य के विषय में सम्बन्ध करता है, वही बाण कहलाता है। (451)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, सिद्धस्तुति, श्लोक-24)

* * *

तत्त्व को समझते समय युक्तिमार्ग द्वारा आगम की बातें जानना चाहिए, परन्तु आराधना के समय नहीं, क्योंकि अनुभव तो प्रत्यक्ष का विषय है। (452)

(श्री माङ्गलधवल, नयचक्र, श्लोक-268)

* * *

प्रश्न—मरण पर्यन्त शूल की भाँति हृदय में खटकता है, वह क्या ?

उत्तर—गुप्तरूप से किया हुआ अकार्य। (कुकर्म, वही जीव को सदा खटकता रहता है)। (453)

(श्रीमद् राजर्षि, रत्नमाला, श्लोक-17)

* * *

हे भव्य ! यदि तुझे अपने ऊपर अपकार करनेवाले के प्रति क्रोध आता है तो तू उस क्रोध के ऊपर ही क्रोध क्यों नहीं करता ? क्योंकि वह क्रोध तो तेरा सबसे अधिक अपकार करनेवाला है। वह क्रोध तेरे धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्ग को तथा मोक्ष के पुरुषार्थ को तथा इतने तक कि तेरे जीवन को भी नाश करनेवाला है। तो फिर इससे अधिक अपकारी दूसरा कौन हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। (454)

(श्री वादिभसिंह आचार्य, क्षत्रचूड़ामणि, सर्ग-2, श्लोक-42)

* * *

प्रत्येक वस्तु के परिणाम बाह्य कारण की अपेक्षा बिना होते हैं। (455)

(श्री जयधवला, पुस्तक-7, पृष्ठ-117)

* * *

विद्वतता का उत्कृष्ट फल आत्मध्यान में रति-लीनता जानना चाहिए, सब ही शास्त्रों का शास्त्रीपना बुद्धिधन के धारक महान विद्वानों द्वारा 'संसार' कहा गया है। (456)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, मोक्ष अधिकार, गाथा-43)

* * *

जब कोई साधु महात्मा पुरुष के हृदय में से मोक्ष की भी इच्छा नाश को प्राप्त होती है, तब उसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इस सिद्धान्त वाक्य पर ध्यान देकर आत्महित के इच्छुक जीवों को सभी पदार्थों की इच्छा का त्याग करना चाहिए। (457)

(श्रीमदाचार्य अकलंकदेव, स्वरूप सम्बोधन, श्लोक-21)

* * *

जघन्यपात्र जो शास्त्रज्ञान के उत्सुक होते हैं, वे ज्ञानलक्ष्मी को ग्रहण करते हैं। यही दान वे अपनी आत्मा को देते हैं अर्थात् शास्त्र-अभ्यास द्वारा वे अपने आत्मा को ज्ञान देते हैं। वे जघन्यपात्र प्रफुल्लित मन होकर प्रगट रहते हैं। उनको सम्यग्दर्शन का प्रकाश हो जाता है, जिससे वे आनन्दित रहते हैं अर्थात् जघन्यपात्रदान यह है जो तत्त्व खोजी शास्त्र द्वारा ऐसा ज्ञानदान अपने को करें, जिससे सम्यग्दर्शन का उदय हो जाये। (458)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-1, पृष्ठ-74)

* * *

निश्चय स्वरूप के ज्ञाता जैनाचार्य, जैसे हिमाचल और विन्ध्याचल पर्वत में भिन्नता है अथवा एकक्षेत्र में रहे हुए जल और दूध में भिन्न प्रदेशता है, ऐसा भिन्नपना द्रव्य और गुणों में नहीं मानते, तथापि एकान्त से द्रव्य और गुणों का एकपना भी नहीं मानते, अर्थात् जैसे द्रव्य और गुणों में प्रदेशों की अपेक्षा से अभिन्नपना है, उसी प्रकार संज्ञा आदि की अपेक्षा से एकपना है, ऐसा नहीं मानते। अर्थात् एकान्त से द्रव्य और गुणों का न एकपना मानते हैं और न भिन्नता मानते हैं। अपेक्षा बिना एकत्व-अन्यत्व दोनों नहीं मानते परन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षा से दोनों स्वभावों को मानते हैं। प्रदेशों की

एकता से एकपना है, संज्ञादि की अपेक्षा से द्रव्य और गुणों में अन्यपना है—ऐसा आचार्य मानते हैं। (459) (श्री जयसेन आचार्य, पंचास्तिकाय टीका, गाथा-45)

* * *

संसार को अनित्य, दुःखों का घर और असार विचारे, शरीर को अपवित्र और नाशवान सोचे तथा इन्द्रियभोगों को क्षणभंगुर और अतृप्तिकारी जाने। संसार की सर्व पर्यायें त्यागने योग्य हैं। केवल एक शुद्ध आत्मा की परिणति ही ग्रहण करनेयोग्य है, ऐसा वैराग्य जिसको होगा, वही मोक्षप्राप्ति करने का प्रेमी होगा। (460)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-1, पृष्ठ-174)

* * *

वास्तव में इस भगवान आत्मा में बहु द्रव्य-भावों के मध्य (द्रव्य-भावरूप बहुत भावों के मध्य), जो अतत्स्वभाव से अनुभव में आते हुए (अर्थात् आत्मा के स्वभावरूप से नहीं, परन्तु परस्वभावरूप से अनुभूत), अनियत अवस्थावाले, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी भाव हैं, वे सभी स्वयं अस्थायी होने से स्थाता का स्थान अर्थात् रहनेवाले का आवास नहीं हो सकने योग्य होने से अपदभूत है। और जो तत्स्वभाव से अनुभव में आता हुआ, नियत अवस्थावाला, एक, नित्य, अव्यभिचारी भाव (चैतन्यमात्र ज्ञान-भाव) है, वह एक ही स्वयं स्थायी होने से स्थाता का स्थान अर्थात् रहनेवाले का आवास हो सकने योग्य होने से पदभूत है। इसलिए समस्त अस्थायी भावों को छोड़कर, जो स्थायीभावरूप है, ऐसा परमार्थरसरूप स्वाद में आता हुआ यह ज्ञान एक ही आस्वादानेयोग्य है। (461) (श्री अमृतचन्द्र आचार्य, समयसार टीका, गाथा-203)

* * *

मन तो परमेश्वर में मिल गया है और परमेश्वर मन के साथ मिल गया है, दोनों एकरस होकर रहे हैं तो मैं पूजा की सामग्री किसको चढाऊँ? (462)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-49)

* * *

मूर्ख बहिरात्मा बाह्य पदार्थों का त्याग और ग्रहण करता है, आत्मा के स्वरूप को जाननेवाला अन्तरात्मा अन्तरंग राग-द्वेष का त्याग और सम्यक् रत्नत्रयरूप ग्रहण करता

है, परन्तु शुद्धस्वरूप में स्थित आत्मा को अन्तरंग और बहिरंग किसी भी पदार्थ का न तो त्याग होता है और न तो ग्रहण होता है। (463)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-47)

* * *

एक का दोष देखकर समस्त धर्म या सभी धर्मात्मा दूषित होंगे, ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि किसी साधर्मी के दोषों को प्रगट नहीं करता। उसमें दोष को उत्तेजन देने का उसका हेतु नहीं है, परन्तु जिस धर्म के प्रति उसकी प्रीति है, उसकी निन्दा न हो, यह देखने का उसका प्रधान हेतु है। (464)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-15 के भावार्थ में से)

* * *

शिष्य के दोष को छुपानेवाले गुरु की अपेक्षा थोड़े भी दोष देखकर उसे बहुत प्रकार से प्रगट करनेवाले दुर्जन अच्छे हैं, कि जिससे धर्मार्थी पुरुष अपना दोष जानकर उसका क्षय करने के उद्यम की ओर प्रवर्ते; इसलिए दोष प्रगट करनेवाले दुर्जन किसी अपेक्षा से गुरु समान कार्यकारी है। धर्मात्मा पुरुष अपने दोष छुपानेवाले गुरुओं की अपेक्षा दोष प्रगट करनेवाले दुर्जनों को भला समझते हैं और दोष को प्रगट करनेवाले जगत में यदि न हों तो जीव की स्वच्छन्द दशा किस मलिन छोर में जाकर अटकती, इसकी कल्पना भी अशक्य है। (465) (श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-140)

* * *

अनन्त महिमा भण्डार को ज्ञानचेतना में अपनेरूप से अनुभव करे, जो-जो उपयोग उठता है, वह मैं हूँ, ऐसा निश्चय भावना में करे तो वह तिरे ही तिरे। अनादि का विचार करे कि अनादि से पर को अपनेरूप जानकर दुःख सहा, अब श्रीगुरु ने जो उपदेश कहा है, उसे सत्य कर मानते ही श्रद्धा से मुक्ति का नाथ होता है, इसलिए धन्य सद्गुरु को कि जिन्होंने भवगर्भ से निकलने का उपाय बतलाया। इसलिए श्रीगुरु जैसे उपकारी कोई नहीं, ऐसा जानकर श्रीगुरु की वचनप्रतीति से पार होना। (466)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-93)

* * *

संसार में ऐसा कोई तीर्थ नहीं, ऐसा कोई जल नहीं तथा अन्य भी ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसके द्वारा पूर्णरूप से अपवित्र इस मनुष्य का शरीर प्रत्यक्ष में शुद्ध हो सके। आधि (मानसिक कष्ट), व्याधि (शारीरिक कष्ट) वृद्धापन और मरण आदि से व्याप्त यह शरीर निरन्तर इतना सन्तापकारक है कि सज्जनों को उसका नाम लेना भी असह्य लगता है। (467) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, स्नानाष्टक, श्लोक-6)

* * *

आत्मानुभव में आत्मा जिन है, कषायों का विजयी है, उसका ज्ञान भेदविज्ञान सहित है अर्थात् आत्मा का अनुभव पर के अनुभव से रहित शुद्ध है। सो ही कमलस्वभावी आत्मा का स्वाद लेता हुआ रमणीक भास रहा है। सो ही सूर्य समान अपूर्व सूर्य अपनी किरणों के साथ प्रकाशित है। अर्थात् अनुभव में कोटि सूर्य से भी अधिक तेजस्वी श्री अरिहन्त परमात्मा का अनुभव हो रहा है। वहाँ आत्मारूपी कमल के स्वाद में आत्मानन्दरूपी रस का रमण हो रहा है। अर्थात् आत्मा आत्मा में मगन होकर आत्मानन्दरूपी अमृत का पान कर रहा है। (468) (श्री तारणस्वामी, ममल पाहुड, भाग-1, पृष्ठ-219)

* * *

यह लोक जीवों से भरा हुआ है। सूक्ष्मस्थावर के बिना तो लोक का कोई भाग खाली नहीं है। सब जगह सूक्ष्म स्थावर भरे हुए हैं। ये सभी जीव शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर शक्ति की अपेक्षा से केवलज्ञानादि गुणरूप हैं, इसलिए यद्यपि यह जीवराशि व्यवहारनयकर कर्माधीन है, तो भी निश्चयनयकर शक्तिरूप परमब्रह्मस्वरूप है। (469) (श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, श्लोक-107)

* * *

जिसने अस्तित्व का अनुभव नहीं किया है और जिसने अस्तित्व का अनुभव कर लिया है, ऐसी (अनुत्पन्न और नष्ट) पर्यायमात्र को यदि ज्ञान अपनी निर्विघ्न विकसित, अखण्ड प्रतापवाली, प्रभु शक्ति के (महासामर्थ्य) द्वारा बलात् अत्यन्त आक्रमित करे (प्राप्त करे), तथा वे पर्यायों अपने स्वरूप सर्वस्व को अक्रम से अर्पित करें (—एक ही साथ ज्ञान में ज्ञात हों) इस प्रकार उन्हें अपने प्रति नियत न करे (—अपने में निश्चित

न करे, प्रत्यक्ष न जाने), तो उस ज्ञान की दिव्यता क्या ? इससे (यह कहा गया है कि) पराकाष्ठा को प्राप्त ज्ञान के लिये यह सब योग्य है। (470)

(श्री अमृतचन्द्र आचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-39)

* * *

देह गलने के काल में मति-श्रुत की धारणा-ध्येय इत्यादि सब गलने लगता है; हे वत्स ! तब ऐसे अवसर में अन्तर के देव को तो कोई विरले ही याद करते हैं। (471)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-103)

* * *

जो पदार्थ—इन्द्रिय के विषय मन को प्रिय होते हैं, वे इष्ट और अप्रिय हों, वे अनिष्ट। उसमें अनिष्ट होने पर भी जो पदार्थ शुद्ध चिद्रूप के सद्ध्यान में सहायकारी कारणरूप बनते हैं, उन्हें तो सुधी अर्थात् सम्यक् बुद्धिवाले ज्ञानीजन भजते हैं, सेवन करते हैं, अवलम्बन करते हैं और जो पदार्थ इष्ट होने पर भी शुद्ध आत्मा के ध्यान में विघ्नरूप हों, ऐसे हैं, उन्हें बिना विलम्ब किये तज देते हैं। (472)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अधिकार-3, गाथा-3)

* * *

खास मुनि पात्र का उदय हुआ है। मुनि महाराज उत्तम पात्र हैं, जिनमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रत्नत्रयधर्म बसता है। पात्र बर्तन को कहते हैं। आत्मज्ञानी तद्भव मोक्षगामी को विशेष मुनि कहते हैं। यह आत्मा ही स्वयं पात्र है। ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। इस आत्मारूपी पात्र का स्वभाव ज्ञानमयी है। समभाव या वीतरागभाव या आत्मा का शुद्धस्वभाव जैसा सिद्धों में है, उसे ही पात्र-गर्भ कहते हैं। अर्थात् आत्मारूपी पात्र के गर्भ में परमात्मपद है। जो आत्मा का सेवन करता है, उसके परमात्मपद का उदय हो जाता है। (473)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-1, पृष्ठ-53)

* * *

हे आत्मन् ! तुझे लोक का क्या प्रयोजन है ? आश्रय का क्या प्रयोजन है ? द्रव्य का क्या प्रयोजन है ? शरीर का क्या प्रयोजन है ? वचनों का क्या प्रयोजन है ? इन्द्रियों का क्या प्रयोजन है ? प्राणों का क्या प्रयोजन है ? तथा उन विकल्पों का भी तुझे क्या

प्रयोजन है ? अर्थात् इन सबका तुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। क्योंकि वह सब पुद्गल की पर्यायें हैं, और इसलिए तुझसे भिन्न है। तू प्रमाद के वश होकर व्यर्थ ही इन विकल्पों द्वारा क्यों अतिशय बन्धन का आश्रय करता है ? (474)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अधिकार-1, श्लोक-149)

* * *

कर्मबन्ध करने का कारण, नहीं बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक; नहीं चलनस्वरूप कर्म (अर्थात् काय-वचन-मन की क्रियारूप योग), नहीं अनेक प्रकार के करण अथवा नहीं चेतन-अचेतन का घात। 'उपयोगभू' अर्थात् आत्मा में रागादि के साथ जो ऐक्य पाता है, वही एक (मात्र रागादि के साथ एकत्व पाना ही) वास्तव में पुरुषों को बन्ध का कारण है। (475) (श्री अमृतचन्द्र आचार्य, समयसार टीका, कलश-164)

* * *

हे चिदानन्दराम! अपने को अमर अवलोकन करो! मरण तुम्हारे में नहीं। जैसे कोई चक्रवर्ती, जिसके घर में चौदह रत्न और नव निधि, तथापि वह दरिद्री होता हुआ घूमता है, वह अपने चक्रवर्तीपद के अवलोकनमात्र से चक्रवर्ती स्वयं होता है, उसी प्रकार स्वपद को परमेश्वररूप अवलोके तो वह परमेश्वर है। देखो कैसी बड़ी भूल! कि अवलोकनमात्र से परमेश्वर होता है, ऐसी अवलोकना तो न करे और इन्द्रियचोर के वश होकर अपने निधान को लुटाकर, दरिद्री होकर, भवविपत्ति भरता है, भूल मिटाता नहीं। (476) (श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-45)

* * *

जो योगी कल्पना के भय से (निर्विकल्प ध्यान नहीं हो सकता, ऐसे भय से) श्रुतज्ञान की भावना का अवलम्बन नहीं करते, वे अवश्य अपने आत्मा के विषय में मोहित हो जाते हैं तथा अनेक बाह्य चिन्ताओं को भी धारण करते हैं। इसलिए मोह का नाश करने के लिये तथा बाह्य चिन्ताओं को दूर करने के लिये और एकाग्रता की सिद्धि के लिये सर्वप्रथम श्रुत से अपने आत्मा का विचार करना चाहिए। (477)

(श्री नागसेन मुनिराज, तत्त्वानुशासन, श्लोक-145-146)

* * *

यह दृष्टि जगत के प्रपंच भावों में लगी रहती है। यह दृष्टि वर्तमान प्राप्त शरीर के संस्कार और सुखों में तन्मय रहती है। वही दृष्टि जब प्रपंच से और शरीर से हटकर अपने आत्मा के स्वभाव पर जाती है, जिसका स्वभाव श्री सिद्ध जिन परमात्मा के समान है, तब इन्द्रियों से छूटकर अतीन्द्रिय आत्मा का अनुभव होने से कर्मों की निर्जरा होती है। (478)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-260)

* * *

सर्व चिन्ता त्यागने योग्य है; इस प्रकार की बुद्धि, वह तत्त्व को प्रगट करती है कि जो चैतन्यरूप महासमुद्र की वृद्धि में शीघ्र ही चन्द्रमा का काम करती है। (479)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, निश्चय पंचाशत, श्लोक-35)

* * *

अपने आत्मा के विचार में निपुण रागरहित जीवों द्वारा निर्दोष श्रुतज्ञान से भी आत्मा केवलज्ञान समान जानने में आता है। (480)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, जीव अधिकार, गाथा-34)

* * *

जघन्यभाव से लेकर उत्तम भाव के धारी पात्र तक पात्रदान का होना जिनेन्द्रों ने कहा है। अपने-अपने पद में प्रकाशित ज्ञान की सहायता से आत्मिक पद को प्रकाशित करना या आत्मा की उन्नति करना, उसी को पात्रदान का भाव जानना चाहिए। ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। अर्थात् अपने ज्ञान के प्रमाण अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव के रमण के द्वारा अपने ही आत्मा को आत्मानुभवरूपी दान करना, जिससे आत्मानन्द प्राप्त होकर परम तृप्ति होती है, यही पात्रदान का भाव है, यही अपने से ही अपने को दान देना है। (481)

(श्री तारणस्वामी ममल पाहुड, भाग-1, पृष्ठ-12)

* * *

श्रेयपदरूप अनुपम ज्योतिस्वरूप पद अपना ही है। अपने परमेश्वरपद का दूर अवलोकन न कर। अपने को ही प्रभुरूप स्थापित कर। जिसे भलीभाँति याद करने से ज्ञान-ज्योति का उदय होता है, मोह अन्धकार विलय पाता है, आनन्दसहित कृतकृत्यता चित्त में प्रगट होती है, उसे वेग से अवलोककर, अन्य ध्यानता निवारकर, विचारकर

संभार, तो तेरा ब्रह्मविलास तुझमें है। उससे दूसरा क्या अधिक ? कि उसे छोड़कर तू पर को ध्याता है ? (482) (श्री दीपचन्दजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-33)

* * *

जिस जीव को जिस तरह से जब जहाँ जो दुःख-सुख प्राप्त करना होता है, उस जीव को उस तरह से, उस स्थान में, उस काल में, वह दुःख-सुख दैव के नियोग से अवश्य प्राप्त होता है। पूर्व काल में जीव ने जो अच्छा या बुरा कर्म किया और इस समय वह पक कर फल देने के सन्मुख हुआ तो उसको किंचित् भी अन्यथा करने में इन्द्र भी किसी तरह समर्थ नहीं है अर्थात् किये कर्म का फल जीव को अवश्य भोगना होता है। कोई दूसरा उसमें कुछ भी हेरफेर नहीं कर सकता। (483)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-346-347)

* * *

हे जीव ! तू उसको गृहवास मत जान, यह पाप का निवासस्थान है। यमराज ने अज्ञानी जीवों को बाँधने के लिये यह अनेक फाँसों से मण्डित बहुत मजबूत बन्दीखाना बनाया है, इसमें सन्देह नहीं है। (484)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, श्लोक-144)

* * *

हे नाथ ! आपकी स्तुति-पूजन करने से आरम्भ आदि द्वारा थोड़ा पाप अवश्य होता है, परन्तु जैसे शीतल और कल्याणकारी जल से भरपूर महासागर को विष की एक बूँद खराब नहीं कर सकती, उसी प्रकार जिनपूजन के पुष्कल पुण्यराशि के समक्ष यह अल्प पाप अफल बन जाता है। (485) (श्री समन्तभद्र आचार्य, बृहद् स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक-58)

* * *

तन, धन, रूप, सम्पदा, यौवन, अधिकार, राज्य, लक्ष्मी और महत्ता आदि क्षणभंगुर सम्पदा का गर्व करना, वह मुमुक्षु को योग्य नहीं है। क्योंकि सत्तागुण से सिद्धसमान और त्रैलोक्य के आभूषणरूप आत्मा को तुच्छ और क्षणिक ऐसी वस्तु पाकर गर्व करना शोभता ही नहीं। मान, वही मोक्षसुख में परम विघ्नभूत है। महान तपस्वी, परम विवेकी और अति बलवान उन बाहुबली जैसे पुरुष को भी उस सूक्ष्म मान के उदय से एक वर्ष

जितने लम्बे कालपर्यन्त निरावरण आत्मसुख अखण्डितरूप से अनुभव नहीं करने दिया तो फिर अन्य अल्प शक्तिधारक जीव मान को सेवन कर कहाँ से मोक्षलक्ष्मी को वरे ? मोक्ष-सुखप्राप्ति में मान प्रबल अन्तरायरूप है। (486)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-217)

* * *

इस प्रकार व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्ररूप भाव संवर के कारणों का जो व्याख्यान किया, उसमें निश्चयरत्नत्रय के साधक व्यवहाररत्नत्रयरूप शुभोपयोग का प्रतिपादन करनेवाले जो वाक्य हैं, उन्हें पापास्रव के संवर के कारण जानना। और जो व्यवहाररत्नत्रय से साध्य शुद्धोपयोग-लक्षणवाले निश्चयरत्नत्रय का प्रतिपादन करनेवाले वाक्य हैं, उन्हें पुण्य-पाप इन दोनों के संवर का कारण जानना। (487) (श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35 की टीका में से)

* * *

हे जिनेन्द्र ! आपका शासन एक ओर से दुःख से छूटने के लिये उद्यम कराता है और दूसरी ओर बलजोरी से दुःख का भार वहन कराता है अर्थात् तपश्चरणादि कष्ट सहन करने का उपदेश देता है—ऐसा, दूसरे जिसके साथ घर्षण न कर सके, ऐसा आपका अजेय शासन जगत में दुःख के कारणों को भी मूल से उखेड़ देता है। (488)

(श्री अमृतचन्द्र आचार्य, लघुतत्त्वस्फोट, स्तुति-8, श्लोक-22)

* * *

लोक में जो धन जिनालय का निर्माण करने में, जिनदेव, आचार्य और पण्डित अर्थात् उपाध्याय की पूजा में, संयमीजन को दान देने में, अतिशय दुःखी प्राणियों को भी दयापूर्वक दान देने में तथा अपने उपभोग में भी काम आता है, उसे ही निश्चय से अपना धन समझना चाहिए। उससे विपरीत जो धन इन उपर्युक्त कार्यों में खर्च नहीं किया जाता, उसे किसी दूसरे ही मनुष्य का धन समझना चाहिए। (489)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशतिका, दान अधिकार, श्लोक-37)

* * *

जैसे मुट्टी द्वारा आकाश पर प्रहार करना निरर्थक है, जैसे चावल के लिये

छिलकों को कूटना निरर्थक है, जैसे तेल के लिये रेत को पीलना निरर्थक है, जैसे घी के लिये जल को बिलौना निरर्थक है, केवल महान खेद का कारण है; उसी प्रकार आसातावेदनीयादि अशुभ कर्म का उदय आने पर विलाप करना, रोना, क्लेशित होना, दीन वचन बोलना निरर्थक है—दुःख मिटाने को समर्थ नहीं है, परन्तु वर्तमान में दुःख बढ़ाते हैं और भविष्य में तिर्यचगति तथा नरक-निगोद के कारणभूत तीव्र कर्म बाँधते हैं, जो अनन्त काल में भी नहीं छूटते। (490)

(श्री शिवकोटी आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-1625)

* * *

नरकभूमि की सामग्री तथा नारकियों का विकरालरूप जैसा है, वैसा यदि कोई एक क्षणमात्र भी स्वप्न में दिखलावे तो भय से प्राणरहित हो जाये।

नारकियों के देहादि का एक कण यहाँ आवे तो उसकी दुर्गन्ध से यहाँ के हजारों पंचेन्द्रिय जीव मरण पावें।

नारकियों के शब्द ऐसे भयंकर तथा कठोर हैं कि यदि यहाँ सुनने में आवे तो हाथियों के और सिंहों के हृदय फट जाये।

नरक में जो दुःखदायी सामग्री है, उसका स्वभाव दिखलाने या अनुभव कराने में समस्त मध्यलोक में कोई वस्तु दिखती नहीं।

नरक में जो दुःख है, वे कोई करोड़ों जीभों द्वारा करोड़ों वर्ष तक कहे तो भी एक क्षणमात्र के दुःख को कहने में समर्थ नहीं है। (491)

(श्री समन्तभद्र आचार्य, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, सदासुखदासजी कृत टीका, पृष्ठ-612)

* * *

यह चिदानन्द चौरासी लाख योनियों के शरीरों की सुधारणा किया करता है। जिस घर में रहता है उसे सुधारे, और पश्चात् दूसरी शरीर-झोंपड़ी को सुधारे। और दूसरी पावे उसे सुधारता फिरे। सभी देह जड़, उन जड़ों की सेवा करते-करते अनादि काल बीता है, यह शरीर सेवा का कर्मरोग अनादि से लगा आया है। इसलिए इस रोग द्वारा अपना अनन्त बल क्षीणता को प्राप्त हुआ, इससे बड़ी विपत्ति—जन्मादि भोगता है। (492)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-43)

* * *

विवेक रहित अज्ञानी जीव स्वयं पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों के ऊपर तो क्रोध नहीं करता, परन्तु उन कर्मों की निर्जरा करानेवाले पुरुष के ऊपर क्रोध करता है, अर्थात् वैद्य समान अपनी चिकित्सा करनेवाले के ऊपर क्रोध करता है, परन्तु यह पद्धति किसी प्रकार से योग्य नहीं है, क्योंकि अपने कर्मों की निर्जरा करावे, वह तो वैद्य के समान अपना उपकारी है, उसका तो उपकार ही मानना चाहिए। उस पर क्रोध करना बहुत बड़ी भूल है तथा कृतघ्नता है। (493)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, अधिकार-19, गाथा-41)

* * *

यह द्रव्य अनादि और अनिधन है अर्थात् न कभी उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट होगा। जिस प्रकार पानी में पानी की लहरें उत्पन्न होती रहती हैं और उसी में नष्ट होती रहती हैं। उसी प्रकार इस द्रव्य में भी इसकी पर्यायें प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होती रहती हैं और प्रत्येक क्षण में नष्ट होती रहती हैं। (494)

(श्री मुनिवर नागसेन, तत्त्वानुशासन, श्लोक-112)

* * *

भाग्यवश राजा भी क्षणभर में निश्चय से रंक समान हो जाता है तथा समस्त रोगरहित युवक पुरुष भी तुरन्त ही मरण पाता है। इस प्रकार अन्य पदार्थों के विषय में तो क्या कहना? परन्तु जो लक्ष्मी और जीवन दोनों ही संसार में श्रेष्ठ गिनने में आते हैं, उनकी भी यदि ऐसी स्थिति है तो विद्वान् मनुष्य को दूसरे किसके विषय में अभिमान करना चाहिए? अर्थात् अभिमान करनेयोग्य कोई भी पदार्थ यहाँ स्थायी नहीं है। (495)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अनित्य पंचाशत, श्लोक-42)

* * *

सशरीर अवस्था में भी आत्मा ही सुखरूप (इन्द्रिय सुखरूप) परिणति से परिणमता है, देह नहीं; इसलिए तब भी (-सशरीर अवस्था में भी) सुख का निश्चय कारण आत्मा है अर्थात् इन्द्रियसुख का भी वास्तविक कारण आत्मा का ही अशुद्ध स्वभाव है। अशुद्ध स्वभाव से परिणमता आत्मा ही स्वयमेव इन्द्रियसुखरूप होता है। उसमें देह कारण नहीं है, क्योंकि सुखरूप परिणति और देह अत्यन्त भिन्न होने से सुख

को और देह को निश्चय से कार्यकारणपना बिल्कुल नहीं है। (496)

(श्री प्रवचनसार, गाथा-65 का भावार्थ)

* * *

हे जीव ! तूने इसलोक में तृषा से पीड़ित होकर तीन लोक का समस्त जल पिया, तो भी तृषा का व्यवच्छेद नहीं हुआ अर्थात् प्यास नहीं बुझी; इसलिए तू इस संसार का मन्थन अर्थात् तेरे संसार का नाश हो, इस प्रकार निश्चयरत्नत्रय का चिन्तन कर। (497)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड़, गाथा-23)

* * *

ताड़ के वृक्ष से टूटा हुआ फल नीचे पृथ्वी पर पड़ने लगा, फिर बीच में कहाँ तक रहे ? इसी प्रकार जन्म होने के बाद का जीवन आयु-स्थिति में कहाँ तक रहे ? बहुत ही अल्पकाल और वह भी अनियत। इसलिए हे भव्य ! इन देहादि को ऐसे क्षणभंगुर जानकर वास्तविक अविनाशी पद का साधन दूसरे सब कार्यों को छोड़कर भी शीघ्रता से कर लेना, यही सुयोग्य है, क्योंकि जीवन-समय बहुत संकड़ा है। (498)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-74)

* * *

जैसे वानर एक कंकड़ पड़े, वहाँ रोने लग जाता है, उसी प्रकार यह भी एक अंग छीजे वहाँ रोता है। 'यह मेरे और मैं इनका' इस प्रकार झूठ ही ऐसे जड़ की सेवा से सुख मानता है। अपनी शिवनगरी का राज्य भूला, यदि श्रीगुरु के कहने से शिवपुरी को सम्हाले तो वहाँ का स्वयं चेतनराजा अविनाशी राज्य करे, वहाँ चेतना बस्ती है, तीन लोक में आण फिरे, भव में न फिरे, फिर जड़ में न आवे। आनन्दघन को पाकर सदा शाशवत् सुख का भोक्ता हो, ऐसा करो। (499) (श्री दीपचन्दजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-43)

* * *

यहाँ संसार में राजा भी दैववश होकर रंक जैसा बन जाता है तथा पुष्ट शरीरवाला मनुष्य भी कर्मोदय से क्षणभर में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में कौन बुद्धिमान पुरुष कमलपत्र पर रहे हुए जलबिन्दु समान विनाश पानेवाले धन, शरीर और जीवन आदि विषय में अभिमान करे ? अर्थात् क्षण में क्षीण होनेवाले इन पदार्थों के

विषयों में विवेकीजन कभी भी अभिमान नहीं करते। (500)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अधिकार-1, श्लोक-173)

* * *

जिनके तृष्णा उदित है ऐसे देवपर्यन्त समस्त संसारी, तृष्णा दुःख का बीज होने से पुण्यजनित तृष्णाओं द्वारा भी अत्यन्त दुःखी होते हुए मृगतृष्णा में से जल की भाँति विषयों में से सुख चाहते हैं, और उस दुःख सन्ताप के वेग को सहन न करने से विषयों को तब तक भोगते हैं, जब तक कि विनाश को (मरण को प्राप्त नहीं होते) जैसे जौंक, तृष्णा जिसका बीज है, ऐसे विजय को प्राप्त होती हुई दुःखांकुर से क्रमशः आक्रान्त होने से दूषित रक्त को चाहती है और उसी को भोगती हुई मरणपर्यन्त क्लेश को पाती है, उसी प्रकार यह पुण्यशाली जीव भी, पापशाली जीवों की भाँति, तृष्णा जिसका बीज है, ऐसे प्राप्त दुःखांकुरों द्वारा क्रमशः आक्रान्त होने से, विषयों को चाहते हुए और उन्हीं को भोगते हुए विनाशपर्यन्त (मरणपर्यन्त) क्लेश पाते हैं। इससे पुण्य सुखाभास ऐसे दुःख का ही साधन है। (501)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-75)

* * *

ज्ञान आवरण से न्यारा है, वह (ज्ञान) अपना स्वभाव है, जितना ज्ञान प्रगट हुआ, उतना अपना स्वभाव खुला; वह आत्मा है। यहाँ इतना विशेष कि आवृत्त होने पर भी पर में ज्ञान जाये, उतना अशुद्ध, जितना अंश निज में रहे, वह शुद्ध, इससे केवल (ज्ञान) गुप्त है। परन्तु परोक्षज्ञान में निरावरण की प्रतीति कर-करके आनन्द बढ़ाता है। ज्ञानी शुद्धभावना से शुद्ध होता है, यह निश्चय है। (502)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-16)

* * *

यद्यपि काललब्धि के वश जीव अनन्त सुख का भाजन होता है, तथापि विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी निज परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप तथा समस्त बहिर्द्रव्यों की इच्छा की निवृत्ति जिसका लक्षण है, ऐसे तपश्चरणरूप जो निश्चय चतुर्विध आराधना है, वही उसमें उपादानकारण जानना, काल नहीं; इसीलिए वह (काल) हेय है। (503)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-21 की टीका में से)

* * *

जो पुरुष रात्रि को भोजन करता है, वह सर्व प्रकार की धर्मक्रिया से रहित होता है। रात्रिभोजन करनेवाले पुरुष में और पशु में मात्र सींग के अतिरिक्त दूसरा कोई भेद नहीं है। (504) (श्री अमितगति आचार्य, धर्म परीक्षा, परिच्छेद-20, श्लोक-5)

* * *

जो अपनी अगली-पिछली बात को (अर्थात् भूत-भविष्य के परिणाम को) नहीं जानता, वही भवसुख (इन्द्रिय विषयों) के लिये तरसता है; जो अपनी अगली-पिछली बात को (अर्थात् भूत-भविष्य के अपने अस्तित्व को) जानता है, वह कभी संसार की किंचित् भी चाहना नहीं करता। (505)

(श्री नेमिश्वर-वचनमृत शतक, श्लोक-102)

* * *

इस अनन्तानुबन्धी का वासनाकाल संख्यात, असंख्यात, अनन्त भवपर्यन्त चला जाता है। एक बार किसी जीव पर किया जो क्रोधादिभाव, सो अनन्त काल तक दुःखदाई है, इसलिए इनके उपजने का कारण घटाना, इनके अभाव होने का कारण मिलाना, सुसंगति में रहना, कुसंगति में न रहना, इनके नाश का प्रथम उपाय तो यह है, पीछे जैसे बने तैसे इनके छेदने का उपाय करना। (506)

(श्री दीपचन्द्रजी, भावदीपिका, पृष्ठ-62)

* * *

हे आत्मा! तूने इच्छित लक्ष्मी प्राप्त कर ली है, समुद्र पर्यन्त पृथ्वी भी भोग ली है और जो विषय स्वर्ग में भी दुर्लभ हैं, वे अतिशय मनोहर विषय भी प्राप्त कर लिये हैं, तथापि यदि पीछे मृत्यु आनेवाली हो तो यह सब विषयुक्त आहार समान अत्यन्त रमणीय होने पर भी धिक्कारनेयोग्य है। इसलिए तू एकमात्र मुक्ति की खोज कर। (507)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अनित्य पंचाशत, श्लोक-40)

* * *

तीव्र रोग और कठोर दुःखरूपी वृक्षों से भरे संसाररूपी भयानक वन में वृद्धावस्थारूपी शिकारी से डरकर मृत्युरूपी व्याघ्र के भयानक मुख में चले गये प्राणी

को तीनों लोक में कौन बचा सकता है ? उसे यदि बचा सकता है तो जन्म-जरा-मरण का विनाश करनेवाला जिनभगवान के द्वारा उपदिष्ट धर्माभूत ही बचा सकता है। उसे छोड़कर अन्य कोई नहीं बचा सकता। (508)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-317)

* * *

यदि जिनवरेन्द्रों ने मोक्ष के अभिलाषी को, 'देह परिग्रह है' ऐसा कहकर, देह में भी अप्रतिकर्मपना (संस्कार रहितपना) उपदेश किया है, तो फिर उनका ऐसा आशय है कि उसे अन्य परिग्रह तो किसका हो ? (509)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार, गाथा-224)

* * *

अपने को भयरहित औषधिदान यह है कि बाधा से रहित स्वभाव हो जावे अर्थात् आर्तध्यान व रौद्रध्यान से रहित निराकुल धर्मध्यानमयी स्वभाव का प्रकाश हो जावे। ऐसा वैराग्यभाव प्रगट हो जावे कि संसार, शरीर व भोगों की ओर से चिन्तारूपी बाधा विला जावे, न चारगतिरूप दुःखमयी संसार की कामना रहे, न नाशवन्त शरीर की प्राप्ति की इच्छा रहे, न अतृप्तिकारी भोगों की चाहना रहे। इन सबकी चाह की दाह का मिटना, वही अपने को औषधिदान करना है। (510)

(श्री तारणस्वामी, ममल पाहुड, भाग-1, पृष्ठ-76)

* * *

मैं जहाँ-जहाँ देखता हूँ, वहाँ सर्वत्र आत्मा ही दिखता है, तो फिर मैं किसके साथ समाधि करूँ और किसे पूजूँ ? छूत-अछूत कहकर किसे छोड़ूँ ? हर्ष और क्लेश किसके साथ करूँ ? और सन्मान किसका करूँ ? (511)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-139)

* * *

अनन्तानुबन्धीरहित अप्रत्याख्यानादि तीन कषाय का उदय होने पर यह जीव महापाप के कारण अन्यायरूप जो चंचलभाव, उनको छोड़कर विमलता को प्राप्त होता है। न्यायरूप निश्चल भाव में तिष्ठता है। यहाँ यह जीव सम्यग्दृष्टि होता है, वहाँ

सम्यक्भाव का ग्रहण है। सर्व ही तेरा प्रकार कषायभाव न्याय प्रवर्तता है। चारों कषायों के कार्य तो होते हैं, परन्तु न्यायरूप होते हैं। पाँचों इन्द्रिय के विषय तो सेवन करता है, परन्तु न्यायपूर्वक सेवन करता है। सो भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की योग्यता सहित कार्य होता है। कषायकार्य में और विषयकार्य में अति आसक्त हो मूर्च्छा-भाव को प्राप्त नहीं होता है। अयोग्य कार्य को कदाचित् नहीं करता है। राजविरुद्ध, लोकविरुद्ध, धर्मविरुद्ध ऐसे जो कषायकार्य और विषयकार्य तथा सप्तव्यसनादि जिसके सर्वथा नहीं होते हैं। इस कषाय के होते इतना सचेत रहता है। (512)

(श्री दीपचन्दजी, भावदीपिका, पृष्ठ-63)

* * *

मुनि ऐसी भावना करे—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक, इन तीनों लोक में मेरा कोई भी नहीं है, मैं एकाकी आत्मा हूँ, ऐसी भावना से योगी मुनि प्रकटरूप से शाश्वत् सुख को प्राप्त करता है। (513) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्षपाहुड, गाथा-81)

* * *

योग का अभ्यास शुरु करनेवाले को बाह्य विषयों में सुख लगता है और आत्मस्वरूप में दुःख प्रतीत होता है, परन्तु आत्मस्वरूप को यथार्थरूप से जाननेवाले को—अच्छे अभ्यासी को बाह्यपदार्थों में ही दुःख ज्ञात होता है और आत्मस्वरूप में सुख का अनुभव होता है। (514) (श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-52)

* * *

जो चतुर पुरुष अपनी इन्द्रियों को वश रखनेवाले हैं, जन्म-मरण से भयभीत हैं, संसार के भ्रमण से उदास हैं, उनको बाधा रहित, स्थिर और निर्मल आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिये सदा ही सर्व को जाननेवाला, सर्व को देखनेवाला, जन्म, मरण, जरा, शोक आदि दोषों से रहित अपने स्वभाव को—सर्व कर्ममलों से रहित अविनाशी अपने आत्मा को ही ध्याना योग्य है। (515) (श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-120)

* * *

मिथ्याज्ञानी, मिथ्याज्ञानसहित होते हैं, उनको आत्मा और अनात्मा का सच्चा

भेदविज्ञान नहीं होता है। उनके भीतर मिथ्यात्वभाव की शल्य वर्तती है। शुद्धात्मा के यथार्थ द्रव्य-गुण-पर्याय की श्रद्धा और पहिचान में भ्रम रह गया है। यही मिथ्यात्व का शल्य है। इसलिए मुक्ति हो, मुक्ति हो और मैं मुक्ति की प्राप्ति का प्रयत्न करता हूँ, मुझे मुक्ति शीघ्र मिले, ऐसा निरन्तर चिन्तवन करते रहते हैं। परन्तु उन मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीवों को मुक्ति का या शुद्धात्मा का सच्चा स्वरूप न मालूम होने से सम्यक् दर्शन के लाभ के बिना कभी भी सम्यक्चारित्र को न पाते हुए मोक्ष का लाभ नहीं हो सकता है। जैसे द्रव्यलिंगी जन के मुनि भी जो बाहरी सर्व चारित्र जैन सिद्धान्तानुसार पालते हैं परन्तु आत्मानुभव के लाभ बिना वह शुद्ध आत्मा के ध्यान से वंचित रहते हैं, जिससे मोक्षमार्ग को न पा सके। (516) (श्री तारणस्वामी, ममल पाहुड़, भाग-1, पृष्ठ-99)

* * *

जैसे प्रत्यक्ष में दैवयोग से किसी की आँख में पीड़ा होने पर भी कोई दूसरे की आँख प्रसन्न भी रह सकती है। इसी प्रकार चारित्रमोह के उदयवश चारित्रगुण में विकार होने पर भी इससे आत्मा के सम्यक्त्वगुण की किसी प्रकार की क्षति नहीं होती। (517) (श्री राजमलजी, पंचाध्यायी उत्तरार्ध, श्लोक-691)

* * *

अप्रत्याख्यान कर्म के उदय होते चारों ही कषायभावरूप प्रवर्ते परन्तु द्रव्य-क्षेत्र-काल के विचारसहित न्यायरूप प्रवर्ते। और अप्रत्याख्यान क्रोधकर्म के उदय होने से जीव के न्यायरूप मर्यादित मान, क्रोध होता है और अप्रत्याख्यान मानकर्म के उदय होते जीव के न्यायरूप मर्यादित मान होता है, और अप्रत्याख्यान मायाकर्म के उदय होते जीव के न्यायरूप मर्यादित माया होती है, और अप्रत्याख्यान लोभकर्म के उदय होते जीव के न्याययुक्त मर्यादित लोभ होता है, और अप्रत्याख्यानकर्म के उदय होते एकदेश संयम भी नहीं धर सके, परन्तु धर्म में रुचि होती है, धर्म और धर्म में भक्ति होती है, प्रीति होती है, सच्चा स्वरूपाचरण होता है। (518) (श्री दीपचन्द्रजी, भावदीपिका, पृष्ठ-12)

* * *

श्रीगुरु जगवासी जीवों को उपदेश देते हैं कि तुमको इस संसार में मोहनिद्रा लेते

हुए अनन्त काल बीत गया; अब तो जागो और सावधान अथवा शान्तचित्त होकर भगवान की वाणी सुनो! कि जिससे इन्द्रियों के विषय जीते जा सकें। मेरे पास आओ, मैं कर्मकलंकरहित परम आनन्दमय तुम्हारे आत्मा के गुण तुमको बतलाऊँ, श्रीगुरु ऐसे वचन कहते हैं तो भी संसारी मोही जीव कुछ ध्यान नहीं देते, मानो कि वे मिट्टी के पुतले हैं अथवा चित्र में चित्रित मनुष्य हैं। (519)

(श्री बनारसीदास, समयसार नाटक, निर्जरा द्वार, पद-12)

* * *

लोक में जो मनुष्य पुण्य के प्रभाव से उत्तमकुल में जन्म लेकर, उत्तम शरीर प्राप्त कर, और आगम जानकर वैराग्य प्राप्त हुए निर्मल तप करते हैं, वे अनुपम पुण्यशाली हैं। वे ही मनुष्य यदि प्रतिष्ठा का मोह (आदर सत्कार का भाव) छोड़कर ध्यानरूप अमृत का पान करते हैं तो समझना चाहिए कि उन्होंने सुवर्णमयी महल पर मणिमय कलश की स्थापना की है। (520)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, यतिभावनाष्टक, श्लोक-5)

* * *

यह जीव द्रव्यलिंग का धारक मुनिपना होते हुए भी जो तीन लोक प्रमाण सर्व स्थान हैं, उनमें एक परमाणु परिमाण एक प्रदेशमात्र भी ऐसा स्थान नहीं है कि जहाँ जन्म-मरण न किया हो। (521)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड, गाथा-33)

* * *

जो जीव स्थिर होकर अपने स्वरूप को अनुभव करेगा, उस जीव का चित्त वन के बीच भी शान्तरस से भर जायेगा और वह आनन्दित होगा; भ्रान्तिरूप घनघोर संसारवन से वह छूट जायेगा और उसे मोक्षसुख का लाभ होगा। (522)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-80)

* * *

भेदज्ञानी के चित्त में शुद्ध आत्मदर्शन से रहित यह सर्व जगत उन्मत्त, भ्रान्तियुक्त, दोनों नेत्र रहित, दिशा भूला हुआ, गाढ निद्रा में सोया हुआ, अविचारी, मूर्च्छा प्राप्त, जल के प्रवाह में बहता हुआ, बालक के जैसी अज्ञान अवस्थावाला तथा मोहरूपी ठगों से

पीड़ित दशा प्राप्त जैसा, पागल जैसा और मोहठगों ने अपने आधीन किया हुआ, व्याकुल हुआ ज्ञात होता है। (523)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-6, श्लोक-2)

* * *

धन, परिजन (दास-दासी), स्त्री, भाई और मित्र आदि के मध्य में से जो इस प्राणी के साथ जाता है, ऐसा यह एक भी कोई नहीं है। फिर भी प्राणी विवेक से रहित होकर उन सबके विषय में तो अनुराग करते हैं, किन्तु उस धर्म को नहीं करते हैं जो कि जानेवाले के साथ जाता है। (524)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-9)

* * *

हे भाई! बड़े कुल में उत्पन्न हुए पुरुषों के और किसी का भी उपहास करना, अयुक्त है,—तो फिर यह वह कैसी रीति है कि स्वधर्मी का भी उपहास करते हो? (525)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-61)

* * *

यहाँ काम, अर्थ और यश के लिये किया गया प्रयत्न कदाचित् भाग्यवश निष्फल भी हो जाता है, परन्तु पात्रजन के अभाव में भी हर्षपूर्वक दान के अनुष्ठान में किया गया केवल संकल्प भी पुण्य करता है। (526)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, दान अधिकार, श्लोक-27)

* * *

संसार का सब ठाठ क्षणभंगुर है, ऐसा जानकर पंचेन्द्रियों के विषयों में मोह नहीं करना। विषय का राग सर्वथा त्यागना योग्य है। प्रथम अवस्था में यद्यपि धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति का निमित्त जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा, जिनधर्म तथा जैनधर्मी, इनमें प्रेम करनेयोग्य है, तो भी शुद्धात्मा की भावना के समय यह धर्मानुराग भी नीचे दर्जे का गिना जाता है, वहाँ पर केवल वीतरागभाव ही है। (527)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-130 के भावार्थ में से)

* * *

संसार में भोग-उपभोग की प्राप्ति से जितना सुख होता है, उसे और उस भोग-उपभोग के नाश से जितना दुःख होता है उसे तुलना करें तो भोग-उपभोग की प्राप्ति से होनेवाले सुख से भोग-उपभोग के नाश से होनेवाला दुःख अत्यन्त अधिक है। (528)

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-1249)

* * *

शास्त्र में नाना प्रकार के मिथ्यादृष्टियों का कथन किया है, उसका प्रयोजन इतना ही जानना कि उन प्रकारों को पहिचानकर अपने में कोई ऐसा दोष हो तो उसे दूर करके सम्यक् श्रद्धायुक्त होना, परन्तु अन्य के ऐसे दोष देखकर कषायी नहीं होना, क्योंकि अपना भला-बुरा तो अपने परिणामों से होता है। (529)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय-7, पृष्ठ-270)

* * *

जिस प्रकार सूर्य के उदय में पृथ्वी पर धूप फैल जाती है और अन्धकार का नाश हो जाता है, उसी प्रकार जब तक शुद्ध आत्मा का अनुभव रहता है, तब तक कोई विकल्प अथवा नय आदि का पक्ष नहीं रहता। वहाँ नय-विचार का लेश भी नहीं है, प्रमाण की पहुँच नहीं है और निक्षेपों के समुदाय नष्ट हो जाते हैं। पहले की दशा में जो-जो बातें सहायक थीं, वही अनुभव की दशा में बाधक होती है और राग-द्वेष तो बाधक है ही। (530)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, जीवद्वार, पद-10)

* * *

शरीर, धन, सुख-दुःख अथवा शत्रु-मित्रजन—ये कोई जीव को ध्रुव नहीं है, ध्रुव तो उपयोगात्मक आत्मा है। (531)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार, गाथा-193)

* * *

चैतन्यस्वरूप आत्मा के चिन्तन से मुमुक्षुजनों के रस नीरस हो जाते हैं, साथ मिलकर चलती कथाओं का कौतुहल नष्ट हो जाता है, इन्द्रियविषय विलीन हो जाते हैं, शरीर के सन्दर्भ में भी प्रेम का अन्त आ जाता है, एकान्त में मौन प्रतिभासित होता है तथा वैसी दशा में दोषों के साथ मन भी मरने की इच्छा करता है। (532)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, परमार्थ विंशति, गाथा-19)

* * *

शुद्ध सम्यग्दर्शन का प्रेम तथा शुद्ध आत्मज्ञान का प्रेम कर्मों का क्षय करनेवाला है। परन्तु यदि शरीर का मोह हो तो अनन्तानन्त पर्यायों को यह जीव धारण करता रहता है। (533) (श्री तारणस्वामी, उपदेशशुद्धसार, श्लोक-375)

* * *

जैसे सूर्य की कठोर किरणें कमल की नाजुक कलियों को प्रफुल्लित करती है, उसी प्रकार श्रीगुरु के कठोर शिक्षावचन भी भव्य जीव के अन्तःकरण को प्रफुल्लित करते हैं। (534) (श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-141)

* * *

मनुष्य अपने दोषों को यद्यपि कपट से आच्छादित करता है (ढँकता है) तो भी वह लोक में क्षणभर में ही इस प्रकार से अतिशय प्रकाश में आ जाता है—प्रगट हो जाता है कि जिस प्रकार से जल में डाला गया मल क्षणभर में ही ऊपर आ जाता है। अतएव मनुष्यों को उस मायाचार के लिये हृदय में थोड़ा-सा भी स्थान नहीं देना चाहिए। (535) (श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-62)

* * *

मैं ऐसा समझता हूँ कि जो पुरुष जिनधर्मियों की सहायता करता है, उसका नाम लेने से भी मोहकर्म लज्जायमान होकर मन्द पड़ जाता है, और उसके गुणगान करने से कर्म गल जाते हैं। (536) (आचार्यश्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-54)

* * *

हे योगी ! तू जो वीतराग परमानन्द के शत्रु ऐसे नरकादि चारों गतियों के दुःख से डर गया है, तो तू निश्चित होकर परलोक का साधन कर ! इस लोक की कुछ भी चिन्ता मत कर। क्योंकि तिल के भूसे मात्र भी शल्य मन को निश्चय से वेदना करती है। (537) (श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, श्लोक-187)

* * *

जिस प्रकार पर्वतों में मेरु; वृक्षों में कल्पवृक्ष; धातुओं में सुवर्ण; पीने योग्य पदार्थों में अमृत; रत्नों में चिन्तामणि; ज्ञानों में केवलज्ञान; चारित्रों में समतारूप चारित्र;

आसों में तीर्थकर; गायों में कामधेनु; मनुष्यों में चक्रवर्ती और देवों में इन्द्र ही महान और उत्तम है। उसी प्रकार ध्यानों में शुद्ध आत्मस्वरूप का ही ध्यान, स्मरण, चिन्तवन सर्वोत्तम है। (538)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-2, गाथा-9)

* * *

अहो! मेरे हृदय में स्फुरायमान इस निज आत्मगुण सम्पदा को कि जो समाधि का विषय है, उसे मैंने पूर्व में एक क्षण भी जाना नहीं। वास्तव में तीन लोक के वैभव के प्रलय के हेतुभूत दुष्कर्मों की प्रभुत्वगुणशक्ति से (दुष्ट कर्मों के प्रभुत्वगुण की शक्ति से) अरेरे! मैं संसार में मारा गया हूँ (हैरान हो गया हूँ)। (539)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-198)

* * *

(अध्यात्मचिन्तनरूप ध्यान के लिये) उत्साह, निश्चय (स्थिर विचार) धैर्य, सन्तोष, तत्त्वदर्शन और जनपदत्याग, यह छह प्रकार की बाह्य सामग्री है। (540)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, मोक्ष अधिकार, गाथा-41)

* * *

यह मनुष्य क्या वायु का रोगी है? क्या भूत-पिशाच आदि से ग्रसित है? क्या भ्रान्ति प्राप्त है? अथवा क्या पागल है? क्योंकि यह 'जीवन आदि बिजली समान चंचल है' यह बात जानता है, देखता है और सुनता भी है, तो भी अपना कार्य (आत्महित) नहीं करता। (541)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अनित्य पंचाशत, श्लोक-47)

* * *

सूरज को अन्धकार ने घेर लिया—क्या ऐसा तीन लोक में कभी देखा है या सुना है? नहीं। उसी प्रकार आत्मज्ञानी जीव को कर्म का जाल घेर ले, ऐसा कभी नहीं होता। (542)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-99)

* * *

जिस लेश्या में जीव मरण पाता है, उसी लेश्या में वह उत्पन्न हो, ऐसा एकान्त नियम है। (543)

(श्री धवला, पुस्तक-4, पृष्ठ-293)

* * *

जिसके भय से चलायमान होते हुए—खलबलाते हुए तीनों लोक अपने मार्ग को छोड़ देते हैं, ऐसा वज्रपात होने पर भी, ये सम्यग्दृष्टि जीव, स्वभावतः निर्भय होने से, समस्त शंका को छोड़कर स्वयं अपने को (आत्मा को) जिसका ज्ञानरूप शरीर अवध्य है, ऐसा जानते हुए, ज्ञान से च्युत नहीं होते। ऐसा परम साहस करने के लिये मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ है। (544) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-154)

* * *

आत्मा का इष्ट अपना अमूर्तिक स्वभाव है, जो सर्व कर्मों से मुक्त शुद्ध भाव है, जिसको इस परम हितकारी शुद्ध भाव का वियोग है, वह इष्ट वियोग आर्तध्यान को पाकर परिणामों के अनुसार शुभगति और अशुभगति में जाता है। (545)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-832)

* * *

जो पराधीन है, वह सब दुःख है और जो स्वाधीन है, वह सब सुख है। इस प्रकार (विज्ञ पुरुष) संक्षेप में सुख-दुःख का लक्षण कहते हैं। (546)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, चूलिका अधिकार, गाथा-12)

* * *

प्रभो! आपकी निर्दोष स्तुति तो कहाँ रही? परन्तु आपकी पवित्र कथा का श्रवण करने से भी जीवों को संसार के सब पाप नष्ट हो जाते हैं। यह सच्ची बात है कि सूर्य बहुत दूर होने पर भी उसकी किरणें सरोवर के कमलों को प्रफुल्लित करती हैं। (547)

(श्री मानतुंग आचार्य, भक्तामरस्तोत्र, श्लोक-9)

* * *

साधर्मी भाईयों के प्रति तो जिसे अहितबुद्धि (द्वेषभाव) है और पुत्र-बन्धु इत्यादि के प्रति अनुराग है, उसे सम्यक्त्व नहीं—ऐसा सिद्धान्त के न्याय से प्रगटरूप जानना चाहिए। (548) (आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-147)

* * *

सम्यग्दर्शन से विभूषित जीव को नरक का वास भी अच्छा है, परन्तु सम्यग्दर्शन

रहित का स्वर्ग में रहना भी नहीं शोभता है। (549)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-39)

* * *

जैसे कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है और रात-दिन कीचड़ में रहता है परन्तु उसके ऊपर कीचड़ चिपकता नहीं, अथवा जैसे मन्त्रवादी अपने शरीर पर सर्प द्वारा डंक लगवाता है, परन्तु मन्त्र की शक्ति से उसके ऊपर विष नहीं चढ़ता, अथवा जैसे जीभ चिकने पदार्थ खाती है परन्तु चिकनी नहीं होती, रूखी रहती है, अथवा जैसे स्वर्ण पानी में पड़ा रहे तो भी उस पर जंग नहीं लगती; उसी प्रकार ज्ञानी जीव उदय की प्रेरणा से भाँति-भाँति की शुभाशुभ क्रिया करता है, परन्तु उसे आत्मस्वभाव से भिन्न कर्मजनित मानता है, इसलिए सम्यग्ज्ञानी जीव को कर्मकालिमा नहीं लगती। (550)

(श्री बनारसीदास, नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पद-5)

* * *

अन्तरंग की शुद्धि बिना बाह्य शुद्धि विश्वास के योग्य नहीं होती। बगुला बाह्य में उज्ज्वल होता है, तथापि (अन्तरंग शुद्धि के अभाव में) अनेक मछलियों को मारा करता है। (551)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, चारित्र अधिकार, गाथा-32)

* * *

कैसे हैं वे सर्व पदार्थ ? (छह द्रव्य कैसे हैं ?) अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को (समूह को) चूमते हैं, स्पर्श करते हैं तो भी जो परस्पर एक-दूसरे का स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से रह रहे हैं तो भी जो सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, पररूप नहीं परिणमने के कारण अनन्त व्यक्तता नाश नहीं पाती, इसलिए जो टंकोत्कीर्ण जैसे (शाश्वत्) स्थित रहते हैं। (552)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-3)

* * *

बहुविभाव होने पर भी, सहज परम तत्त्व के अभ्यास में जिसकी बुद्धि प्रवीण है, ऐसा यह शुद्धदृष्टिवाला पुरुष, 'समयसार से अन्य कुछ नहीं है' ऐसा मानकर, शीघ्र

परमश्रीरूपी सुन्दरी का वल्लभ होता है। (553)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-27)

* * *

निश्चय से मैं 'वीतराग', और निश्चय से मेरा निज स्वरूप जो है, वह 'वीतराग' है। इसलिए प्रगट निज जाति वस्तुस्वरूप जो स्वभाव है, वह निश्चय से वीतरागभाव से दैदीप्यमान है। (554)

(श्री दीपचन्द्रजी, आत्मावलोकन, श्लोक-3)

* * *

वही शुद्ध या निश्चय अहिंसा कही गयी है, जहाँ यह भावना की जावे कि यह आत्मा परमात्मा की जाति होने से उन्हीं के समान शुद्ध है। जहाँ हीं मन्त्र के द्वारा ध्यान में स्थिर हुआ जाये, वही ज्ञानस्वभाव से निश्चय अहिंसा है। (555)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-343)

* * *

हे योगी! यह शरीर छिद जाये, दो टुकड़े हो जावे, अथवा भिंद जावे, छेदसहित हो जावे, नाश को प्राप्त होवे, तो भी तू भय मत कर, मन में खेद मत ला, अपने निर्मल आत्मा का ही ध्यान कर, अर्थात् वीतराग चिदानन्द शुद्धस्वभाव—भावकर्म—द्रव्यकर्म—नोकर्म से रहित अपने आत्मा का चिन्तवन कर, जिस परमात्मा के ध्यान से तू भवसागर का पार पायेगा। (556)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-72)

* * *

दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित आत्मा ऐसा जानता है कि—निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शनमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, कुछ भी अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, यह निश्चय है। (557)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-38)

* * *

जैसे स्वच्छ और सफेद सूर्यकान्तमणि अथवा स्फटिकमणि के नीचे अनेक प्रकार के डंक रखे जायें तो वह अनेक प्रकार के रंग-बिरंगी दिखते हैं और यदि वस्तु के असल स्वरूप का विचार किया जाये तो उज्ज्वलता ही ज्ञात होती है, इसी प्रकार जीवद्रव्य में पुद्गल के निमित्त से उसकी ममता के कारण से मोह-मदिरा का उन्मत्तपना

होता है, परन्तु भेदविज्ञान द्वारा स्वभाव विचार किया जाये तो सत्य और शुद्ध चैतन्य की वचनातीत सुख-शान्ति प्रतीति में आती है। (558)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, बन्ध द्वार, पद-34)

* * *

उत्तम या निश्चयधर्म वही है, जहाँ अपने आत्मा को परमात्मा के साथ एक समान माना जाये, जिससे उत्तम निर्मल शुद्धोपयोग भाव की प्राप्ति हो सके, रागादि मल से रहित परम शुद्ध निर्मल शुद्धोपयोगरूप भाव ही मोक्ष की सिद्धि का उपाय है। (559)

(श्री तारणस्वामी, ममल पाहुड, भाग-1, पृष्ठ-25)

* * *

आदि-मध्य-अन्तरहित, शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव परमात्मा में सकल निर्मल केवलज्ञानरूप नेत्र द्वारा दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति, शुद्धात्मा आदि पदार्थ आलोकित होते हैं—दिखते हैं—ज्ञात होते हैं—परिच्छिन्न होते हैं, इसलिए इस कारण वही (-शुद्धात्मा ही) निश्चयलोक है अथवा उस निश्चयलोक नामक अपने शुद्ध परमात्मा का अवलोकन, वह निश्चयलोक है। (560)

(श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्तदेव, बृहद्ब्रह्मसंग्रह, गाथा-35)

* * *

भगवान का वचन यह है कि यह आत्मा निश्चल शुद्ध है। जिनवचन शुद्ध सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताता है। आत्मा का स्वभाव वचनों से रहित है अथवा जिनवचन यह है कि यह आत्मा केवल शुद्धस्वरूप है। (561)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-609)

* * *

यदि किसी भी प्रकार से (तीव्र पुरुषार्थ करके) धारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा को निश्चलरूप से अनुभव किया करे तो यह आत्मा, जिसका आत्मानन्द प्रगट होता जाता है (अर्थात् जिसकी आत्मस्थिरता बढ़ती जाती है), ऐसे आत्मा को परपरिणति के निरोध से शुद्ध ही प्राप्त करता है। (562)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-127)

* * *

यह जीव अपने शुद्ध आत्मा को जिस क्षण देखता है, उसी क्षण उसका विभ्रम नाश होता है और स्वस्थचित्त होता है अर्थात् ज्ञान आकुलतारहित स्थिर होता है, और निर्विकल्प समाधि को पाता है। (563) (परमानन्द स्तोत्र, श्लोक-15)

* * *

चिदानन्दभावना से चित्परिणति शुद्ध होती है, चित्परिणति शुद्ध होने से चिदानन्द शुद्ध होता है। अनात्मपरिणाम मिटाकर आत्मपरिणाम करना, वही कृतकृत्यपना है, योगीश्वर भी इतना करते हैं। (564) (श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-18)

* * *

जिसने आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ा नहीं और आवागमन मिटाया नहीं, उसे छिलके कूटते हुए बहुत काल बीत गया तो भी तन्दुल का एक भी दाना हाथ में नहीं आया। (565) (श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-185)

* * *

हे भव्य! तू आगम के अभ्यास को छोड़ना नहीं, उसमें कहे हुए तत्त्व का बारम्बार अभ्यास करके बूँद-बूँद आत्मा के अमृत का पान किया करना और कर्म के क्षय के लिये दत्तचित्त (सावधान) रहना। (566) (श्री नेमीश्वर भव्यामृत शतक, श्लोक-31)

* * *

सम्यग्दर्शन अनन्त गुणरूपी आत्मा परम श्रद्धान लाता है। जब सम्यग्दर्शन के प्रताप से सूक्ष्म अतीन्द्रिय आत्मा का अनुभव होता है, तब कर्मों का क्षय होता है। सम्यग्दर्शन आत्मा के अनन्तानन्त पर्यायों पर विश्वास रखता है। (567) (श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-196)

* * *

संसार, शरीर और भोगों से जिसका मन विरक्त हुआ है, वह जीव आत्मा को ध्याने से, उसकी महा विस्तृत संसाररूपी वेल छिन्न-भिन्न हो जाती है। (568) (श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-32)

* * *

आचार्य कोमल सम्बोधन से कहते हैं कि हे भाई! तू किसी भी प्रकार से महा कष्ट से अथवा मरकर भी तत्त्व का कौतूहली होकर इन शरीरादि मूर्त द्रव्यों का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ोसी होकर आत्मा का अनुभव कर कि जिससे अपने आत्मा को विलासरूप, सर्व परद्रव्यों से भिन्न देखकर इन शरीरादिक मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों के साथ एकत्व के मोह को तू शीघ्र ही छोड़ेगा। (569) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-23)

* * *

संसारी जीवराशि मिथ्यात्व परिणाम को सर्वथा छोड़ो। छोड़ने का अवसर कौन सा? तत्काल। भावार्थ ऐसा है कि शरीरादि परद्रव्यों के साथ जीव की एकत्वबुद्धि विद्यमान है, वह सूक्ष्मकालमात्र भी आदर करनेयोग्य नहीं है। (570)

(श्री राजमलजी, कलश टीका, कलश-22)

* * *

परपरिचय से आकुलता है, निजपरिचय से सुख-शान्ति है, जिनदेव ने ऐसा परमार्थ कहकर यह हित का संकेत किया है। (571)

(श्री दीपचन्द्रजी, आत्मावलोकन, अनुभव दोहा नं.-11)

* * *

हे भव्यात्मा! तू जीव को शरीर से सर्व प्रकार से भिन्न, उद्यम करके भी जान; जिसे जानने से बाकी के सर्व परद्रव्य क्षणमात्र में तजनेयोग्य लगते हैं। (572)

(श्री स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-79)

* * *

(हे भव्य!) तू मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को स्थापित कर, उसका ही ध्यान कर, उसे ही चेत—अनुभव कर और उसमें ही निरन्तर विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार न कर। (573)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-412)

* * *

अनादि आत्मा की आकुलता एक विशुद्ध बोधकला द्वारा मिटती है, इसलिए सहज बोधकला का निरन्तर अभ्यास करो। स्वरूपानन्दी होकर भवोदधि को तिरो। (574)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-38)

* * *

तीन लोक के जीवों को निरन्तर मरते देखकर भी जो जीव अपने आत्मा का अनुभव नहीं करते और पापों से विरक्त नहीं होते—ऐसे जीवों के ढीठपने को धिक्कार हो। (575)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-109)

* * *

भव्यपुरुष को जैसे-जैसे कालादि लब्धियाँ निकट आती जाती हैं, वैसे-वैसे मोक्ष के लिये सर्व उत्तम सामग्रियाँ निश्चय से प्राप्त होती जाती हैं। (576)

(श्री देवसेन आचार्य, तत्त्वसार, गाथा-12)

* * *

जिसकी भवस्थिति घट जाने से अर्थात् किञ्चित् न्यून अर्धपुद्गल-परावर्तनकालमात्र शेष रहने से मोक्ष अवस्था समीप आ गयी है, उसके मनरूप सीप में सद्गुरु मेघरूप और उनके वचन मोतीरूप परिणमन करते हैं। आशय यह है कि ऐसे जीवों को ही श्रीगुरु के वचन रुचिकर होते हैं। (577)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, साध्यसाधक द्वार, पद-5)

* * *

विनयपूर्वक पठन किया गया सूत्र यदि किसी भी प्रकार से प्रमाद से विस्मृत हो जाये तो दूसरे भव में वह उपस्थित हो जाता है और केवलज्ञान को भी प्राप्त कराता है। (578)

(श्री धवला, पुस्तक-9, पृष्ठ-259)

* * *

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है। वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे ? आत्मा परभाव का कर्ता है, ऐसा मानना (तथा कहना) वह व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है। (579)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-62)

* * *

जो परम्परा से आत्मा और पर का भेद बताते हैं, ऐसे गुरु ही हितकर हैं, गुरु ही हिमकरणचन्द्र हैं, गुरु ही दीपक हैं और वे गुरु ही देव हैं। (580)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-1)

* * *

श्रद्धावान जीव को यह मेरे और यह पराये, ऐसा भेद गुरु में कदापि नहीं होता।
जिनवचनरूपी रत्नाभूषण से जो शोभित है, वे सब ही गुरु हैं। (581)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-105)

* * *

यह पंचम दुःखमा काल आकुलतामय तथा अनिष्ट निमित्तों से पूर्ण है। इसमें
हितकारी सम्यग्दर्शन शीघ्र नहीं उत्पन्न होता है, तो भी ज्ञान के अभ्यास के बल से
आत्महितकारी सम्यग्दर्शन का संयोग होता है, तब सर्व भय नाश हो जाता है और कर्मों
का क्षय होने लगता है अर्थात् सम्यग्दर्शन के होते ही अविपाकनिर्जरा प्रारम्भ हो जाती
है। (582)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-1, पृष्ठ-49)

* * *

जो गृहस्थी के धन्धे में रहते हुए भी हेयाहेय को समझते हैं और जिनभगवान का
निरन्तर ध्यान करते हैं, वे शीघ्र ही निर्वाण को पाते हैं। (583)

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-18)

* * *

हे भव्य ! तुझे व्यर्थ अन्य कोलाहल करने से क्या लाभ है ? उस कोलाहल से तू
विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं निश्चल लीन होकर देख; ऐसा छह
महीने अभ्यास कर और देख (जाँच कर) कि ऐसा करने से अपने हृदयसरोवर में
जिसका प्रताप-प्रकाश पुद्गल से भिन्न है, ऐसे आत्मा की प्राप्ति नहीं होती है या होती
है। (584)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-34)

* * *

कोई मनुष्य शुद्ध, स्वादिष्ट, स्वच्छ अमृत जैसे मिष्टान्न जीमता हो और शत्रु उसमें
जहर मिला दे; इसी प्रकार मैं अभी संसार से विरक्त होकर, मेरे अन्तर में धर्मरूपी परम
अमृत का भोजन करने को तत्पर हुआ हूँ, उस समय उसमें राज्यलक्ष्मी के भोग का विष
मिलाकर आप स्वजन शत्रु का कार्य नहीं करना। (585)

(आचार्य जटासिंहनन्दी, वरांग चरित्र, सर्ग-28, श्लोक-19)

* * *

प्रश्न—ज्ञान तो जानपनेरूप है, तथापि अपने को क्यों नहीं जानता ?

समाधान—जानपना अनादि से पर से व्यापकर पर का ही हो रहा है। अब वह ऐसे विचार करने से शुद्ध होता है कि यह पर का जानपना भी ज्ञान बिना नहीं होता। ज्ञान आत्मा के बिना नहीं होता, इसलिए परपद को जाननेवाला मेरा पद है, मेरा ज्ञान वही मैं हूँ, परविकार पर है, जहाँ-जहाँ जानपना वहाँ-वहाँ मैं, ऐसा दृढ़भाव, वह सम्यक्त्व है। वह सुगम है। (तथापि) विषम मान रहा है। (586)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-21)

* * *

जो प्रलयकाल के पवन से उद्धत हुई अग्नि, जिसके अन्दर से बहुत चिंगारियाँ उड़ती हैं और बहुत ही प्रकाशवाली हैं, ऐसा दावानल वन की अग्नि मानो जगत को जला डालने की इच्छा न करती हो! वैसे जोर में सुलगता-सुलगता अग्नि सन्मुख आवे तो उसे भी आपके (जिनेन्द्र के) नाम का कीर्तन-स्तवनरूपी जल समग्र रूप से बुझा देता है। (587)

(श्री मानतुंग आचार्य, भक्तामरस्तोत्र, श्लोक-40)

* * *

इस तरह कमल के समान प्रफुल्लित आत्मा का स्वभाव कहा गया। यही शुद्धात्मा का अनुभव ही श्री जिनेन्द्र पद की उत्पत्ति का कारण है। जैसा कारण होता है, वैसा कार्य होता है। शुद्धस्वभाव का ध्यान ही शुद्ध भाव का प्रकाशक है। केवलस्वरूप आत्मा का अनुभव ही केवलज्ञान का कारण है। शुद्धस्वभाव के झलकाव से दोषसहित सर्व भय विला जाते हैं। (588)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-1, पृष्ठ-165)

* * *

जो मनुष्य प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव का न तो दर्शन करते हैं, न स्मरण करते हैं, न पूजन करते हैं, न स्तुति करते हैं और समर्थ होने पर भी भक्ति से मुनिजनों को उत्तम दान भी नहीं देते, उनका गृहस्थाश्रमपद पत्थर की नाव समान है; उस पर बैठकर वे मनुष्य अत्यन्त भयानक संसाररूपी समद्रु में गोते खाते हुए नाश ही पानेवाले हैं। (589)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, देशव्रत-उद्योतन, श्लोक-18)

* * *

श्रद्धावान जीव को जिनराज की पूजा के अवसर पर कोई करोड़ों का धन दे तो भी वह असार धन की श्रद्धा छोड़कर स्थिरचित्त से सारभूत जिनराज की पूजा ही करता है। (590)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-89)

* * *

देखो, यह पुण्य का ही माहात्म्य है जो कि प्राणों को हरण करनेवाला हलाहल विष भी अमृत बन जाता है। विष भी निर्विष हो जाता है, शाकिनी-भूत-पिशाच आदि के उपद्रव पुण्यशाली जीव को नहीं होते हैं, उसको देखते ही भाग जाते हैं, धर्मात्मा पुरुष के पैर तले, धर्म के प्रभाव से भयानक फुंफकार करता हुआ, क्रोध से लाल हो गये हैं नेत्र जिसके ऐसा सर्प भी कांचली-सा बन जाता है, भयानक अग्नि जल के रूप में परिणम जाती है, सिंह सियार बन जाता है, समुद्र थल बन जाता है, धर्म का ही यह प्रभाव है कि धर्मात्मा के चरणों को राजा-महाराजा चक्रवर्ती आदि तक पूजते हैं। (591)

(श्री पाण्डव पुराण, पृष्ठ-187)

* * *

हे जीव ! तू जिनवर को ध्या, और विषय-कषायों को छोड़। हे वत्स ! ऐसा करने से दुःख तुझे कभी दिखायी नहीं देंगे और तू अजर-अमर पद को प्राप्त करेगा। (592)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-197)

* * *

जैसे घास के तिनके की वाड मदमत्त हाथी को रोक नहीं सकती, उसी प्रकार जिसने अकिंचन (किंचित् भी परिग्रहरहित) आत्मा का स्वाद चख लिया है, ऐसे मुमुक्षु को बाह्यपरिग्रहों की वाड आत्मसाधना में विघ्न नहीं कर सकती। (593)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-41)

* * *

जो पुरुष, स्त्री आदि विषयों का उपभोग करता है, उसका सारा शरीर काँपने लगता है, श्वास तीव्र हो जाती है और सारा शरीर पसीने से तर हो जाता है, यदि संसार में ऐसा जीव भी सुखी माना जाये तो फिर दुःखी कौन होगा ? जिस प्रकार दाँतों से हड्डी चबाता हुआ कुत्ता अपने को सुख मानता है, उसी प्रकार जिसकी आत्मा विषयों में

मोहित हो रही है, ऐसा मूर्ख प्राणी ही विषय सेवन करने से उत्पन्न हुए परिश्रममात्र को ही सुख मानता है। (594) (श्री जिनसेनाचार्य, आदिपुराण, भाग-1, पृष्ठ-243)

* * *

(जीव को) तत्काल मरण भासे तो भी वह मरण न गिनकर विषयों का ग्रहण करता है। इसलिए मरण होने से भी इन्द्रियों के विषयसेवन की पीड़ा अधिक ज्ञात होती है। उन इन्द्रियों की पीड़ा से सर्व जीव पीड़ित बनकर निर्विचार होकर, जैसे कोई दुःखी व्यक्ति पहाड़ के ऊपर से गिरता हो, वैसे विषयों में कूद पड़ते हैं। (595)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय-3, पृष्ठ-51)

* * *

मध्यमपात्र जब अपने को भावश्रुतज्ञान का दान देते हैं, तब वह अपने को आहारदान करते हैं, क्योंकि भावश्रुतज्ञान में समयसार का ज्ञान होने से उनको परम तृप्ति मिलती है। जब वे मध्यमपात्र अपने आत्मा में भावश्रुतज्ञान द्वारा रमण करते हैं, तब वे आनन्दमय हो जाते हैं। यह सच्चा पात्रदान है। इस अनुपम पात्रदान से सूक्ष्म कर्म के स्कन्ध जो बन्ध प्राप्त थे, उनकी निर्जरा हो जाती है। (596)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड़, भाग-1, पृष्ठ-75)

* * *

रे जीव! तू अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि जीवों के दोष का किसलिए निश्चय करता है?—वे तो मिथ्यादृष्टि हैं ही; तू तेरे आत्मा को स्वयं को ही क्यों नहीं जानता? यदि तुझे निश्चय सम्यक्त्व न हो तो तू भी दोषवान है। इसलिए जिनवाणी अनुसार तू दृढ़ श्रद्धा कर। (597)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-70)

* * *

जिस कर्म को मैं उदय में लाकर भोगना चाहता था, वह कर्म आप ही आ गया, इससे मैं शान्तचित्त से फल सहनकर क्षय करूँ, यह कोई महान ही लाभ हुआ। (598)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-183)

* * *

हे प्राणी! तुम देखो तो सही, यह मोह का माहात्म्य! कि पापवश बड़ा राजा भी

मरकर विष्टा के कीड़े में जाकर उत्पन्न होता है और वहाँ ही वह रति मानता है—क्रीड़ा करता है। (599) (श्री स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-63)

* * *

व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है, ऐसा ऋषीश्वरों ने दर्शाया है, जो जीव भूतार्थ का आश्रय करता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है। (600)
(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-11)

* * *

जो आत्मा अपनी जाति को उत्कृष्ट देखे, उसके साथ क्रीड़ा करे, उसके ही लिये हितस्वरूप रहे, उससे ही वह सुखी होता है, उसका ही सम्बन्ध वह पावे और उसमें ही वह स्थित हो; तो वह आनन्दरूप अमृत का समुद्र बन जाता है। अधिक क्या कहना? समस्त उपदेशों का केवल यह ही रहस्य है। (601)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-152)

* * *

शुद्ध चिद्रूप को भजनेवाले मनुष्यों का क्षुधा, प्यास, रोग और सर्दी, गर्मी, पानी और वाणी से, शस्त्र, राजादि के भय से, स्त्री, पुत्र, शत्रु, निर्धनता, अग्नि, बेड़ी, गाय आदि पशु तथा अश्व, धन, कण्टक से संयोग, वियोग, डांस, पतन, धूल से, मानभंग आदि से उत्पन्न होता दुःख कहाँ चला जाता है, वह हम नहीं जानते। (602)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-2, गाथा-3)

* * *

रागादि का नाम ही हिंसा, अधर्म और अव्रत है तथा निश्चय से उनके त्याग का ही नाम अहिंसा, व्रत अथवा धर्म है। इसलिए जो आगम में स्व और पर प्राणियों की अहिंसा का सिद्धान्त माना गया है, वह मात्र स्वात्मरक्षा के लिये ही है, परन्तु वह पर के लिये नहीं है। (603)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-754-755)

* * *

इस जगत में अनन्त जीव ऐसे हैं कि जिन्हें इन्द्रियादि स्वरूप की प्राप्ति कभी हुई नहीं। मिथ्यात्वादि भावकलंक से भरपूर सर्व काल निगोदवास को नहीं छोड़ते। सूक्ष्म

वनस्पतिरूप से रहे हुए ऐसे जीव अनन्त हैं। (इस संसार में जीवों को त्रसपना प्राप्त होना, अत्यन्त दुर्लभ है।) (604)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, पर्याप्ति अधिकार, गाथा-187)

* * *

हे नाथ! जो बुद्धिमान मनुष्य इस स्तोत्र का निरन्तर (प्रतिदिन) पाठ करता है, वह उन्मत्त हाथी, सिंह, दावानल, सर्प, युद्ध, समुद्र, जलोदर और बन्धन इत्यादि से होनेवाले भय से तुरन्त ही मुक्त हो जाता है, मतलब कि ऐसे लोग आगे से भय डर गया हो, वैसे नष्ट हो जाता है। (605) (श्री मानतुंग आचार्य, भक्तामरस्तोत्र, श्लोक-47)

* * *

यह शरीरादि दृश्य पदार्थ चेतनारहित जड़ है और जो चैतन्यस्वरूप आत्मा है, वह इन्द्रियों द्वारा दिखाई दे ऐसा नहीं है; इसलिए मैं किस पर रोष करूँ और किससे प्रसन्न होऊँ? इसलिए मैं मध्यस्थ होता हूँ—ऐसा अन्तरात्मा विचार करता है। (606)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितंत्र, गाथा-46)

* * *

जिसे स्वयं को अनन्त शक्ति प्रकाशमान है, ऐसी वस्तु अन्य वस्तु से बाहर यद्यपि लोटती है, तथापि अन्य वस्तु अन्य वस्तु के अन्दर प्रवेश नहीं करती, क्योंकि समस्त वस्तुएँ अपने-अपने स्वभाव में निश्चित हैं, ऐसा माना जाता है। (आचार्यदेव कहते हैं कि—) ऐसा होने पर भी, मोहित जीव, अपने स्वभाव से चलित होकर आकुल होता हुआ, किसलिए क्लेश पाता है? (607)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-212)

* * *

हे विद्वत्जनों! धन, महल और शरीर आदि के विषय में ममत्वबुद्धि छोड़कर शीघ्रता से कुछ भी अपना ऐसा कार्य करो कि जिससे यह जन्म पुनः प्राप्त न करना पड़े। दूसरे सैंकड़ों वचनों के बाह्य समारम्भ से तुम्हारा कुछ भी इष्ट सिद्ध होनेवाला नहीं है। यह जो तुमको उत्तम मनुष्य पर्याय आदि स्वहित साधक सामग्री प्राप्त हुई है, वह पुनः प्राप्त होगी अथवा नहीं होगी, यह कुछ निश्चित नहीं अर्थात् उसका पुनः प्राप्त होना बहुत

ही कठिन है। (608)(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-123)

* * *

जिस प्रकार लहरों से उछलते भीषण समुद्र बीच से अथाग प्रयत्नपूर्वक तिरता हुआ कोई पुरुष किनारे तक आया और कोई शत्रु उसे धक्का देकर वापस समुद्र में धकेल दे; उसी प्रकार हे माता-पिता! दुर्गति के दुःखों से भरपूर इस घोर संसार समुद्र में अनादि से डुबा हुआ मैं, वैराग्य द्वारा अभी मुश्किल से किनारे पर आया हूँ, तो फिर से आप मुझे उस संसार समुद्र में मत गिराओ, घर में रहने का न कहो। (609)

(आचार्य श्री जटासिंह नन्दी, वरांग चरित्र, सर्ग-29, श्लोक-18)

* * *

जिस संसार में पृथ्वी को उलटाने में, आकाश मार्ग से चन्द्र-सूर्य को उतार फेंकने में, समुद्र के जल को पी डालने में तथा पर्वत को चूर्ण करने में समर्थ पुरुष मृत्यु के मुख में प्रवेश करते हों, वहाँ दूसरे की क्या स्थिति है? ठीक है, जिस बिल में वनों के साथ पर्वत समा जाता है, उसमें परमाणु का समा जाना कौन बड़ी बात है? (610)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-305)

* * *

पंचम गति निवासी श्री सिद्धभगवान पंचम ज्ञान केवलज्ञान के धारी हैं, उनका स्वरूप ही भव्य जीवों को उनके समान होने की शिक्षा देता है। वे सर्व भय से रहित हैं, आनन्दामृत में रमण करनेवाले वीतराग परम शुद्ध जिन हैं। वे ज्ञानचेतना के धारी आत्मिक कमल के रस में रमण करनेवाले जिनेश हैं। वे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य—चार चतुष्टय के धारी हैं, तारण-तरण जिन हैं, मुक्ति में सदा रहनेवाले हैं। (611)

(श्री तारणस्वामी, ममल पाहुड, भाग-2, पृष्ठ-158)

* * *

‘प्रभुता’ अपने घर में रहती है। ‘दुःख’ नीच ऐसे पर के घर में रहता है। यह प्रत्यक्ष रीति से विचारकर अपने चेतनघर में रहो। (612)

(श्री दीपचन्द्रजी, आत्मावलोकन, पृष्ठ-162)

* * *

जो पुराने कर्मों को खीपाता है, नये कर्मों को आने नहीं देता और प्रतिदिन जिनदेव को ध्याता है, वह जीव परमात्मा हो जाता है। (613)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-193)

* * *

दर्शनमोहनीय का क्षय करनेवाले मनुष्य प्रायः असंयमी रहते हैं और वे संयम को प्राप्त होने पर प्रायः महाव्रतों को ही धारण करते हैं, अणुव्रतों को धारण नहीं करते।

(614)

(श्री धवला पुस्तक-5, पृष्ठ-277)

* * *

एक जीव दूसरे किसी जीव के विषय में शोक करता हुआ कहता है कि अरेरे! मेरे नाथ का मरण हुआ। परन्तु वह अपने लिये शोक नहीं करता कि मैं स्वयं संसार-समुद्र में डूबा हुआ हूँ। संसार में जीव जिस प्रकार दूसरे के विषय में विचार करता है, उसी प्रकार अपने लिये भी यदि विचार करे तो शीघ्र अपना हित हो। परन्तु जीव अपने विषय में प्रायः विचार नहीं करता। (615)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, अनुप्रेक्षा-अधिकार, गाथा-11)

* * *

हे जीव ! यह शरीर तेरा शत्रु है, क्योंकि दुःखों को उत्पन्न करता है, जो इस शरीर का घात करे, उसको तुम परममित्र जानो। (616)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, श्लोक-182)

* * *

प्रज्ञा—ज्ञान की अधिकता होने पर भी मान न करना, वह प्रज्ञापरीषहजय है।

अज्ञान—ज्ञानादिक की हीनता हो, तब लोगों द्वारा किया जानेवाला तिरस्कार शान्त भाव से सहन कर लेना और स्वयं भी अपने ज्ञान की हीनता का खेद न करना, वह अज्ञानपरीषहजय है।

अदर्शन—बहुत समय तक कठोर तपश्चर्या करने पर भी मुझे अवधिज्ञान तथा चारणऋद्धि इत्यादि की प्राप्ति नहीं हुई, इसलिए तपश्चर्या इत्यादि धारण करना व्यर्थ

है—ऐसा अश्रद्धान का भाव न होने देना, वह अदर्शन-परीषहजय है। (617)

(श्री उमास्वामी, मोक्षशास्त्र गुजराती टीका, अधिकार-9, सूत्र-9)

* * *

संसार में लोग अपने किसी सम्बन्धी मनुष्य की मृत्यु होने पर जो विलापपूर्वक चित्कार पाड़कर रुदन करते हैं तथा उसका जन्म होने पर जो हर्ष करते हैं, उन्हें उन्नत बुद्धि के धारक गणधर आदि पागलपना कहते हैं। क्योंकि मूर्खतावश जो खोटी प्रवृत्तियाँ की जाती हों, उनसे होनेवाले कर्म के प्रकृष्ट बन्ध और उसके उदय से सदा यह पूरा विश्व मृत्यु और उत्पत्ति की परम्परारूप है। (618)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अनित्य पंचाशत, श्लोक-23)

* * *

तिर्यचों की भाँति मनुष्य जन्म के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल में ही अणुव्रतों को ग्रहण नहीं कर सकते। (619)

(श्री धवला, पुस्तक-4, पृष्ठ-378)

* * *

हे पिताजी! हे माताजी! जब भवन में आग लग जाये, तब समझदार मनुष्य बाहर भागने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु शत्रु होते हैं वे उसे पकड़कर फिर आग में फेंकते हैं। उसी प्रकार मोह की ज्वाला से धगधगता यह संसार है, इस संसारदुःख की अग्निज्वाला से मैं बाहर निकलना चाहता हूँ, तब आप कोई शत्रु की भाँति मुझे पुनः अग्निज्वाला में नहीं फेंकना। (620)

(आचार्य श्री जटासिंहनन्दि, वरांग-चरित्र, सर्ग-29, श्लोक-17)

* * *

लोभ संसार में क्या अनर्थ नहीं करता है। लोभ से ही क्रोध पैदा होता है, लोभ से ही काम होता है, लोभ से ही मोह होता है, कहाँ तक इसकी तारीफ की जाये, लोभ से इस जीवन का सत्यानाश हो जाता है, बुद्धि बिगड़ जाती है, हेय-उपादेय का कुछ ज्ञान नहीं रहता, लोभी मनुष्य को अपने यश-अपयश का कुछ भी ख्याल नहीं रहता, जितना भी अनर्थ दुनिया में होता है, उसका मूल कारण धन-लोभ ही है, इसीलिए तो बताया है कि लोभ पाप का बाप है, इससे बढ़कर कोई पाप नहीं है। (621)

(श्री पाण्डव पुराण, पृष्ठ-91)

* * *

शंका—मिथ्यादृष्टि जीवों को ज्ञान, अज्ञान किस प्रकार है ?

समाधान—क्योंकि उनका ज्ञान, ज्ञान का कार्य नहीं करता।

शंका—ज्ञान का कार्य क्या है ?

समाधान—जाने हुए पदार्थ का श्रद्धान करना, वह ज्ञान का कार्य है। इस प्रकार ज्ञान का कार्य मिथ्यादृष्टि जीव में नहीं होता, इसलिए उसका ज्ञान अज्ञान है... ज्ञान का कार्य नहीं करने से ज्ञान को अज्ञान कहने का व्यवहार लोक में अप्रसिद्ध नहीं है। क्योंकि पुत्र के योग्य कार्य नहीं करनेवाले पुत्र को कुपुत्र कहने का व्यवहार लोक में भी देखने में आता है। (622) (श्री धवला, पुस्तक-5, पृष्ठ-224)

* * *

जिस प्रकार सिद्ध भगवान अमूर्त होने पर भी, निष्क्रिय तथा अप्रेरक होने पर भी 'में सिद्ध समान अनन्त ज्ञानादि गुणस्वरूप हूँ'—इत्यादि व्यवहार से सविकल्प सिद्धभक्तिवाले ऐसे, निश्चय से निर्विकल्प समाधिरूप निज-उपादानकारणपरिणत जीवों को सिद्धगति के सहकारी कारण हैं, उसी प्रकार निष्क्रिय, अमूर्त और अप्रेरक होने पर भी धर्मद्रव्य, अपने उपादानकारण से गति करनेवाले जीव और पुद्गलों को गति में सहकारी कारण है। (623)

(श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्तदेव, बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा-17 की टीका में से)

* * *

परम शुद्धभाव की खोज करनी चाहिए। खोज करने से उत्कृष्ट शुद्धभाव प्राप्त हो जाता है। ज्ञान में अनन्तानन्त लोक को जानने की शक्ति है। उस ज्ञान के प्रकाश होते ही संसार का भ्रमण छूट जाता है। (624) (श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-515)

* * *

विषयों का सेवन करने से प्राणियों को केवल रति ही उत्पन्न होती है। यदि वह रति ही सुख माना जावे तो विष्टा आदि अपवित्र वस्तुओं के खाने में भी सुख मानना चाहिए। क्योंकि विषयी मनुष्य जिस प्रकार रति को पाकर अर्थात् प्रसन्नता से विषयों का उपभोग करते हैं, उसी प्रकार कुत्ता और शूकरों का समूह भी तो प्रसन्नता के साथ विष्टा

आदि अपवित्र वस्तुयें खाता है। (625)

(श्री जिनसेनाचार्य, आदिपुराण, भाग-1, पृष्ठ-243)

* * *

स्वसमय में स्थिति के लिये, लोकप्रवाह (गाडरिया प्रवाह) छोड़कर, और शास्त्र-अनुसार सम्यक् प्रकार से परीक्षा द्वारा निश्चय करके, कोई एक युगप्रधान आचार्य को मध्यस्थरूप से पक्षपातरहित मन से गुरु मानना। (626)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्तरत्नमाला, गाथा-140)

* * *

आत्मा को आत्मा से जानने में यहाँ कौन सा फल नहीं मिलता ? और तो क्या, इससे केवलज्ञान भी हो जाता है और जीव को शाश्वत् सुख की प्राप्ति होती है। (627)

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-62)

* * *

जिसके जानने से कर्म-कलंक दूर हो जाते हैं, वह आत्मा शरीर में निवास करता हुआ भी देहरूप नहीं होता, उसको तू अच्छी तरह पहचान और दूसरे अनेक प्रपंचों को तो जानता है, अपने स्वरूप की ओर क्यों नहीं देखता ? वह निजस्वरूप ही उपादेय है, अन्य कोई नहीं है। (628)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-27)

* * *

ज्ञानी कर्म को करता नहीं तथा वेदता नहीं, कर्म के स्वभाव को वह केवल जानता ही है। ऐसे केवल जानता हुआ करण के और वेदन के (करने के और भोगने के) अभाव के कारण शुद्धस्वभाव में निश्चल ऐसा वह वास्तव में मुक्त ही है। (629)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-198)

* * *

जीव के अपने गुण क्या-क्या हैं ?—केवलज्ञान, केवलदृष्टि, अमितवीर्य और अनन्त सुख, वह जीव के गुण हैं। उनका शास्त्र के श्रवण-मनन आदि से हुआ ज्ञान, वह तो सरोवर में पड़े हुए ज्ञागबिन्दु जैसा (नगण्य) है। (630)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-12)

* * *

जो मुक्तिसाम्राज्य का मूल है, ऐसे इस निरूपम, सहज परमानन्दवाले चिद्रूप को (चैतन्य के स्वरूप को) उस एक को चतुर पुरुषों को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना योग्य है। इसलिए हे मित्र! तू भी मेरे उपदेश के सार को सुनकर, तुरन्त ही उग्ररूप से इस चैतन्यचमत्कारमात्र के प्रति तेरा झुकाव कर। (631)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, श्री नियमसार टीका, श्लोक-133)

* * *

जब तक इस आत्मा को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीर आदि नोकर्म में 'यह मैं हूँ' और मुझमें (—आत्मा में) 'यह कर्म-नोकर्म है'—ऐसी बुद्धि है, तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है। (632) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-19)

* * *

प्रथम देवादि का श्रद्धान करना, पश्चात् जिनमत में कहे हुए जीवादि तत्त्वों का विचार करना, उनके नाम-लक्षणादि सीखना, क्योंकि उनके अभ्यास से तत्त्वश्रद्धान की प्राप्ति होती है। पश्चात् स्व-पर का भिन्नपना जिससे भासित हो, वे विचार किये करना, क्योंकि—इस अभ्यास से भेदविज्ञान होता है। तत्पश्चात् एक स्व में स्वपना मानने के लिये स्वरूप का विचार करते रहना। कारण कि इस अभ्यास से आत्मानुभव की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अनुक्रम से इन्हें अंगीकार करके पश्चात् इसमें से ही किसी समय देवादि के विचार में, किसी समय तत्त्वविचार में, किसी समय स्व-पर के विचार में तथा किसी समय आत्मविचार में उपयोग को लगाना। इस प्रकार अभ्यास से दर्शनमोह मन्द होता जाता है। (633) (श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-9, पृष्ठ-330)

* * *

जीवद्रव्य अशुद्धरूप प्रवर्तित हुआ, तब वह अशुद्धभाव से ही व्याप्य-व्यापक स्वयं ही हो रहा है, तीन काल में अन्यद्रव्य को वह स्पर्शता भी नहीं। ऐसी द्रव्य की अनादि-अनन्त मर्यादा बँधी हुई (बनी हुई) है। 'अथवा द्रव्य शुद्धरूप परिणमो या अशुद्धरूप परिणमो परन्तु वह अन्य द्रव्य को किसी भी प्रकार से न स्पर्श, ऐसा ही ज्ञान होने से ज्ञानी देखता-जानता है, यह ऐसा है।' (634)

(श्री दीपचन्द्रजी, आत्मावलोकन, पृष्ठ-119)

* * *

जो जीव निश्चय से श्रुतज्ञान द्वारा इस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को सन्मुख होकर जानता है, उसे लोक को प्रगट जाननेवाले ऋषिश्वर श्रुतकेवली कहते हैं। (635) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-9)

* * *

सहजज्ञानरूपी साम्राज्य जिसका सर्वस्व है, ऐसे शुद्ध चैतन्यमय मेरे आत्मा को जानकर, मैं यह निर्विकल्प होऊँ। (636) (श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-22)

* * *

मन द्वारा विवेक होने के पश्चात् मन भी बाजू में रहे। मन पर है, ज्ञान निजवस्तु है, इसलिए इस प्रकार से विचारने पर (मन) दूर रहता है। किससे? कि—परमात्मपद गुप्त है, उसकी मन व्यक्तभावना कर सकता है, क्योंकि परमात्मभावना करते-करते परमात्मपद नजदीक आता है, तब परमात्मा के तेज से मन पहले ही मरकर निवृत्त होता है। जैसे शौर्यवान के तेज से कायर बिना संग्राम ही मरता है। सूर्य के तेज से अन्धकार पहले ही नाश हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ जानना। (637)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-17)

* * *

व्यवहारनयकर सोलहवान के सुवर्ण भिन्न-भिन्न वस्त्रों में लपेटे तो वस्त्र के भेद से भेद है, परन्तु सुवर्णपने से भेद नहीं है; उसी प्रकार तीन लोक में तिष्ठे हुए जीवों का व्यवहारनय से शरीर के भेद से भेद है, परन्तु जीवपने से भेद नहीं है। देह का भेद देखकर मूढ़ जीव भेद मानते हैं और वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी, जीवपने से सब जीवों को समान मानता है। सभी जीव केवलज्ञानवेलि के कन्द सुख-पंक्ति है, कोई कम-बढ़ नहीं है। (638) (श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-96)

* * *

चैतन्य का तो एक चिन्मय ही भाव है, जो दूसरे भाव हैं, वे वास्तव में पर के भाव हैं, इसलिए (एक) चिन्मयभाव ही ग्रहण करनेयोग्य है, दूसरे भाव सर्वथा छोड़नेयोग्य है। (639) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार-टीका, कलश-184)

* * *

इस शरीर के रोग-सड़न-पड़न-जरा तथा मरणरूप स्वभाव को देखकर जो भव्यजीव आत्मा को ध्याते हैं, वे (औदारिकादि) पाँच प्रकार के शरीरों से मुक्त हो जाते हैं। (640)
(श्री देवसेन आचार्य, तत्त्वसार, गाथा-49)

* * *

आस्रवों का अशुचिपना और विपरीतपना तथा वे दुःख के कारण हैं, ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है। (641) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-72)

* * *

अमृत अर्थात् मोक्ष के कारणभूत उत्कृष्ट अहिंसारूपी रसायन प्राप्त करके, अज्ञानी जीवों का असंगत वर्तन देखकर व्याकुल नहीं होना चाहिए। (642)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्धि उपाय, श्लोक-78)

* * *

जैसे कोई हाथ में रखे हुए चिन्तामणि को भूलकर काँच के टुकड़े को रत्न मानकर चलावे तो वह रत्न नहीं होता और चिन्तामणि को काँच जाने तो वह काँच नहीं होता—चिन्तामणिपना नहीं जाता। उसी प्रकार आत्मा को पर जानने से वह पर नहीं होता और पर को आत्मा जानने से वह आत्मा नहीं होता। वस्तु अपने स्वभाव का त्याग किसी काल में भी नहीं करती, वस्तु वस्तुपने को नहीं तजती—अपने द्रव्य को नहीं तजती—अपने प्रमाण को नहीं तजती तथा अपने प्रदेश को नहीं तजती, इत्यादि भावों को नहीं तजती, इसलिए वह अनादि प्रदेशप्रमाण को नहीं तजती। शुद्ध-अशुद्ध दोनों अवस्था में अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दशा नहीं तजती, (उसकी) महिमा अनन्त-अमिट है अर्थात् किसी से नहीं मिटायी जा सकती, निश्चय से जो है, वह है। (643)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-83)

* * *

हे जीव! जैसे नरकवास सैकड़ों छिद्रों से जर्जरित हैं, उसी तरह शरीर को भी (मल-मूत्र आदि से) जर्जरित समझ। अतएव निर्मल आत्मा की भावना कर तो शीघ्र ही संसार से पार होगा। (644)

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-51)

* * *

यह व्रती, आत्मा में आत्मा का स्वभाव पहचानता है, आत्मा को ही स्वरूप से परमात्मा जानता है, परिग्रह का प्रमाण रखता हुआ भी पुद्गल को पर ही मानता है, ज्ञानमयी अनन्त चतुष्टयधारी आत्मा है, इस भाव को रखता है। (645)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-364)

* * *

जैसे कोई एक (दरिद्र मनुष्य) निधि को पाकर अपने वतन में (गुप्तरूप से) रहकर उसके फल को भोगता है, उसी प्रकार अज्ञानी परजनों के समूह को छोड़कर ज्ञाननिधि को भोगता है। (646)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, नियमसार, गाथा-157)

* * *

हे योगी ! पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए यदि माणिक मिल जाये तो उसे अपने कपड़े में बाँध लेना और एकान्त में बैठकर देखना। (संसार भ्रमण में सम्यक्त्वरत्न पाकर एकान्त में बारम्बार उसकी स्वानुभूति करना। लोक का संग नहीं करना।) (647)

(श्री मुनिराज रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-216)

* * *

जैसे किसी बुद्धिमान को मार्ग के बीच में पड़ी हुई निधि मिले तो वह गुप्त रखेगा। उसी प्रकार जिसने अपने आत्मगुण-निधान को देखा है, वह गुपचुप उसे सम्हालकर बढ़ाने का प्रयत्न करेगा। (648)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-34)

* * *

यह आत्मा तीन जगत का भर्ता (स्वामी) है, समस्त पदार्थों का ज्ञाता है, अनन्त शक्तिवाला है, परन्तु अनादि काल से अपने स्वरूप से च्युत होकर अपने आपको नहीं जानता, यह अपनी ही भूल है। (649)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-21, श्लोक-21)

* * *

आत्मा और बन्ध के नियत स्वलक्षणों की सूक्ष्म अंतःसन्धि में (अन्तरंग की सांध में) प्रज्ञाछैनी को सावधान होकर पटकने से (डालने से, मारने से) उन्हें छेदा जा

सकता है अर्थात् भिन्न किया जा सकता है, ऐसा हम जानते हैं। (650)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-294)

* * *

ज्ञानी अपने में और परद्रव्य में सर्वथा कुछ भी सम्बन्ध नहीं देखता। इसलिए यह पुद्गल का नाटक जैसा ज्ञात हुआ, उस प्रकार से नाचे, स्वयं उपजे, स्वयं विनशे, स्वयं आवे, स्वयं जाये; मैं उसके नाटक को न रख सकता हूँ और न छोड़ सकता हूँ। 'उसके नाटक के रखने-छोड़ने की चिन्ता भी की जाये तो वह भी झूठी है, क्योंकि वह परवस्तु है। अपने गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, कर्ता-कर्म क्रियादि की सामग्री से स्वाधीन है।' (651)

(श्री दीपचन्द्रजी, आत्मावलोकन, पृष्ठ-104)

* * *

बाहर छह तपों का उपदेश किया गया, अब भीतरी छह तपों को कहते हैं। जो शुद्ध अपना स्वभाव है, जहाँ मन, वचन, काय तीनों योगों को थिर करके आत्मा परमात्मा के समान है, ऐसा निश्चय करके अपने आत्मा को उसी स्वभाव में अनुभव किया जाये, वह आभ्यन्तर तप है। (652)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-526)

* * *

सत् और अकारण होने से स्वतःसिद्ध, अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाशवाला होने से स्व-पर का ज्ञायक—ऐसा जो यह, मेरे साथ सम्बन्धवाला मेरा चैतन्य, उसके द्वारा—कि जो (चैतन्य) समानजातीय अथवा असमानजातीय अन्यद्रव्य को छोड़कर मेरे आत्मा में ही वर्तता है, उसके द्वारा—मैं अपने आत्मा को सकल त्रिकाल ध्रुवत्व धारक द्रव्य जानता हूँ। (653)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-90)

* * *

पंच महाव्रत का पालन करना, गुप्ति-समितियों का पालन करना, ब्रह्मचर्य पालना, परीषह जीतना, चारित्र का पालन करना, तपश्चरण करना, छह आवश्यकों का पालन करना, ध्यान करना, शास्त्र का अभ्यास करना—आदि सब सम्यग्दर्शन बिना भव का बीज समझो। (654)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, रयणसार, गाथा-127)

* * *

भिन्न-भिन्न ज्ञानों से उपलब्ध होने के कारण शरीर और आत्मा को सदा परस्पर भेद है। शरीर इन्द्रियों से अर्थात् इन्द्रियज्ञान से ज्ञात होता है और आत्मा वास्तव में स्वसंवेदनज्ञान से ज्ञात होता है। (655)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, चूलिका अधिकार, श्लोक-48)

* * *

जैसे इस जगत में जो पुरुष, परद्रव्य का ग्रहण जिसका लक्षण है, ऐसा अपराध करता है, उसे ही बन्ध की शंका होती है और जो अपराध नहीं करता, उसे बन्ध की शंका नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा भी जो अशुद्ध वर्तता हुआ, परद्रव्य का ग्रहण जिसका लक्षण है, ऐसा अपराध करता है, उसे ही बन्ध की शंका होती है और जो शुद्ध वर्तता हुआ अपराध नहीं करता, उसे बन्ध की शंका नहीं होती—ऐसा नियम है। इसलिए सर्वथा सर्व पर के भावों के परिहार द्वारा (परद्रव्य के सर्वभावों को छोड़कर) शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना, क्योंकि ऐसा हो, तब ही निरपराधपना होता है। (656)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-301-303)

* * *

हे भव्य! कारण-कार्य की सीमा में रहकर तू समस्त आगम को सुन और मन्मथ-विजयी (अर्थात् विषयों के शत्रु) ऐसे जिनमार्ग में अडिग रहकर, सबसे श्रेष्ठ सारभूत ऐसे आत्मतत्त्व का अनुभव कर। (657)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-7)

* * *

इन्द्ररूपी आत्मा तीर्थकर स्वरूप इष्ट परमात्मा का दर्शन करता है। इन्द्र समान आत्मा अपने आत्मिक स्वभाव से परमात्मारूपी अपने तीर्थकर को देखता हुआ आश्चर्य को प्राप्त हो रहा है अर्थात् बारबार अनुभव करते हुए तृप्त नहीं होता है। शुद्धात्मा का आचरण, यही ऐरावत हाथी है, इस पर इन्द्र आत्मा तीर्थकररूपी परमात्मा को आरूढ़ करता है। श्री जिनेन्द्रों के स्वरूप का प्रकाश अपने कमल समान विकसित आत्मा के स्वरूप से ही होता है। (658)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड़, भाग-2, पृष्ठ-220)

* * *

निश्चय से सर्व जीव जन्म-मरण से रहित, आत्मप्रदेशों की अपेक्षा से (लोकाकाश के प्रदेशप्रमाण असंख्यात प्रदेशी) सर्व समान तथा आत्मीय गुणों में सभी समान और ज्ञानमय है। (659)

(श्री देवसेन आचार्य, तत्त्वसार, गाथा-38)

* * *

जिस प्रकार नट अनेक स्वाँग धारण करता है और उस स्वाँग का तमाशा देखकर लोग कौतूहल समझते हैं, परन्तु वह नट अपने असली रूप से कृत्रिम धारण किये हुए वेश को भिन्न जानता है; उसी प्रकार यह नटरूप चेतनराजा परद्रव्य के निमित्त से अनेक विभावपर्यायों को प्राप्त होता है, परन्तु जब अन्तरंगदृष्टि खोलकर अपना रूप देखता है, तब अन्य अवस्थाओं को अपनी नहीं मानता। (660)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, मोक्ष द्वार, पद-14)

* * *

जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे पाँच भावोंस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है, क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है, इसलिए ज्ञान की अनुभूति, वही आत्मा की अनुभूति है। (661)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-15)

* * *

जो प्रमत्तादि गुणस्थानों की वन्दना की जाती है, उस वन्दना से चेतनात्मक मुनि वन्दित नहीं होते—केवल देह की वन्दना होती है। (662)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, अधिकार-2, गाथा-39)

* * *

मेरे सहज सम्यग्दर्शन में, शुद्धज्ञान में, चारित्र में, सुकृत और दुष्कृतरूपी कर्मद्वंद्व के संन्यासकाल में (अर्थात् प्रत्याख्यान में), संवर में और शुद्धयोग में (—शुद्धोपयोग में) वह परमात्मा ही है (अर्थात् सम्यग्दर्शनादि सबका आश्रय-अवलम्बन शुद्धात्मा ही है); मुक्ति की प्राप्ति के लिये जगत में दूसरा कोई भी नहीं, नहीं। (663)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-135)

* * *

शुद्धनिश्चयनयकर आत्मा का अनन्तज्ञानादि स्वरूप का इन कर्मों ने न तो नाश किया और न नया उत्पन्न किया, आत्मा तो जैसा है, वैसा ही है। ऐसे अखण्ड परमात्मा का तू वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थिर होकर ध्यान कर। यहाँ पर यह तात्पर्य है कि जो जीव पदार्थ कर्मों से न हरा गया, न उपजा, और किसी दूसरी तरह नहीं किया गया, वही चिदानन्दस्वरूप उपादेय है। (664)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-48)

* * *

पूर्व पुण्योदय से जो मनुष्य संसारसुख के साधनभूत स्त्री, लक्ष्मी आदि से निरन्तर परम सुख को (स्वयं माने हुए को) अनुभवता था—उसमें ही सदा तल्लीन था, वही मनुष्य ज्ञानसम्पन्न होकर यौवन अवस्था में ही प्रव्रज्या धारण करके दुर्धर तपादि आचरण कर ऐसा होता है कि जिसे तपोवन में हिरण जैसे चंचल दृष्टिवन्त प्राणी अर्ध जले हुए काष्ठ के टूँठ समान अवलोककर अपने अंग की खाज मिटाने के लिये अपना अंग उसके अंग से घिसते हैं। धन्य है उस मानव आत्मा को! (665)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-88)

* * *

जैसे रूपी दर्पण की स्व-पर के आकार का प्रतिभास करनेवाली स्वच्छता ही है और उष्णता तथा ज्वाला अग्नि की है; उसी प्रकार अरूपी आत्मा की तो अपने को और पर को जाननेवाली ज्ञातृता (ज्ञातापना) ही है और कर्म तथा नोकर्म पुद्गल के हैं, ऐसा अपने से ही अथवा पर के उपदेश से, जिसका मूल भेदविज्ञान है, ऐसी अनुभूति उत्पन्न होगी, तब ही (आत्मा) प्रतिबुद्ध होगा। (666)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-19)

* * *

परद्रव्य को और आत्मतत्त्व को समस्त ही (अर्थात् कुछ भी) सम्बन्ध नहीं है; ऐसे कर्ताकर्मपने के सम्बन्ध का अभाव होने से, आत्मा को परद्रव्य का कर्तापना कहाँ से होगा? (667)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-200)

* * *

हितकारी ध्रुव आत्मा की गुफा में प्रवेश होना, सो ही शुद्ध ध्रुव इन्द्रियातीत आत्मा में रमण है। ध्रुवरूप से आत्मा की गुफा में गुप्त होना, वही भवसागर से तारनेवाला है, वही हर समय शुद्ध भाव में रमण है। जब ध्रुव आत्मा का अनुभव होता है, तब पाँचों इन्द्रिय और मन के विचार भाग जाते हैं, तब शुद्ध आत्मा समता का निवास हो जाता है। ध्रुव आत्मिक जहाज जब प्रगट होता है, तब शुद्ध कमल समान आत्मा में ठहरकर समभाव जगता है, वही मोक्ष का साधन है। (668)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-2, पृष्ठ-153)

* * *

ज्ञानी विचारता है कि—निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममतारहित हूँ, ज्ञान-दर्शन से पूर्ण हूँ; उस स्वभाव में रहता हुआ, उसमें (-उस चैतन्य-अनुभव में) लीन होता हुआ (मैं) इन क्रोधादिक सर्व आस्रवों को क्षय कराता हूँ। (669)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-73)

* * *

जैसे किसी राजा को दूसरे का गढ़ लेना मुश्किल है, उसी प्रकार इस आत्मा को परपद लेना मुश्किल है। क्योंकि अनादि काल से परपद लेता फिरता है तो भी वह पररूप नहीं हुआ, चेतन ही रहा। और चेतनापद आत्मा का है, उसे जानता भी नहीं, भूला ही फिरता है, तो भी उसका रहना निश्चय से उसमें ही है, इसलिए वह मुश्किल नहीं, अपना ही स्वरूप है। भ्रम का पर्दा स्वयं ने ही अनादि से किया है। इसलिए स्वयं अपने को भासित नहीं होता, परन्तु स्वयं अपने को तजकर बाहर नहीं गया। (670)

(श्री दीपचन्दजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-44)

* * *

सामने पाँचों इन्द्रियाँ ही दिखलाई पड़ती हैं। पाँच इन्द्रियों की ओर दृष्टि है, सो ही संसार के मार्ग को बढ़ानेवाली है। जो सम्यग्दृष्टि जिनवाणी पर मनन करता है, वह अपनी दृष्टि अदृष्ट आत्मा पर ले जाता है, इसी से कर्मों का क्षय होता है। (671)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-259)

* * *

कायविकार को छोड़कर जो बारम्बार शुद्धात्मा की सम्भावना (सम्यक् भावना) करता है, उसका ही जन्म संसार में सफल है। (672)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-93)

* * *

यह जीव जब तक चेतन-अचेतनरूप परपदार्थों में अपनेपने की बुद्धि रखता है—परपदार्थों को अपना समझता है, तब तक मोह-मिथ्यात्व बढ़ता रहता है। (673)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसाकर प्राभृत, अधिकार-3, गाथा-3)

* * *

स्यात्कारश्री के (स्यात्काररूपी लक्ष्मी के) निवास के वश वर्तते नयसमूह द्वारा (जीव) देखे तो भी और प्रमाण द्वारा देखे तो भी स्पष्ट अनन्त धर्मोवाले निज आत्मद्रव्य को अन्दर में शुद्धचैतन्यमात्र ही देखते हैं ही। (674)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार-टीका, कलश-19)

* * *

जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्यद्रव्य से अधिक आत्मा को जानता है उसे, जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं वे, वास्तव में जितेन्द्रिय कहते हैं। (675)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-31)

* * *

जो कोई वीतराग स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञानी जीव आराधनेयोग्य निज पदार्थ और त्यागनेयोग्य रागादि सकल विभावों को मन में जानकर शान्तभाव में तिष्ठते हैं और जिनकी लगन निज शुद्धात्मस्वभाव में हुई है, वे ही जीव इस संसार में सुखी हैं। (676)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-43)

* * *

जो जिसका स्व-भाव है, वह उसका 'स्व' है और वह उसका (स्व-भाव का) स्वामी है—ऐसा सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि के आलम्बन से ज्ञानी (अपने) आत्मा को ही आत्मा का परिग्रह नियम से जानता है, इसलिए "यह मेरा 'स्व' नहीं, मैं इसका स्वामी नहीं" ऐसा जानता हुआ परद्रव्य को परिग्रहता नहीं (अर्थात् परद्रव्य को अपना परिग्रह

नहीं करता)। (677)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-207)

* * *

जीव को चार गति के भवों में परिभ्रमण, जाति, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान नहीं है। (678)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, नियमसार, गाथा-42)

* * *

चैतन्यमय उस उत्कृष्ट ज्योति का तत्परता से ध्यान करो कि जिसके बिना विद्यमान विश्व भी अविद्यमानवत् प्रतिभासित होता है तथा जिसे उपस्थित होने से वह विश्व निश्चितरूप से यथार्थ स्वरूप से प्रतिभासता है। (679)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-129)

* * *

जीवों को मारो अथवा न मारो—कर्मबन्ध अध्यवसान से ही होता है। यह, निश्चयनय से, जीवों के बन्ध का संक्षेप है। (680)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-262)

* * *

हे योगी! जिस चिदानन्द शुद्धात्मा के निश्चय से निज स्वभाव से भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंच प्रकार परिवर्तनस्वरूप संसार नहीं है और संसार के कारण जो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप चार प्रकार का बन्ध भी नहीं है, जो बन्ध केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय की प्रगटारूप मोक्ष-पदार्थ से जुदा है, उस परमात्मा को तू मन में से सर्व लौकिक व्यवहार को छोड़कर तथा वीतराग समाधि में ठहरकर जान, अर्थात् चिन्तवन कर। (681)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-46)

* * *

सर्वज्ञ-वीतराग में और इस स्ववश योगी में कभी भी कुछ भी भेद नहीं है; तथापि अरेरे! हम जड़ हैं कि उनमें भेद गिनते हैं। (682)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार-टीका, श्लोक-253)

* * *

वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है (एक वस्तु की दूसरी वस्तु कुछ सम्बन्धी नहीं है) क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न होने से उन्हें एक सत्ता की अनुपपत्ति है (अर्थात् दोनों की सत्ता न्यारी-न्यारी है); और इस प्रकार एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं होने से एक के साथ दूसरे को आधारआधेय सम्बन्ध भी नहीं ही है। इसलिए (प्रत्येक वस्तु को) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप ही आधार-आधेय सम्बन्ध है। (683)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-181-183)

* * *

जिनेन्द्र का कहा हुआ निर्दोष वचन है, जो संसार के मार्ग से छुड़ानेवाला मोक्षमार्ग बताता है, जिसमें ज्ञान से ही ज्ञान की शोभा है और जो निश्चयस्वरूप आप ही है। (684)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-17)

* * *

सर्व द्रव्यों के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। अपने-अपने परिणामों के, सभी द्रव्य कर्ता हैं; वे उन परिणामों के कर्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चय से किसी का किसी के साथ कर्ताकर्मसम्बन्ध नहीं है। इसलिए जीव अपने परिणामों का ही कर्ता है, अपने परिणाम कर्म हैं। इसी प्रकार अजीव भी अपने परिणाम का ही कर्ता है, अपने परिणाम कर्म हैं। इस प्रकार जीव दूसरे के परिणामों का अकर्ता है। (685)

(पण्डित जयचन्द्रजी छाबड़ा, श्री समयसार, गाथा-308-311 का भावार्थ)

* * *

शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर यह जीव यद्यपि बन्ध-मोक्ष-पुण्य-पाप का कर्ता नहीं है, तो भी अशुद्ध-निश्चयनयकर शुभ-अशुभ उपयोगों से परिणत हुआ पुण्य-पाप के बन्ध का कर्ता होता है और उनके फल का भोक्ता होता है, तथा विशुद्धज्ञान-दर्शनरूप निज शुद्धात्मद्रव्य का श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप शुद्धोपयोगकर परिणत हुआ मोक्ष का भी कर्ता होता है, और अनन्त सुख का भोक्ता होता है। इसलिए जीव को कर्ता भी कहा जाता है और भोक्ता भी कहा जाता है। (686)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-28)

* * *

बन्धों के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर बन्धों के प्रति जो विरक्त होता है, वह कर्मों से मुक्त होता है। (687)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-293)

* * *

जो (समयसार) दुष्ट पापों के वन को छेदने का कुठार है, जो दुष्टकर्मों के पार को पहुँचा है (अर्थात् जिसने कर्मों का अन्त लाया है), जो परपरिणति से दूर है, जिसने रागरूपी समुद्र के पूर को नष्ट किया है, जिसने विविध विकारों को नष्ट किया है, जो सच्चे सुखसागर का नीर है, और जिसने काम को अस्त किया है, वह समयसार मेरा शीघ्र रक्षण करो। (688)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-62)

* * *

यह एक आश्चर्य की बात है कि सज्जन पुरुष चिरकाल के सतत् प्रयत्न से भी जगत को अपने समान सज्जन बनाने के लिये समर्थ नहीं हो पाते। परन्तु दुर्जन पुरुष उसे शीघ्र ही दुष्ट बना लेता है। ईर्ष्या नहीं करना, दया करना तथा गुणी जीवों से प्रेम करना, यह सज्जनता की अन्तिम अवधि है और इससे विपरीत अर्थात् ईर्ष्या करना, निर्दयी होना तथा गुणी जीवों से प्रेम नहीं करना, यह दुर्जनता की अन्तिम अवधि है। (689)

(श्री जिनसेन आचार्य, आदिपुराण, भाग-1, प्रथम पर्व, श्लोक-91-92)

* * *

भिन्न द्रव्य का परिणमन भिन्न द्रव्य को प्राप्त नहीं होता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप कभी परिणमन नहीं करता—यदि ऐसा न माना जाये तो भिन्न द्रव्यों की यह स्वद्रव्य-परद्रव्य की व्यवस्था किस प्रकार बन सके? बन नहीं सकती। (690)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, अधिकार-3, गाथा-16)

* * *

यद्यपि सब द्रव्य एकक्षेत्रावगाहकर रहते हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनयकर जीव केवलज्ञानादि अनन्त गुणरूप अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते हैं, पुद्गलद्रव्य अपने वर्णादिस्वरूप को नहीं छोड़ता, और धर्मादि अन्य द्रव्य भी अपने-अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते हैं। (691)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-25)

* * *

प्रबल कर्म के मिलने से जिसका सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है, ऐसे आत्मा का अनुभव करनेवाले पुरुष—आत्मा और कर्म का विवेक नहीं करनेवाले, व्यवहार से विमोहित हृदयवाले तो, उसे (आत्मा को) जिसमें भावों की विश्वरूपता (अनेकता) प्रगट है, ऐसा अनुभव करते हैं, परन्तु भूतार्थदर्शी (शुद्धनय को देखनेवाले) अपनी बुद्धि से डाले हुए शुद्धनय अनुसार बोध होनेमात्र से उत्पन्न आत्म-कर्म की विवेकता से, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक ज्ञायकभावपने के कारण उसे (आत्मा को) जिसमें एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है, ऐसा अनुभव करते हैं। (692)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-11)

* * *

जिसने पाप की राशि को नष्ट किया है, जिसने पुण्यकर्म के समूह को घात दिया है, जिसने मदन (-काम) इत्यादि को खिरा दिया है, जो प्रबल ज्ञान का महल है, जिसे तत्त्ववेत्ता प्रणाम करते हैं, जो प्रकरण के नाशस्वरूप है (अर्थात् जिसे कोई कार्य करना नहीं—जो कृतकृत्य है), जो पुष्ट गुणों का धाम है, और जिसने मोहरात्रि का नाश किया है, उसे (-उस सहज तत्त्व को) हम नमन करते हैं। (693)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-151)

* * *

आत्मा ही आत्मा को जन्म और निर्वाण प्राप्ति के प्रति ले जाते हैं, इसलिए निश्चय से आत्मा का गुरु आत्मा ही है; दूसरा कोई नहीं। (694)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-75)

* * *

प्रत्येक जीव में निरन्तर जो 'अहं' प्रत्यय अर्थात् 'मैं... मैं...' ऐसा अनुभव देखने में आता है, उससे आत्मा के अस्तित्व का बोध होता है, इसलिए निरन्तर जीव को अनुसरकर होनेवाले इस 'अहं' प्रत्यय से जीव की सिद्धि होती है, तथा सर्व जीव एक सरीखे होने पर भी उसमें कोई दरिद्री और कोई श्रीमन्त देखने में आता है, इसलिए कर्मों का सद्भाव भी सिद्ध होता है। (695)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-50 का भावार्थ)

* * *

यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा विभ्रमरूपी आड़ी चादर को समूल से डुबोकर (दूर करके) स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है; इसलिए अब यह समस्त लोक इसके शान्त रस में एकसाथ ही अत्यन्त मग्न हो जाओ। कैसा है शान्त रस? समस्त लोकपर्यन्त उछल रहा है। (696)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-32)

* * *

मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं ही अनेक वर्णवाला हूँ, मैं कृश शरीरवाला हूँ, मैं मोटा हूँ—इस प्रकार मिथ्यात्व परिणामकर परिणत मिथ्यादृष्टि जीव को तू मूढ़ मान। (697)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-80)

* * *

आत्मा निर्दण्ड, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निःशरीर, निरालम्ब, निराग, निर्दोष, निर्मूढ और निर्भय है। (698)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, नियमसार, गाथा-43)

* * *

स्त्रियों के चित्त में जैसे पति, बलभद्रों को वासुदेव, राजाओं को पृथ्वी, गायों को अपने बछड़े, चकवा को सूर्य, चातकों को मेघ का पानी, जलचरों को तालाब आदि, मनुष्यों को अमृत, देवों को अपने निवास-स्वर्गस्थान तथा रोग से पीड़ित को वैद्य जैसे अनुपम प्रिय है, उसी प्रकार मेरे हृदय में शुद्ध चिद्रूप जिसका नाम है, ऐसा आत्मा मुझे अत्यन्त प्रिय है। (699)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-6, श्लोक-3)

* * *

जहाँ रागादि मिथ्याभावों का त्याग हो, अपने आत्मा पर प्रेम हो, आत्मा को परमात्मरूप अनुभव किया जावे, वही परम शुद्ध अनुराग भक्ति प्रतिमा है। (700)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-322)

* * *

इस जगत में मोही (अज्ञानी) जीवों का 'परद्रव्य को मैं करता हूँ', ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्व के महा अन्धकाररूप अज्ञानान्धकार है कि जो अत्यन्त दुर्निवार है—वह अनादि संसार से चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि अहो! परमार्थनय का अर्थात्

शुद्धद्रव्यार्थिक अभेदनय का ग्रहण करने से यदि वह एक बार भी नाश को प्राप्त हो तो ज्ञानघन आत्मा को पुनः बन्धन कैसे हो ? (जीव ज्ञानघन है, इसलिए यथार्थ ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञान कहाँ जायेगा ? नहीं जायेगा । और यदि ज्ञान नहीं जाये तो पुनः अज्ञान से बन्ध कहाँ से होगा ? कभी नहीं होगा ।) (701)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-55)

* * *

जो (सहज तत्त्व) अखण्डित है, शाश्वत् है, सकल दोष से दूर है, उत्कृष्ट है, भवसागर में डूबे हुए जीवसमूह को नौका समान है, और प्रबल संकटों के समूहरूपी दावानल को (शान्त करने) के लिये जल समान है, उस सहज तत्त्व को मैं प्रमोद से सतत नमन करता हूँ । (702) (श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-149)

* * *

अनन्त शक्तिरूप धर्म—अनन्त पर्याय एक गुण की, ऐसे अनन्त गुण अनन्त महिमा को धारते हैं । उस निजधर्म की महिमा को कहाँ तक कहें ? एकदेश निजधर्म धरते संसार पार होता है, किससे ? कि एकदेश होने पर सर्वदेश होगा ही होगा । इसलिए समझो कि—परधर्म से अनन्त दुःख तथा निजधर्म से अनन्त सुख है । इसलिए निजधर्म को धारकर अपने परमेश्वरपद को प्रगट करो । (703)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-77)

* * *

जैसे नरक का घर अति जीर्ण जिसके सैंकड़ों छिद्र हैं, वैसे यह कायरूपी घर साक्षात् नरक का मन्दिर है । नव द्वारों से अशुचि वस्तु झरती है और आत्माराम जन्म-मरणादि छिद्र आदि दोषरहित है । भगवान् शुद्धात्मा भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म मल से रहित हैं, यह शरीर मल-मूत्रादि नरक से भरा हुआ है । ऐसा शरीर का और जीव का भेद जानकर देह से ममता छोड़कर वीतराग निर्विकल्प समाधि में ठहरकर निरन्तर भावना करनी चाहिए । (704) (श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, श्लोक-149)

* * *

जो समस्त कर्म-विपाक को—कर्मों के फल को सदा पौद्गलिक जानता है, वह सर्व कर्मों से बहिर्भूत आत्मा को प्राप्त होता है। उसे अपने शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है। (705) (श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, संवर अधिकार, गाथा-44)

* * *

आत्मा परमात्मा के समान निर्मल और वीतराग है, ऐसा जानकर शुद्धस्वभाव में रंजायमान होना, आत्मा के दर्शन, ज्ञान स्वभाव में मग्न होना तथा नाना प्रकार चारित्र के आचरण में रुचिवान हो जाना मन का संयम है। (706)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-594)

* * *

ऐसा जानो कि 'मोह मेरा कुछ भी सम्बन्धी नहीं है, एक उपयोग है, वही मैं हूँ'—ऐसा जो जानना, उसे सिद्धान्त के अथवा स्व-पर के स्वरूप के जाननेवाले मोह से निर्ममत्व जानते हैं, कहते हैं। (707) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-36)

* * *

चौरासी में परवस्तु को स्व माने, इससे यह जीव चिरकाल का चोर बना है, जन्मादि दुःखदण्ड पाता है, तथापि परवस्तु की चोरी छूटती नहीं। देखो! तीन लोक का नाथ भूलकर नीच पर के आधीन हुआ। अपनी निधि नहीं पहिचानकर, भिखारी बनकर डोलता है। निधि चेतना है, वह स्वयं ही है, दूर नहीं। देखना दुर्लभ है, देखे तो सुलभ है। (708) (श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-36)

* * *

गुरुचरणों के समर्चन से उत्पन्न हुई निज महिमा को जानता हुआ कौन विद्वान 'यह परद्रव्य मेरा है' ऐसा कहेगा? (709)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-132)

* * *

सात तत्त्वों में सहज परम तत्त्व निर्मल है, सकल-विमल (सर्वथा विमल) ज्ञान का आवास है, निरावरण है, शिव (कल्याणमय) है, स्पष्ट-स्पष्ट है, नित्य है, बाह्य

प्रपंच से पराङ्मुख है और मुनि को भी मन से तथा वाणी से अति दूर है, उसे हम नमन करते हैं। (710) (श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, निमयसार टीका, श्लोक-177)

* * *

आत्मा ध्यानगम्य ही है, शास्त्रगम्य नहीं है, क्योंकि जिनको शास्त्र सुनने से ध्यान की सिद्धि हो जावे, वे ही आत्मा का अनुभव कर सकते हैं। जिन्होंने पाया, उन्होंने ध्यान से ही पाया है और शास्त्र सुनना तो ध्यान का उपाय है, ऐसा समझकर अनादि-अनन्त चिद्रूप में अपना परिणाम लगाओ। (711)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-23)

* * *

आत्मज्ञानरूपी अंकुर का ऐसा स्वभाव है कि उसके प्रताप से अविनाशी ज्ञान का भेदविज्ञान के कारण अनुभव होता है, स्पष्ट निर्मल आत्मा का स्वभाव दिख जाता है तथा परमात्मा का निर्मल केवलज्ञान पैदा हो जाता है। (712)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-40)

* * *

अविद्या जड़ छोटी शक्ति से तेरी महान शक्ति नहीं घाती जाती, परन्तु तेरी शुद्ध शक्ति भी बड़ी, तेरी अशुद्ध शक्ति भी बड़ी, तेरी चिन्तवना तेरे गले पड़ी है और इसलिए पर को देखकर आत्मा भूला, वह अविद्या तेरी ही फैलायी हुई है; तू अविद्यारूप कर्म में न पड़कर स्व न जोड़े तो जड़ का तो कुछ जोर नहीं; इससे अपरम्पार शक्ति तेरी है। पर की भावना करके भव कर रहा है। (713) (श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-37)

* * *

सर्व द्रव्य अपने स्वभाव को उल्लंघन नहीं करते होने से, निमित्तभूत अन्यद्रव्य अपने (अर्थात् सर्व द्रव्यों के) परिणाम के उत्पादक हैं ही नहीं; सर्व द्रव्य ही, निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव को नहीं स्पर्शते हुए, अपने स्वभाव से अपने परिणामभाव से उत्पन्न होते हैं। इसलिए (आचार्यदेव कहते हैं कि) जीव को रागादि का उत्पादक हम परद्रव्य को देखते (-मानते, समझते) नहीं कि जिस पर कोप करें। (714)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार-टीका, गाथा-372)

* * *

ज्ञानी तो अपनी और पर की परिणति को जानता हुआ प्रवर्तता है और पुद्गलद्रव्य अपनी और पर की परिणति को नहीं जानता हुआ प्रवर्तता है; इस प्रकार उनमें सदा अत्यन्त भेद होने से (दोनों भिन्न द्रव्य होने से), वे दोनों परस्पर अन्तरंग में व्याप्यव्यापकभाव को प्राप्त होने असमर्थ है। जीव-पुद्गल को कर्ताकर्मपना है, ऐसी भ्रमबुद्धि अज्ञान के कारण वहाँ तक भासित होती है (-होती है) कि जब तक (भेदज्ञान करनेवाली) विज्ञानज्योति करवत की भाँति निर्दयरीति से (उग्र रीति से) जीव-पुद्गल का तत्काल भेद उपजाकर प्रकाशित नहीं होती। (715)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-50)

* * *

मोह के कारण जिस पदार्थ को इष्ट माना जाता है, वही अनिष्ट तथा जिस पदार्थ को अनिष्ट माना जाता है, वही इष्ट हो जाता है। वास्तव में कोई द्रव्य इष्ट या अनिष्ट नहीं है। (716)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, संवर अधिकार, गाथा-36)

* * *

अब्रह्मभाव का त्याग ब्रह्मचर्य है। मिथ्यात्वभाव मदभाव आदि सर्व रागादि दोषों का त्याग ब्रह्मभाव है तथा आत्मा का शुद्ध स्वभाव ब्रह्म है। इसलिए अपने आत्मा का निज स्वभाव में रहना ब्रह्मचर्य है, ऐसा जिनेन्द्र ने देखा है। (717)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-358)

* * *

चेतन और अचेतन ये दोनों भिन्न तत्त्व हैं। इनके भिन्न स्वरूप का विचार करना, उसे विवेक कहा जाता है। इसीलिए हे आत्मा! तू इस विवेक से ग्रहण करनेयोग्य जो चैतन्यस्वरूप है, उसका ग्रहण कर और छोड़नेयोग्य जड़ता को छोड़ दे। (718)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, एकत्व सप्तति, श्लोक-73)

* * *

पूर्वकर्मों के उदय से पीड़ा हो जाने पर उसके लिये शौच करना ऐसा ही है जैसे कोई वृद्ध बैल अपने से ही अपने को काट ले, फिर पूँछ से अपने को ही मारे। (719)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-305)

* * *

जो जिनप्रभु के मुखारविन्द से विदित (प्रसिद्ध) है, जो स्वरूप में स्थित है, जो मुनिश्वरों के मनोगृह के अन्दर सुन्दर रत्नदीप की भाँति प्रकाशित है, जो इस लोक में दर्शनमोहादि पर विजय प्राप्त योगियों से नमस्कार करनेयोग्य है और जो सुख का मन्दिर है, उस सहज तत्त्व को मैं सदा अत्यन्त नमता हूँ। (720)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-150)

* * *

जब ज्ञानस्वभाव मैं हूँ, ऐसा श्रद्धानरूपी अंकुर फूटता है और उस शुद्ध ज्ञानभाव में आनन्द प्राप्त किया जाता है, तब इस आत्मानन्दीभाव के प्रताप से राग-द्वेषादि भावकर्म विला जाते हैं, ज्ञान स्वाभाविक परम ज्ञान में अनुरक्त हो जाता है; जब आत्मा का दृढ़ प्रेम पैदा हो जाता है, तब कर्मों की निर्जरा होने लगती है। (721)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-121)

* * *

ज्ञान परद्रव्यों को कुछ भी (किंचित् भी) ग्रहण नहीं करता तथा छोड़ता नहीं, क्योंकि प्रायोगिक (अर्थात् परनिमित्त से हुए) गुण के सामर्थ्य से तथा वैस्त्रसिक (अर्थात् स्वाभाविक) गुण के सामर्थ्य से ज्ञान द्वारा परद्रव्य का ग्रहण तथा छोड़ना अशक्य है। और (कर्म-नोकर्मादिरूप) परद्रव्य ज्ञान का—अमूर्तिक आत्मद्रव्य का—आहार नहीं है, क्योंकि वह तो मूर्तिक पुद्गलद्रव्य है; (अमूर्तिक को मूर्तिक आहार नहीं होता।) इसलिए ज्ञान आहारक नहीं, इसलिए ज्ञान को देह की शंका नहीं करनी चाहिए। (722)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-405-407)

* * *

आत्मा को आत्मा ही के द्वारा आत्मा में ही शरीर से भिन्न ऐसा विचारना कि जिससे फिर यह आत्मा स्वप्न में भी शरीर की संगति को प्राप्त न हो अर्थात् मैं शरीर हूँ, ऐसी बुद्धि स्वप्न में भी न हो, ऐसा निश्चय करना चाहिए। (723)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, प्रकरण-32, श्लोक-86)

* * *

अपने दुष्ट अशुभभावों से जो कर्म पहले बाँधा जा चुका है, उसके उदय आने पर

कौन बुद्धिमान दूसरों पर क्रोध करेगा ? (724)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-287)

* * *

हे सर्वज्ञ ! जिस आकाश के गर्भ में तीनों ही लोक परमाणु की लीला धारण करते हैं, अर्थात् परमाणु समान ज्ञात होते हैं, वह आकाश भी आपके ज्ञान में परमाणु जैसा लगता है। ऐसी महिमा ब्रह्मा-विष्णु इत्यादि किसी दूसरे की नहीं है। (725)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, ऋषभ स्तोत्र, श्लोक-56)

* * *

जिनेन्द्र भगवान के चरणकमल में दृष्टि करनेवाला (-श्रद्धा करनेवाला) सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी सुख की उत्पत्ति के स्थानरूप होती हुई मुझे इस प्रकार से सुखी करे कि जिस प्रकार से सुख की भूमि कामिनी कामी पुरुष को सुखी करती है, पवित्र शीलवाली होती हुई मुझे इस प्रकार से पालन करे कि जिस प्रकार से पवित्र शीलवाली माता अपने पुत्र को पालन करती है और आठ मूलगुणरूपी अलंकार से युक्त होती हुई मुझे इस प्रकार से पवित्र करे कि जिस प्रकार से गुणवती कन्या कुल को पवित्र करती है, उसी प्रकार वह (सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी) मुझे पवित्र करे। (726)

(श्री समन्तभद्र आचार्य, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-150)

* * *

हे भगवान ! दीनता पूर्वक समस्त संसार में भ्रमण करके जिसका आत्मा थक गया है, ऐसा मैं। मेरी सर्व शक्ति लगाकर, अत्यन्त लोभ से आज आपकी शरण में आया हूँ। आप ही मेरा सर्वस्व हो। आपको प्राप्त करके विवादों से मुझे क्या प्रयोजन है ! (727)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, लघुतत्त्वस्फोट, स्तुति-9, श्लोक-25)

* * *

क्रमपूर्वक जानना, नियत आत्मप्रदेश से ही जानना, अमुक को ही जानना— इत्यादि मर्यादायें मति-श्रुतादि क्षायोपशमिक ज्ञान में ही सम्भव है। क्षायिक ज्ञान तो अमर्यादित होने से युगपद् सर्व आत्मप्रदेशों से तीनों काल की पर्यायों सहित सर्व पदार्थों को—वे पदार्थ अनेक प्रकार के और विरुद्ध जाति के होने पर भी—जानता है अर्थात्

केवलज्ञान एक ही समय में सर्व आत्मप्रदेशों से सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जानता है। (728) (श्री प्रवचनसार, गाथा-47 का भावार्थ)

* * *

यह सद्गुरुओं की आज्ञा है। समस्त सिद्धान्तों का यही सार है। कर्तव्यों में मुख्य कर्तव्य यह है कि अपने चिद्रूप आत्मा में विशुद्धि करना। (729)
(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अधिकार-13, श्लोक-23)

* * *

जो भाव वेदता है (अर्थात् वेदकभाव) और जो भाव वेदन में आता है (अर्थात् वेद्यभाव) ये दोनों भाव समय-समय में विनाश पाते हैं—ऐसा जानकर ज्ञानी उन दोनों भावों को कदापि नहीं चाहता। (730) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-216)

* * *

उन्नत बुद्धि के धारक भव्य जीवों को वाँचने के लिये भक्ति से जो पुस्तक का दान दिया जाता है, अथवा उनको तत्त्व का व्याख्यान दिया जाता है, उसे विद्वान श्रुतदान (ज्ञानदान) कहते हैं। यह ज्ञानदान, सिद्ध होने से थोड़े ही भवों में मनुष्य उस केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है, जिसके द्वारा समस्त विश्व साक्षात् दिखता है और जो प्रगट होने से तीन लोक के प्राणी उत्सव की शोभा करते हैं। (731)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, देशव्रत उद्योतन, श्लोक-10)

* * *

इस संसार में देहादि समस्त सामग्री अविनाशी नहीं है, जैसा शुद्ध बुद्ध परमात्मा अकृत्रिम है, वैसा देहादि में से कोई भी नहीं है। सब क्षणभंगुर हैं। शुद्धात्मतत्त्व की भावना से रहित जो मिथ्यात्व विषय-कषाय हैं, उनसे आसक्त होके जीव ने जो कर्म उपार्जन किये हैं, उन कर्मों से जब यह जीव परभव में गमन करता है, तब शरीर भी साथ नहीं जाता। इसलिए इस लोक में इन देहादिक सबको विनश्वर जानकर देहादि की ममता छोड़ना चाहिए, और सकल विभाव रहित निज शुद्धात्म पदार्थ की भावना करनी चाहिए। (732)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-129)

* * *

तत्त्वार्थश्रद्धान करने का अभिप्राय केवल उनका निश्चय करना, इतना मात्र ही नहीं है, परन्तु वहाँ तो ऐसा अभिप्राय है कि जीव-अजीव को पहिचानकर अपने को और पर को जैसा है, वैसा मानना; आस्रव को पहिचानकर उसे हेय मानना; बन्ध को पहिचानकर उसे अहित मानना; संवर को पहिचानकर उसे उपादेय मानना; निर्जरा को पहिचानकर उसे हित का कारण मानना तथा मोक्ष को पहिचानकर उसे अपना परम हित मानना। इस प्रकार तत्त्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय है। (733)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-9, पृष्ठ 319)

* * *

जो अर्हत को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह (अपने) आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय पाता है। (734)

(श्री कुन्दकुन्द आचार्य, प्रवचनसार, गाथा-80)

* * *

हे जीव! जहाँ दुष्कृत्य का वास है, उसे तू गृहवास न समझ। निश्चित वह तो यम का फैलाया हुआ फन्दा है। इसमें शंका नहीं। (735)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-12)

* * *

हे देव! मैं इस जन्म में तथा दूसरे जन्म में भी निरन्तर आपके चरणयुगल की सेवा करता रहूँ, इतने मात्र से ही मेरा प्रयोजन पूर्ण हो जाता है। हे जिनेन्द्र! इससे अधिक मैं आपसे दूसरा कुछ नहीं माँगता। (736)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, क्रियाकाण्डचूलिका, श्लोक-5)

* * *

शरीराश्रित इन्द्रियों का स्वभाव ऐसा देखा गया है कि वे आत्मा को अहितकारी विषयभोगों का सम्भोग मिलाती हैं और उनमें तन्मय कराकर प्राणी को संसार में भ्रमण कराती हैं। जो सम्यग्दृष्टि जिनवाणी पर विश्वास लाता है, वह आत्मा के अतीन्द्रिय सुख पर निश्चय रखता हुआ इन्द्रिय के सुखों से विरक्त रहता है। (737)

(श्री तारणस्वामी, उपदेशशुद्धसार, श्लोक-257)

* * *

यद्यपि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से यह जीव, टांकी से उत्कीर्ण पत्थर की भाँति टंकोत्कीर्ण है, तो भी पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से देखने पर कोई भी जीव विकृतावस्था होने पर आत्मासुख में स्थिर नहीं रहता, परन्तु बहुत दुःखी रहता है। (738)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-952)

* * *

नरक के जीवों को दुःखी तथा देवों को सुखी कहते हैं, यह इच्छा की अपेक्षा से ही कहते हैं। क्योंकि नारकियों को कषाय की तीव्रता होने से इच्छा बहुत है तथा देवों को कषाय की मन्दता होने से इच्छा थोड़ी है। और मनुष्य तथा तिर्यच भी इच्छा की अपेक्षा से ही सुखी-दुःखी जानना। (739)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय-2, पृष्ठ-75)

* * *

व्रती आत्मा को परमात्मा के समान शुद्ध भावों से जानकर आत्मिक व्रत पर दृष्टि रखता है, उसके भावों में ज्ञानमयी आत्मिक स्वभावरूप चेतना की प्रतिमा ध्रुवरूप से रहती है। (740)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-312)

* * *

जिस श्रावक ने यहाँ मोक्षाभिलाषी मुनि को भक्तिपूर्वक आहार दिया है, उसने केवल उन मुनि को ही मोक्षमार्ग में प्रवृत्त नहीं किया परन्तु अपनी जाति को भी उसने मोक्षमार्ग में लगाया है। ठीक ही है—मन्दिर बनानेवाला कारीगर भी निश्चय से उस मन्दिर के साथ ही उच्च स्थान पर चला जाता है। (741)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, दान अधिकार, श्लोक-9)

* * *

‘....शालितंदुल को बहिरंग तुष विद्यमान होने पर, अभ्यन्तर तुष का त्याग नहीं कर सकता। अभ्यन्तर तुष का त्याग होने पर बहिरंग तुष का त्याग नियम से होता ही है। इस न्याय से सर्व संग के परित्यागरूप बहिरंग द्रव्यलिंग होने पर, भावलिंग हो या न हो, नियम नहीं है; परन्तु अभ्यन्तर में भावलिंग होने पर, सर्व संग के परित्यागरूप द्रव्यलिंग होता ही है। (742)

(श्री जयसेन आचार्य, समयसार टीका, गाथा-414)

* * *

जिनेन्द्रदेव के चरणों का दर्शन (जिनभक्ति) अन्तःकरण में उत्पन्न होकर विस्तार को प्राप्त हुए समस्त अज्ञान को इस प्रकार से नष्ट कर देता है, जिस प्रकार कि इस लोक में फैले हुए समस्त अन्धकार को सूर्य की प्रभा नष्ट कर देती है। वह पुण्य को विस्तृत करता है, पाप को नष्ट करता है, तथा प्रमोद, मैत्री, कान्ति, उत्तम गति, बुद्धि और लक्ष्मी का आश्रय लेकर कान्ति व कीर्ति को उत्पन्न करता है। ठीक है—जो जिन चरणों का दर्शन मुक्ति को भी प्राप्त करा देता है, वह अन्य क्या-क्या नहीं कर सकता है? सब कुछ कर सकता है। (743) (श्री अमितगति आचार्य, सुभाषित रत्नसन्दोह, श्लोक-401)

* * *

स्वर्गलोक में इच्छानुसार भोगों को निरन्तर भोगकर भी जो कोई निश्चय से तृप्त नहीं हुआ वह वर्तमान तुच्छ भोगों से किस तरह तृप्ति प्राप्त कर सकेगा? (744)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय टीका, श्लोक-75)

* * *

सुख भोगने में पाप नहीं परन्तु सुख के अनन्य कारणरूप ऐसे धर्म का घात करनेवाले कार्यादि का आरम्भ करना, उसमें पाप है। जैसे मिष्ट अन्न के भोजन से अजीर्णादि रोग नहीं होते, परन्तु गृद्धितापूर्वक भोजन की मात्रा उल्लंघन करने से अजीर्णादि रोग होते हैं। अजीर्ण का कारण मिष्टभोजन नहीं परन्तु आशक्तिपूर्वक अति भोजन, वही अजीर्णादि रोग का कारण है। उसी प्रकार हे भाई! पाप का मुख्य कारण विषयादि सेवन नहीं परन्तु धर्म का घात करके अति कषायवश होकर अन्यायरूप प्रवर्तना, वही है। (745) (श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-27)

* * *

इस देह में जगह-जगह रक्त के कुण्ड और बाल के झुण्ड हैं, यह हड्डियों से भरपूर है, मानों चुडैलों का निवासस्थान ही है। जरा सा धक्का लगने पर इस प्रकार फट जाता है मानो कागज की पुड़िया अथवा कपड़े की पुरानी चद्दर। यह अपना अस्थिर स्वभाव प्रगट करता है परन्तु मूर्ख इसके प्रति स्नेह करते हैं। यह सुख का घातक और बुराईयों की खान है। इसके ही प्रेम और संग से अपनी बुद्धि घानी के बैल जैसी संसार

में भटकनेवाले हो गयी है। (746)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, बन्ध द्वार, पद-41)

* * *

सम्पत्ति पुण्य का क्षय होने से क्षय को प्राप्त होती है, नहीं कि दान करने से। इसलिए हे श्रावकों! तुम निरन्तर पात्रदान करो। क्या तुम यह नहीं देखते कि कुँए में से चारों ओर से निकाला जाने पर भी पानी हमेशा बढ़ता ही रहता है। (747)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, दान अधिकार, श्लोक-38)

* * *

कर्मों की गति सर्प के समान कुटिल है। कभी राजा बना देते हैं, कभी रंक। स्त्रियों का मन भी चंचल है। संसार का ऐश्वर्य भी स्थायी नहीं है, पानी की लहरों के समान चपल है। मनुष्यों का मन भी इधर-उधर दौड़ा करता है। संकल्प मद से मत्त स्त्रियों की आँखों की तरह बहनेवाला है। ये सब अस्थिर हैं, केवल एक मृत्यु ही निश्चित है—ऐसा मानकर बुद्धिमान पुरुष तात्त्विक धर्म में मन लगावे। (748)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषित रत्नसन्दोह, श्लोक-319)

* * *

देखो, तत्त्वविचार की महिमा! तत्त्वविचाररहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे; व्रतादि पाले, तपश्चरणादि करे तो भी उसे तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं और तत्त्वविचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। (749)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय-7, पृष्ठ-265)

* * *

मिथ्याज्ञान का स्वभाव भी गलनशील है, एक से भाव नहीं रहते तथा सम्यग्ज्ञान से उसका नाश हो जाता है। सर्व ही पर्याय गलित स्वभाव अर्थात् क्षणभंगुर है, दर्शनमोह भी सम्यक्त्व से गल जाता है। आत्मा का शुद्ध ज्ञानस्वभाव अविनाशी है, इसी निर्मल स्वभाव को लिये हुए जीव मोक्ष में जाकर अनन्त काल तक रहता है। (750)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-312)

* * *

तीन लोक में जितने दुःख हैं, पाप हैं और अशुचि वस्तुएँ हैं, उन सबको लेकर इन मिले हुआँ से विधाता ने बैर मानकर शरीर बनाया है। (751)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-150)

* * *

जैसे पक्का फल डण्ठल से एक बार पृथक् पड़ता हुआ फिर से डंठल के साथ सम्बन्ध नहीं पाता, उसी प्रकार कर्म के उदय से उत्पन्न होता भाव जीवभाव से एक बार पृथक् पड़ता हुआ फिर से जीवभाव को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानमय ऐसा, रागादिक के साथ नहीं मिला हुआ भाव उत्पन्न होता है। (752)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-168)

* * *

इच्छित फल देनेवाले और विषय-वासना की इच्छा का नाश करनेवाले देवों के देव—अरहन्तदेव के चरण में सर्व दुःखों को नाश करनेवाली पूजा आदरयुक्त-भक्तियुक्त होकर हमेशा प्रतिदिन करनी चाहिए। (753)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-119)

* * *

सम्यग्ज्ञानी अन्य के साथ बोलते, हँसते, चलते, शास्त्र को पढ़ाते या पढ़ते, आसन, शयन करते, शोक को, रुदन को, भय को, भोजन को, क्रोध-लोभादिक को कर्मवशता से करते हुए शुद्ध चिद्रूप चिन्तन को वे अर्धक्षण के लिये भी नहीं तजते। (754)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-14, गाथा-21-22)

* * *

हे अज्ञानी मनुष्य! यह समस्त जगत इन्द्रजाल समान विनश्वर और केले के थड समान निःसार है। यह बात क्या तू नहीं जानता? क्या शास्त्र में सुना नहीं? और क्या प्रत्यक्ष नहीं देखता? अर्थात् तुम उसे अवश्य जानते हो, सुनते हो और प्रत्यक्षरूप से भी देखते हो तो फिर भला यहाँ अपने किसी सम्बन्धी मनुष्य का मरण होने पर शोक क्यों करते हो? अर्थात् शोक छोड़कर ऐसा कुछ प्रयत्न करो कि जिससे शाश्वत्, उत्तम सुख के स्थानभूत मोक्ष को प्राप्त कर सको। (755)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अनित्य पंचाशत, श्लोक-12)

* * *

जो कोई निकट संसारी सम्यग्दृष्टि जीव निरन्तर शुद्ध ज्ञानरूप परिणमते हैं, अनेक प्रकार की क्रिया को मोक्षमार्ग जानकर करते नहीं; (भावार्थ ऐसा है कि जैसे कर्म के उदय से शरीर विद्यमान है, तथापि हेयरूप जानते हैं; उसी प्रकार अनेक प्रकार की क्रिया विद्यमान है, तथापि हेयरूप जानते हैं); 'क्रिया तो कुछ नहीं'—ऐसा जानकर विषयी-असंयमी भी कदाचित् नहीं होते। (756)

(श्री राजमलजी, कलशटीका, कलश-111)

* * *

हे जीव! कुटुम्बी आदि लोगों का तेरे साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, और न तेरा उनके साथ कुछ इस लोक सम्बन्धी प्रयोजन है, वह तो अपने स्वार्थ के लिये तेरे शरीर के प्रति प्रेम रखते हैं, इसलिए तू तेरे आत्महित में मग्न हो। वे लोग शरीर में तन्मय हो रहे हैं, इसलिए शरीर के जैसे ही जड़बुद्धि हैं और तू चैतन्य है, उनसे भिन्न है, इसलिए राग-द्वेष का सम्बन्ध तोड़कर अपना आत्मबल प्रगट कर और सुखी हो। (757)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, साध्यसाधक द्वार, पद-9)

* * *

समरसीभाव का लक्षण ऐसा है कि जिनके इन्द्र और कीट दोनों समान, चिन्तामणिरत्न और कंकड़ दोनों समान हों अथवा ज्ञानादि गुण और गुणी निज शुद्धात्म द्रव्य, इन दोनों का एकीभावरूप परिणमन, वह समरसीभाव है। (758)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-159)

* * *

इन्द्रियलोलुपता जिन्हें निवृत्त हुई है और तत्त्वलोलुप (तत्त्व-प्राप्ति के लिये अति उत्सुक) जिनका चित्त है, उन्हें सुन्दर आनन्द झरता उत्तम तत्त्व प्रगट होता है। (759)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-235)

* * *

इस जगत में शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति से जो सन्तोष होता है, वैसा सन्तोष धन के भण्डार, कल्पवृक्ष, कामधेनु, अमृत, चिन्तामणिरत्न, सुर, असुर विद्याधरों के इन्द्रों की लक्ष्मी, भोगभूमि में प्राप्त होनेवाले इन्द्रिय के भोगों और अहमिन्द्र की लक्ष्मी की प्राप्ति

से भी नहीं होता। (760) (श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-2, गाथा-10)

* * *

जो अज्ञान अन्धकार से आच्छादित होते हुए आत्मा को कर्ता मानते हैं, वे भले मोक्ष को चाहनेवाले हों तो भी सामान्य (लौकिक) जनों की भाँति उनका भी मोक्ष नहीं होता। (761) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-199)

* * *

जिस प्रकार उचित काल में-समय में (फलद्रुप) जमीन में बोया हुआ वड़ का बीज (बड़ी) छाया के वैभव को और बहुत फलोंरूप फल देता है—फलता है, उसी प्रकार उचित समय में पात्र को दिया हुआ थोड़ा भी दान जीवों को उत्तम ऐश्वर्य और विभूतियुक्त इच्छित भोगोपभोग आदि अनेक फलोंरूप फलता है। (762)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-116)

* * *

देह जड़ है, मानो एक मुर्दे का स्थान ही है; वह रज और वीर्य से भरपूर है, मल-मूत्ररूपी खेत का कचरा है, रोगों का पोटला है, आत्मा का स्वरूप ढँकनेवाला है, कष्टों का समूह है और आत्मध्यान से भिन्न है। हे जीव! यह देह सुख का घात करता है, तो भी तुझे प्रिय लगता है; अन्ततः यह तुझे छोड़ेगा ही, तो फिर तू ही इसका स्नेह क्यों नहीं छोड़ देता? (763) (श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, बन्ध द्वार, पद-38)

* * *

विषयसुखों को भोगता होने पर भी जो अपने हृदय में उन्हें धारण नहीं करता (-अर्थात् उनमें सुख नहीं मानता), वह अल्प काल में शाश्वतसुख पाता है। (764)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-4)

* * *

कैसा है वह अर्हत् प्रवचन का अवयव? अनादिनिधन परमागम शब्दब्रह्म से प्रकाशित होने से, सर्व पदार्थों के समूह को साक्षात् करनेवाला केवलीभगवान सर्वज्ञ से प्रणीत होने से और केवलियों के निकटवर्ती साक्षात् सुननेवाले तथा स्वयं अनुभव

करनेवाले ऐसे श्रुतकेवली गणधरदेवों ने कहा हुआ होने से प्रमाणता को प्राप्त है। (765)
(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-1)

* * *

सुख में, दुःख में, महारोग में, भूख आदि उपद्रव में—बाईस परीषहों में और चार प्रकार के उपसर्ग आ पड़ें, तब शुद्ध आत्मा का चिन्तवन करूँ। (766)
(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-6, श्लोक-17)

* * *

जो अन्ध और लंगड़े का भेद बराबर जानते हैं, वे दोनों के संयोग के कारण से भ्रम में पड़कर लंगड़े की दृष्टि को अन्धे में आरोपित नहीं करते—अर्थात् अन्धे को दृष्टिहीन और लंगड़े को दृष्टिवान् समझते हैं, उसी प्रकार भेदज्ञानी—अन्तरात्मा, आत्मा और शरीर के संयोग सम्बन्ध से भ्रम में पड़कर कभी भी शरीर में आत्मा की कल्पना नहीं करता अर्थात् वह शरीर को चेतनारहित जड़ और आत्मा को ज्ञान-दर्शनस्वरूप ही समझता है। (767)
(श्री पूज्यपाद आचार्य, समाधितंत्र, श्लोक-92)

* * *

जो प्राणी क्रोधी हो, निर्दय अर्थात् क्रूरकर्मी हो तथा मधु-माँस-मद्य और परस्त्री लम्पट तथा आसक्त, व्यसनी और अत्यन्त पापी हो तथा देव-शास्त्र-गुरुओं के समूह की निन्दा करनेवाला और अपनी प्रशंसा करनेवाला हो तथा नास्तिक हो, ऐसे जीवों के प्रति राग-द्वेषरहित मध्यस्थ भाव रहना, उसे उपेक्षा कही है। उदासीनता (वीतरागता) का नाम उपेक्षा है, इसीलिए वह मध्यस्थभावना है। (768)
(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-27, गाथा-14)

* * *

जो पुरुष रात्रिभोजन छोड़ता है, वह एक वर्ष दिवस में छह मास के उपवास करता है। रात्रिभोजन के त्याग से भोजन सम्बन्धी आरम्भ भी त्यागता है और व्यापार सम्बन्धी आरम्भ भी छोड़ता है। इसलिए वह जीव महान दया पालन करता है। (769)
(श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, बारह अनुप्रेक्षा, गाथा-383)

* * *

हे असन्तोषी आत्मा! सर्व जगत की माया को अंगीकार करने की अभिलाषारूप परिणाम से तो तूने इस जगत में कुछ भी छोड़ा नहीं है। तुझसे जो कुछ बच पाया हो, वह तो तेरी भोग करने की अशक्ति से ही। जैसे राहु से ग्रसित चन्द्र सूर्य यदि बच पाये हों तो वह राहु की अशक्ति से ही। (770) (श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-39)

* * *

चिद्रूप का स्मरण मनुष्यों को मोक्षरूप वृक्ष का बीज, संसाररूप समुद्र में नौका, दुःखरूपवन को (जलाने के लिये) अग्नि, कर्म से भय प्राप्त को (कर्मरूप शत्रु से बचने का आश्रयस्थान) किला, विकल्परूप धूल को (उड़ाने के लिये) पवन, पापों को रोकनेवाला, मोह का जय करने में शस्त्र, नरक, तिर्यच आदि अशुभ पर्यायरूप रोग को टालने के लिये औषध और तप, विद्या तथा अनेक गुणों का घर अच्छी तरह से है। (771)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-2, गाथा-2)

* * *

जो पुरुष अज्ञानी है—वास्तविकरूप से हित-अहित को जानते नहीं—उनका संसार तो स्त्री-पुत्र आदि ही है। परन्तु जो विद्वान है, शास्त्रों का अक्षराभ्यास तो कर चुके हैं, परन्तु आत्मध्यान से शून्य हैं, उनका संसार शास्त्र है। (772)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसारप्राभृत, अधिकार-7, गाथा-44)

* * *

यदि कोई जीव अपशब्दों का प्रयोग करता है तो विवेकी साधु ऐसा विचार करता है कि इस मनुष्य ने मुझे क्रोध से मात्र गाली ही दी है, मारा तो नहीं। यदि वह मारने लग जाये तो वह साधु ऐसा विचार करता है कि इसने मुझे मात्र मारा ही है, प्राणों का नाश तो नहीं किया। परन्तु यदि वह प्राणों का नाश करने में उद्यत हो जाये तो वह ऐसा विचारते हैं कि इसने क्रोध के वशीभूत होकर मात्र मेरे प्राणों का ही नाश किया है परन्तु मेरे प्रिय धर्म का तो नाश नहीं किया; इसलिए मुझे इस बेचारे अज्ञानी प्राणी पर क्रोध करना उचित नहीं है क्योंकि क्रोध धर्म का नाश करता है और पाप का संचय करता है, ऐसा समझकर बुद्धिमान साधु क्षमा ही करते हैं। (773)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषित रत्नसन्दोह, श्लोक-35)

* * *

यद्यपि कर्मों का सम्बन्ध सर्व जीवों को समान है, तथापि बुद्धिमान पुरुष को (-ज्ञानी को) वह होने पर भी नहीं होने समान ही है; जैसे तिरने में प्रवीण ऐसे तरैया के लिये बड़ा हुआ नदी का प्रवाह। (774)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, निश्चय पंचाशत, गाथा-57)

* * *

जो व्यक्ति दूसरों की निन्दा करने में मौन रखते हैं तथा अपनी प्रशंसा से उदासीन हैं, कभी अपनी बड़ाई नहीं करते हैं और जो इस प्रकार के गुणों से युक्त हैं, वे सर्व लोक में पूजनीय हैं। (775)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-86)

* * *

पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने पर क्रोधादि होते हैं, जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, तब स्वयं क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते और तब ही सच्चा धर्म होता है। (776)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय-7, पृष्ठ-232)

* * *

विधि—दैव—भाग्य भुजंग के समान टेढ़ा चलता है। कभी वैभव के शिखर पर चढ़ता है तो कभी विपत्ति की खाई में गिराता है। आज श्रीमन्त है तो कल दरिद्री बनकर घूमता फिरता है। जीवन पवनवेग की तरह चंचल है। धन कमाने में कष्ट। उसकी रक्षा करने में कष्ट। अन्त में किसी कारण से धन का वियोग होने पर यह जीव अति कष्टी होता है। यौवन शीघ्र ही नष्ट प्रायः होता है। तथापि यह जीव संसार की नानाविध संकट परम्परा से भयभीत होता नहीं। यह बड़ा आश्चर्य है। (777)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-261)

* * *

आगम की पर्युपासना रहित जगत को आगमोपदेशपूर्वक स्वानुभव नहीं होता होने से उसे 'यह अमूर्तिक आत्मा, वह मैं हूँ और यह समानक्षेत्रावगाही शरीरादिक, वे पर हैं' इस प्रकार तथा 'यह उपयोग वह मैं हूँ और यह उपयोगमिश्रित मोह-राग-द्वेषादिभाव, वे पर हैं' ऐसे स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता; तथा उसे आगमोपदेशपूर्वक

स्वानुभव नहीं होता होने से 'मैं ज्ञानस्वभावी एक परमात्मा हूँ' ऐसा परमात्मज्ञान भी नहीं होता। (778) (श्री प्रवचनसार, गाथा-233 का भावार्थ)

* * *

'इष्ट फल की सिद्धि का उपाय सुबोध है (अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति का उपाय सम्यग्ज्ञान है), सुबोध सुशास्त्र से होता है, सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है; इसलिए उनके प्रसाद के कारण आप्त पुरुष बुधजनों द्वारा पूजनेयोग्य है (अर्थात् मुक्ति सर्वज्ञदेव की कृपा का फल होने से सर्वज्ञदेव ज्ञानियों द्वारा पूजनीय है), क्योंकि किये हुए उपकार को साधु पुरुष (सज्जन) भूलते नहीं।' (779)

(श्री नियमसार, गाथा-6 का उद्धृत श्लोक, श्री विद्यानन्दस्वामी)

* * *

हे देव! आप दया करके मेरे जन्म का नाश करो, यह एक ही बात मुझे आपकी कहनी है। मैं जन्म से अतिशय दग्ध हूँ, जिससे मैं बहुत प्रलाप करता हूँ। (780)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, करुणाष्टक, गाथा-6)

* * *

रोग से पीड़ित, लकड़ी, मुष्टि आदि द्वारा प्रहार किया गया, डोरे आदि से बँधा हुआ, अपने आत्मा का स्मरण करने से दुःखी होता नहीं। अपने आत्मा के चिन्तन से क्षुधा द्वारा, शीत द्वारा, पवन द्वारा, तृषा द्वारा, ताप द्वारा, दुःखी नहीं होता। (781)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-13, गाथा-15)

* * *

मिथ्या व नाशवन्त इस शरीर के साथ अपवित्र अनेक अनन्तानन्त भाव मिथ्यादृष्टि किया करता है, उस शरीर को ही सत्य जानता है, मिथ्यादृष्टि अपना बुरा ही करता है। (782)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-247)

* * *

जो जीव, ज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम बिना तथा विशिष्ट गुरु के संयोग बिना तत्त्वार्थ को जान नहीं सकता, वह जीव जिनवचन में इस प्रकार श्रद्धान करता है कि—

‘जिनेन्द्रदेव ने जो तत्त्व कहा है, वह समस्त ही भले प्रकार से मैं इष्ट करता हूँ’—इस प्रकार भी वह श्रद्धावान होता है। (783) (श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-324)

* * *

दुःख के कारण मिलने पर भी दुःखी न हो तथा सुख के कारण मिलने पर भी सुखी न हो परन्तु ज्ञेयरूप से उनका जाननेवाला ही रहे, यही सच्चा परीषहजय है। (784)
(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-7, पृष्ठ-232)

* * *

परमाणु से कोई छोटा और आकाश से कोई बड़ा नहीं, ऐसा कहनेवाले पुरुषों ने जगत में दीन और स्वाभिमानी पुरुषों को देखा नहीं है। दीन और स्वाभिमानी जनों को यदि उन्होंने देखा होता तो वे दीन को छोड़कर परमाणु को छोटा और स्वाभिमानी पुरुष को छोड़कर आकाश को बड़ा नहीं कहते। क्योंकि दीन जन परमाणु से भी हल्का है और स्वाभिमानी मनुष्य आकाश से भी महान है। (785)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-152)

* * *

हे अर्हत् के मत के अनुयायियों अर्थात् जैन भी आत्मा को, सांख्यमतियों की भाँति (सर्वथा) अकर्ता न मानो; भेदज्ञान होने से पहले उसे निरन्तर कर्ता मानो, और भेदज्ञान होने के पश्चात् उद्धत ज्ञानधाम में निश्चित ऐसे इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को कर्तापना रहित, अचल, एक परम ज्ञाता ही देखो। (786)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-205)

* * *

शरीर छूटने तक, पृथ्वी पर सुरगिरि—मेरुपर्वत की भाँति, स्व शुद्ध आत्मा में मेरे निश्चल, सुस्थिर, परिणाम भाव हो। (787)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-6, गाथा-13)

* * *

अपने किसी सम्बन्धी पुरुष की मृत्यु होने पर जो अज्ञानवश शोक करता है, उसके पास गुण की गन्ध भी नहीं है, परन्तु दोष उसके पास बहुत हैं—यह निश्चित है।

इस शोक से उसका दुःख अधिक बढ़ता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थ नष्ट होते हैं। बुद्धि में विपरीतता आती है तथा पाप (असातावेदनीय) कर्म का बन्ध भी होता है, रोग उत्पन्न होता है और अन्त में मरण पाकर वह नरकादि दुर्गति पाता है। इस प्रकार उसका संसार परिभ्रमण लम्बा हो जाता है। (788)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अनित्य पंचाशत, श्लोक-45)

* * *

शुद्ध आत्मा सत् और अहेतुक होने से अनादि-अनन्त और स्वतःसिद्ध है, इसलिए आत्मा को शुद्ध आत्मा ही ध्रुव है, (उसे) दूसरा कोई भी ध्रुव नहीं। आत्मा शुद्ध इसलिए है कि उसे परद्रव्य से विभाग और स्वधर्म से अविभाग होने से एकत्व है। (789)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-192)

* * *

इस संसार में जो कुछ शारीरिक और मानसिक दुःख उत्पन्न होते हैं, वे सर्व इस शरीर पर ममत्व करने से जीव को अनन्त बार प्राप्त हुए हैं। (790)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, अधिकार-दूसरा, गाथा-51)

* * *

विषय-भोग समयानुसार स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं और ऐसा होने पर उनमें कोई गुण नहीं उत्पन्न होता है—उनसे कुछ भी लाभ नहीं होता है। इसलिए हे जीव! तू दुःख और भय को उत्पन्न करनेवाले इन विषय-भोगों को धर्मबुद्धि से स्वयं छोड़ दे। कारण यह कि यदि वे स्वयं ही स्वतन्त्रता से नष्ट होते हैं तो मन में अतिशय तीव्र सन्ताप को करते हैं और यदि इनको तू स्वयं छोड़ देता है तो फिर वे उस अनुपम आत्मिक सुख को उत्पन्न करते हैं, जो सदा स्थिर रहनेवाला एवं पूज्य है। (791)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-413)

* * *

(अरे भाई!) जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है, वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँ से होगा? (अर्थात् होगा ही नहीं।) तो फिर लोग नीचे-नीचे गिरते हुए प्रमादी क्यों होते हैं? निष्प्रमादी होते हुए ऊँचे-ऊँचे क्यों नहीं चढ़ते? (792)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-189)

* * *

अज्ञानी जीवों को पर के दोष ग्रहण करने से हर्ष होता है; मेरे दोष ग्रहण करके जिन जीवों को हर्ष होता है, तो मुझे यही लाभ है कि मैं उनको सुख का कारण हुआ, ऐसा मन में विचारकर गुस्सा छोड़ो। (793)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, कलश-186)

* * *

जो जीव चेतनगुण विशिष्ट, रत्नत्रयमय और कर्म के कलंक से रहित शुद्ध चेतन की नित्य स्तुति करता है, उस स्तवन को स्तवमर्मज्ञों ने 'स्तव' कहा है। (794)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, संवर अधिकार, गाथा-48)

* * *

जो मूर्ख गुण-दोष को जानता नहीं, वह पण्डितों के प्रति मध्यस्थ कैसे रह सकता है?—क्रोधादिक क्यों न करे? करे ही। क्योंकि उसे पण्डित—विबुधजनों के गुणों की परख नहीं है। विष और अमृत जिसे तुल्य है, वह मध्यस्थ कैसे होगा? (795)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-102)

* * *

वास्तव में क्षायिक ज्ञान का, सर्वोत्कृष्टता के स्थानभूत परम माहात्म्य है; और जो ज्ञान एक साथ ही सर्व पदार्थों को अवलम्ब कर प्रवर्तता है, वह ज्ञान—अपने में समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकार टंकोत्कीर्ण न्याय से स्थित होने से जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है और समस्त व्यक्तियाँ प्राप्त की होने से जिसने स्वभावप्रकाशक क्षायिक भाव प्रगट किया है—ऐसा तीनों काल में सदा ही विषम रहते और अनन्त प्रकारों के कारण विचित्रता को प्राप्त ऐसे सम्पूर्ण सर्व पदार्थों के समूह को जानता हुआ, अक्रम से अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को पहुँचता होने से जिसने अद्भुत माहात्म्य प्रगट किया है, ऐसा सर्वगत ही है। (796)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-51)

* * *

जिन्होंने अन्तरंगदृष्टि से अलौकिक सिद्धस्वरूप तेज को देखा नहीं, उन मूर्ख मनुष्यों को स्त्री, स्वर्ण आदि पदार्थ प्रिय लगते हैं, परन्तु जिन भव्य जीवों का हृदय सिद्धों के स्वरूपरूपी रस से भर गया है, वे भव्य जीव समस्त साम्राज्य को तृणवत्

जानते हैं तथा शरीर को पर समझते हैं और उसे भोग रोग समान लगते हैं। (797)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, सिद्धस्तुति, श्लोक-22)

* * *

यह जीव अति व्याकुल बनकर सर्व विषयों को युगपत् ग्रहण करने के लिये झपट्टे मारता है, तथा एक विषय को छोड़कर अन्य का ग्रहण करने के लिये यह जीव ऐसे झपट्टे मारता है, परन्तु परिणाम से क्या सिद्ध होता है ? जैसे मण की भूखवाले को कण मिला, परन्तु इससे उसकी भूख मिटेगी ? इसी प्रकार सर्व ग्रहण की जिसे इच्छा है, उसे कोई एक विषय का ग्रहण होने पर इच्छा कैसे मिटे ? और इच्छा मिटे बिना सुख भी होता नहीं। इसलिए वे सब उपाय झूठे हैं। (798)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-3, पृष्ठ-52)

* * *

अविरत सम्यग्दृष्टि के भीतर शुद्ध आत्मतत्त्व का प्रकाश या अनुभव या दर्शन हो जाता है। उसके अन्तरंग में शुद्धात्मा झलक जाता है। वह शुद्ध भावों को अशुद्ध भावों से भिन्न जानकर सर्व ही अशुद्ध भावों का त्यागी हो जाता है। (799)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-152)

* * *

अनन्त संसार परिपाटी के कारणरूप यह विवाद आदि कार्य करने-करानेवाले जो अपने कुटुम्बीजन, वे ही वास्तव में इस जीव के एक प्रकार से बैरी हैं। जो एक ही बार प्राण हरण करे, वह बैरी नहीं परन्तु यह तो अनन्त बार मरण कराते हैं, इसलिए ये बैरी हैं; इसलिए उन्हें हितस्वी मानकर उनके प्रति राग करना या उनके राग में अन्ध होना, यह तुझे उचित नहीं है। (800) (श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-84)

* * *

जो इन्द्रियों के विषयों की इच्छाओं का दमन करनेवाला आत्मा शरीर में यात्री के समान प्रस्थान करते हुए अपने आत्मा को अविनाशी समझता है, वही इस भयानक संसाररूपी समुद्र को गाय के खुर के समान लीलामात्र में पार करके शीघ्र ही मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है। (801) (श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-38)

* * *

श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होते हैं; एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवन्त को होती है; (पदार्थों का) निश्चय आगम द्वारा होता है; इसलिए आगम में व्यापार मुख्य है। (802)
(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार, गाथा-232)

* * *

निश्चय से रात्रि में भोजन करने में अधिक रागभाव है और दिन में भोजन करने में कम रागभाव है, जैसे अन्न के भोजन में रागभाव कम है और माँस के भोजन में रागभाव अधिक है। (803)
(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा-132)

* * *

तत्काल प्राणों को हरनेवाला जहर खा लेना अच्छा, भयंकररूप से सुलगती अग्नि में प्रवेशकर जलकर राख हो जाना अच्छा और अन्य किसी भी कारण द्वारा यमराज की गोद में समा जाना अच्छा, परन्तु तत्त्वज्ञान से रहितपने इस संसार में जीना अच्छा नहीं। (804)
(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-203)

* * *

परस्पर झगड़ा उठने से बहुत नष्ट हो चुके, बड़े-बड़े धनिक भी नष्ट हो गये; दुष्टों के साथ झगड़ा करना अच्छा नहीं; यदि द्रव्य का त्याग करना पड़े तो ठीक है। (805)
(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-293)

* * *

शरीर के मोह में रंजायमान होनेवाला कर्म जितना कुछ कहा गया है, वह सब शुद्धात्मारूपी कमल के भीतर रंजायमान होने से विला जाता है। यह आत्मरंजकभाव स्वयं वीतराग विज्ञान में रमणता है। (806)
(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-1, पृष्ठ-148)

* * *

आगम का जाननेवाला होने पर भी, संयत होने पर भी, तप में स्थित होने पर भी, जिनोक्त अनन्त पदार्थों से भरपूर विश्व को कि जो (विश्व) अपने आत्मा द्वारा ज्ञेयपने पी जाया जाता होने से आत्मप्रधान है, उसे—जो जीव श्रद्धा नहीं करता, वह श्रमणाभास है। (807)
(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-264)

* * *

शरीर के सम्बन्ध का यह स्वरूप है, जो घर, कुटुम्ब, सर्व सम्बन्ध आकर मिल जाते हैं, श्री जिनवचन के ग्रहण में अन्तराय पड़ जाता है, शरीर के स्वभाव में लय होने से नरक का बीज बोया जाता है, शरीर के सम्बन्ध से ऐसा स्वभाव बन जाता है, जिससे पौद्गलिक पर्याय को ही व कर्म के उदय को ही आत्मा मान लेता है। इस अज्ञान और मिथ्यात्व की अनुमोदना करने से नरक के दुःखों का बीज बो दिया जाता है। (808)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-141-143)

* * *

हे दुर्बुद्धि प्राणी! यदि यहाँ तुझे किसी भी प्रकार से मनुष्य-जन्म प्राप्त हो गया है तो फिर प्रसंग पाकर अपना कार्य (-आत्महित) कर ले। नहीं तो यदि तू मरकर कोई तिर्यच पर्याय प्राप्त करेगा तो फिर तुझे समझाने के लिये कौन समर्थ होगा? अर्थात् कोई समर्थ नहीं हो सकेगा। (809)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-168)

* * *

हे शिवपुर के पथिक! प्रथम भाव को जान, भावरहित लिंग से तुझे क्या प्रयोजन है? जिनभगवन्तों ने शिवपुरी का पंथ प्रयत्नसाध्य कहा है। (810)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड, गाथा-6)

* * *

तराजू के दोनों पलड़े क्या कहते हैं? वे अपनी कृति से कहते हैं कि—‘जिन्हें ग्रहण करने की इच्छा है, वे क्रम से अधोगति को पाते हैं तथा जिन्हें ग्रहण करने की इच्छा नहीं, वे ऊर्ध्वगति को पाते हैं।’ (811)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-154)

* * *

जिस प्रकार नीम के वृक्ष में उत्पन्न हुआ कीड़ा, उसके कड़वे रस को पीता हुआ उसे मीठा जानता है; उसी प्रकार संसाररूपी विष्टा में उत्पन्न हुए ये मनुष्यरूपी कीड़े स्त्री-संभोग से उत्पन्न हुए खेद को ही सुख मानते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं और उसी में प्रीति को प्राप्त होते हैं। (812) (श्री जिनसेनाचार्य, आदिपुराण, भाग-1, गाथा-179-180)

* * *

शुद्ध चिद्रूप के ध्यानरूप गिरि पर चढ़े हुए साधक को यदि परकार्य की अल्प भी चिन्ता उद्भवित है तो वह चिन्ता ध्यान-पर्वत को चूर्ण कर देने के लिये महान वज्र के समान बलवान हो जाती है। अर्थात् अल्प भी सांसारिक कार्य की चिन्ता शुद्ध आत्मध्यान में से चलायमान कर देती है। (813)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-3, गाथा-6)

* * *

यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रयमयी जैनधर्म संसाररूपी सर्प को दूर करने के लिये नागदमनी नामक औषधि है। दुःख की महान आग को बुझाने के लिये जलधारा है तथा मोक्षसुखरूपी अमृत का सरोवर है, इसलिए वह जयवन्त रहो। (814)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-78)

* * *

जिसका आभ्यन्तर (उपादान) मूल हेतु है, ऐसे गुण-दोष की उत्पत्ति में जो बाह्य वस्तु निमित्त है, वह अध्यात्मवृत्त अर्थात् मोक्षमार्गी की दृष्टि में गौण है। क्योंकि हे भगवान! आपके शासन में आभ्यन्तर (अन्तरंग उपादान) हेतु ही पर्याप्त है। (815)

(श्री समन्तभद्राचार्य, स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक-59)

* * *

मिथ्यादृष्टि किसी काल में किसी पदार्थ को सत्य जाने तो भी उसके निश्चयरूप निर्धार द्वारा श्रद्धानपूर्वक नहीं जानता होने से अथवा सत्य जाने तो भी उसके द्वारा अपना अयथार्थ प्रयोजन ही साधता है, इसलिए उसे सम्यग्ज्ञान नहीं कहते। (816)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-4, पृष्ठ-89)

* * *

उत्सर्ग और अपवाद के विरोध द्वारा होनेवाला जो आचरण का दुःस्थितपना वह सर्वथा निषेध्य (त्याज्य) है और उस अर्थ ही, परस्पर सापेक्ष ऐसे उत्सर्ग और अपवाद द्वारा जिसकी वृत्ति (-हयाति, कार्य) प्रगट होता है, ऐसा स्याद्वाद सर्वथा अनुगम्य, (अनुसरणयोग्य) है। (817)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रचनसार टीका, गाथा-231)

* * *

अनन्त संसार परिभ्रमण कर रहा हुआ ऐसा मैं अब इस अनादि परिभ्रमण के आत्यन्तिक अभाव के लिये पूर्व में कभी भी नहीं भायी हुई, नहीं चिन्तवन की हुई और नहीं प्रतीति की हुई ऐसी सम्यग्दर्शनादिक निर्मल भावना को भाता हूँ, आराधता हूँ तथा पूर्व में अनन्त बार भायी हुई ऐसी मिथ्यादर्शनादिक दुर्भावनाओं का त्याग करता हूँ। (818)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-238)

* * *

जैसे कोई पुरुष रत्नद्वीप को प्राप्त होने पर भी रत्नद्वीप में से रत्न को छोड़कर काष्ठ ग्रहण करता है, उसी प्रकार मनुष्यभव में धर्मभावना का त्याग करके अज्ञानी भोग की अभिलाषा करता है। (819) (श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-1838)

* * *

हे आत्माराम! तू देह के बुढ़ापा, मरने को देखकर डर मत कर, जो अजर-अमर परमब्रह्म शुद्ध स्वभाव है, उसको तू आत्मा जान। (820)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-71)

* * *

जो जीव अपने स्वरूप से देह को परमार्थरूप से भिन्न जानकर आत्मस्वरूप को सेवन करता है—ध्याता है, उसे अन्यत्वभावना कार्यकारी है। (821)

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-82)

* * *

यद्यपि शोभायमान यौवन और सौन्दर्य से परिपूर्ण स्त्रियों के शरीर आभूषणों से विभूषित है, तथापि वह मूर्खजनों को ही आनन्द उत्पन्न करते हैं, नहीं कि सज्जन मनुष्यों को। ठीक है—बहुत सड़े-गले हुए मृत शरीरों से अत्यन्त व्याप्त श्मशान भूमि में आकर काले कौओं का समूह ही सन्तुष्ट होता है, नहीं कि राजहंसों का समूह। (822)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, ब्रह्मचर्य रक्षावर्ति, श्लोक-14)

* * *

मन को रंजायमान करनेवाला जो गारव या अहंकारभाव है या घमण्ड है, वह सब मन को रंजायमान करनेवाले आत्मज्ञान के प्रताप से दूर हो जाता है, यही आत्मज्ञान

कर्मों का क्षय करनेवाला वीतराग विज्ञान की रमणतारूप है। (823)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-1, पृष्ठ-149)

* * *

जीव स्वयं पवित्र रत्नत्रय के आराधन में प्रवृत्त होता है, (ठीक है) स्वभाव से निर्मल शंख किसके द्वारा शुक्लपने में परिवर्तित किया जाता है? किसी के भी द्वारा नहीं, स्वभाव से ही शुक्लपने परिवर्तित होता है। (824)

(श्री योगसार प्राभृत, अमितगति आचार्य, संवर अधिकार, गाथा-37)

* * *

सबसे पहले अध्यात्मशास्त्रों का श्रवण-मनन करना; उसके अतिरिक्त प्रयोजन रहित अन्य शास्त्रों का श्रवण-मनन करनेवाला जीव मनपसन्द सुख को किस प्रकार पायेगा? (825)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-26)

* * *

चिद्रूपता (चैतन्यरूपता) धरता ज्ञान और जड़रूपता धरता राग—इन दोनों का, अन्तरंग में दारुण विदारण द्वारा (अर्थात् भेद करने के उग्र अभ्यास द्वारा), चौतरफ से विभाग करके (—समस्त प्रकार से दोनों को भिन्न करके), यह निर्मल भेदज्ञान उदय को प्राप्त हुआ है; इसलिए अब एक शुद्ध विज्ञानघन के पुंज में स्थित और दूसरे से अर्थात् राग से रहित ऐसे हे सत्पुरुषों! तुम मुदित होओ। (826)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-126)

* * *

हे जीव! तूने मोह के वश होकर जो दुःख है, उसे सुख मान लिया है और जो सुख है, उसे दुःख मान लिया है, इसलिए तू मोक्ष को प्राप्त नहीं हुआ। (827)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-10)

* * *

जिस प्रकार मूर्च्छित मनुष्य स्वाभाविक चेतना पाकर (होश में आकर) अपनी भूली हुई वस्तु की शोध करने लगता है, उसी प्रकार जो भव्य प्राणी अपने स्वाभाविक चैतन्य का आश्रय लेता है, वह क्रम से एकत्व पाकर अपने स्वाभाविक उत्कृष्ट पद

(मोक्ष) को निश्चितरूप से ही प्राप्त कर लेता है। (828)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, सद्बोध चन्द्रोदय, श्लोक-15)

* * *

सर्व विकल्प बन्द हो जाने से कोई एक ऐसा अविनाशी भाव उत्पन्न होता है कि जो आत्मा का स्वभाव है। निश्चय से वही भाव मोक्ष का कारण है। (829)

(श्री देवसेन आचार्य, तत्त्वसार, गाथा-61)

* * *

जैसे मेघ अपने प्रयोजन बिना—इच्छा बिना ही लोगों के पुण्योदय के निमित्त से, पुण्यशाली जीवों के देश में गमन और गर्जना करके पुष्कल वर्षा बरसाता है; उसी प्रकार भगवान् आस का, लोगों के पुण्य के निमित्त से पुण्यवान् जीवों के देश में, बिना इच्छा के विहार होता है और वहाँ धर्मरूप अमृत की वर्षा होती है। (830)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा-8 के भावार्थ में से)

* * *

मनमन्दिर उज्जड़ होने पर उसमें किसी भी संकल्प-विकल्प का वास न रहने से और समस्त इन्द्रियों का व्यापार नष्ट हो जाने से आत्मा का स्वभाव अवश्य प्रगट होता है और वह स्वभाव प्रगट होने पर यह आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। (831)

(श्री देवसेन आचार्य, आराधनासार, गाथा-84)

* * *

शरीर में आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा सम्पूर्ण शास्त्रों का जाननेवाला होने पर भी तथा जागता होने पर भी कर्मबन्धन से छूटता नहीं, किन्तु भेदज्ञानी—अन्तरात्मा निद्रावस्था में या उन्मत्त अवस्था में होने पर भी कर्मबन्धन से मुक्त होता है। (832)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-94)

* * *

जितना कुछ शरीर का राग है, वह आत्मा के हित में अनिष्ट देखा गया है, ज्ञान-विज्ञान जो आत्मा को इष्ट है, उनसे वियोग रहता है, अनिष्ट बातों में स्वभाव रंग जाता है, अनिष्ट की अनुमोदना से दुर्गति का लाभ होता है। (833)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-128)

* * *

सम्पत्ति, पुत्र और स्त्री आदि पदार्थ ऊँचे पर्वत के शिखर पर स्थित और वायु से चलायमान दीपक समान शीघ्र ही नाश पानेवाले हैं। तथापि जो मनुष्य उनके विषय में स्थिरता का अभिमान करता है, वह मानो मुट्टी से आकाश का नाश करता है अथवा व्याकुल होकर सूखी नदी तैरता है अथवा प्यास से पीड़ित होकर प्रमादयुक्त होता हुआ रेत को पीता है। (834)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अनित्य पंचाशत्, श्लोक-43)

* * *

वास्तव में वचन द्वारा कोई भी आत्मा निन्दा और स्तुति को प्राप्त नहीं होता। मेरी निन्दा की गयी है अथवा मेरी स्तुति की गयी है, ऐसा मोह के योग से मानता है। (835)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, संवर अधिकार, गाथा-32)

* * *

छह द्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणित आचार्यादि की प्राप्ति और उपदिष्ट अर्थ का ग्रहण, धारण तथा विचारणा की शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं। (836)

(श्री धवला पुस्तक-6, पृष्ठ-204)

* * *

तीन लोक में इस जीव को जो कुछ भी सुख अथवा दुःख (संयोगिक सुख-दुःख) होते हैं, वह सब दैव के प्रभाव से होते हैं, अन्य से नहीं। ऐसा समझकर जो शुद्ध बुद्धिवाला पुरुष है, वह कभी भी अपने मन की शान्ति का भंग नहीं करता। (837)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-367)

* * *

वह सम्यग्दर्शन शुद्ध कहा गया है, जहाँ आत्मा के स्वरूप में शंका न की जाये, उसी सम्यक्त्व में जमे रहना चाहिए, किसी भी स्थान पर रहो, किसी भी स्थान पर यह सम्यक्त्व पैदा हो सकता है। यह सम्यक्त्व ही श्रेष्ठ है, दृढ़ है और प्रमाणरूप है। यह सम्यक्त्व किसी जीव के ही प्रकाश होता है, किसी ही जीव की दृष्टि अपने अर्थ पर जाती है। (838)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-26)

* * *

समुद्र में रही हुई वडवानल अग्नि समुद्र के जल को शोषती है, उसी प्रकार संसार में मानसिक दुःखरूपी भयंकर वडवानल इतना अधिक दुःखप्रद है कि वह जीव को प्राप्त विषय भी सुख से भोगने नहीं देता और अप्राप्त विषयों की झंखना में और झंखना में सदा जलाया करता है और इस प्रकार उसके शान्तभावरूप निज-प्राण को प्रतिपल शोषा करता है। (839) (श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-87)

* * *

अरिहन्तादि के प्रति जो स्तवनादिरूप भाव होते हैं, वे कषाय की मन्दतापूर्वक होते हैं, इसलिए वे विशुद्ध परिणाम हैं तथा समस्त कषायभाव मिटाने का साधन है, इसलिए वह शुद्ध परिणाम का कारण भी है तो ऐसे परिणाम द्वारा अपने घातक घातिकर्म का हीनपना होने से स्वाभाविकरूप से ही वीतराग विशेष ज्ञान प्रगट होता है। जितने अंश में वह (घातिकर्म) हीन होते हैं, उतने अंश से वह (वीतराग विशेष ज्ञान) प्रगट होता है। इस प्रकार श्री अरिहंतादि द्वारा अपने प्रयोजन की सिद्धि होती है। (840)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-1, पृष्ठ-8)

* * *

पूर्वकर्मों के उदय से आपत्तियों के आ जाने पर वीरता ही परम रक्षक है। बारबार शोच करना उचित नहीं है। (841) (श्री कुलधर आचार्य, सार समुच्चय, श्लोक-171)

* * *

स्वर्ण को कादव समान, राज्यपद को अत्यन्त तुच्छ, लोगों की मैत्री को मृत्यु समान, प्रशंसा को गाली समान, योग की क्रियाओं को जहर समान, मन्त्रादि युक्तियों को दुःख समान, लौकिक उन्नति को अनर्थ समान, शरीर की कान्ति को राख समान, संसार की माया को जंजाल समान, घर के निवास को बाण की नोंक समान, कुटुम्ब के काम को काल समान, लोक-लाज को लार समान, सुयश को नाक के मैल समान और भाग्योदय को विष्टा समान जो जानता है, उसे पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं। (842)

(श्री बनारसीदासजी, समयसार नाटक, बन्ध द्वार, पद-19)

* * *

कोई तृषादि दुःख से पीड़ित प्राणी को देखकर करुणा के कारण उसका प्रतिकार (उपाय) करने की इच्छा से चित्त में आकुलता होना, वह अज्ञानी की अनुकम्पा है। ज्ञानी की अनुकम्पा तो, निचली भूमिकाओं में विहरते (स्वयं नीचे के गुणस्थानों में वर्तता हो तब), जन्मार्णव में निमग्न जगत के अवलोकन से (अर्थात् संसार सागर में डूबे हुए जगत को देखने से) मन में जरा खेद होना, वह है। (843)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पंचास्तिकाय टीका, गाथा-137)

* * *

मोह के उदयरूप विष से मिश्रित स्वर्ग का सुख भी यदि नश्वर हो तो भला दूसरे तुच्छ सुखों के सम्बन्ध में क्या कहना ? अर्थात् वह तो अत्यन्त विनश्वर और हेय है ही, इसलिए मुझे ऐसे संसार सुख से बस होओ—मैं ऐसा संसार सुख नहीं चाहता। (844)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, एकत्वभावना दशक, श्लोक-7)

* * *

शरीर की सहेज मात्र सोबत, वही सर्व दुःख का कारण है, ऐसा जानकर शरीर को फेंक देते समय हाथ का पौंचा पकड़कर रोकनेवाला ज्ञान यदि हाजिर न हो तो क्या मुनि इस कृतघ्न शरीर के साथ क्षण भर भी रहना चाहते हैं ?—कोई नहीं। (845)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-117)

* * *

जैसे कोई मनुष्य बहुमूल्य चन्दन को अग्नि के लिये जलाता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव विषयों की वांछा में निर्वाण का कारण जो मनुष्यभव, उसका नाश करता है। (846)

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-1837)

* * *

यह जो शुद्धोपयोग है, वह तीन भुवन में बहुत बलवान है। उसके समान किसी का बल नहीं है। इसी भाव में आनन्द है। उस आनन्द को लिये हुए आत्मा सिद्धि को पा लेता है। ऐसे आनन्द के धारी जिनेन्द्र भगवान तारणतरण मुक्ति को जा रहे हैं। (847)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-2, पृष्ठ-165)

* * *

इस संसार में सद्बिचाररूप बुद्धि होना परम दुर्लभ है। उसमें भी परलोक हितार्थ बुद्धि होना तो अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसी बुद्धि प्राप्त होने पर भी जो जीव प्रमादी बन रहे हैं, यह देखकर ज्ञानी पुरुषों को भी शोक और दया उत्पन्न होती है। (848)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-94)

* * *

....सम्यक् आत्मतत्त्व को पाकर भी, यदि जीव राग-द्वेष-मोह को निर्मूल करे, तो शुद्ध आत्मा को अनुभव करता है। (परन्तु) यदि बारम्बार उन्हें अनुसरता है—राग-द्वेषरूप परिणमता है, तो प्रमाद—आधीनपने के कारण शुद्धात्मतत्त्व के अनुभवरूप चिन्तामणि चुराये जाने से अन्तर में खेद पाता है। इससे मुझे राग-द्वेष को टालने के लिये अत्यन्त जागृत रहना योग्य है। (849) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-81)

* * *

जिनके मुख का दर्शन करने से भक्तजनों के नेत्रों की चंचलता नष्ट होती है और स्थिर होने की आदत बढ़ती है अर्थात् एकदम टकटकी लगाकर देखने लगते हैं, जो मुद्रा देखने से केवली भगवान का स्मरण हो जाता है, जिसके सन्मुख सुरेन्द्र की सम्पत्ति भी तृणवत् तुच्छ भासित होने लगती है, जिनके गुणों का गान करने से हृदय में ज्ञान का प्रकाश होता है और जो बुद्धि मलिन थी, वह पवित्र हो जाती है। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि जिनराज के प्रतिबिम्ब की प्रत्यक्ष महिमा है। जिनेन्द्र की मूर्ति साक्षात् जिनेन्द्र समान सुशोभित लगती है। (850)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, पद-2)

* * *

चारित्र परवश होता हुआ जीव को संसार उत्पन्न करता है और निज घर में रहा हुआ जीव को जगत से पार करता है। (851) (श्री दीपचन्द्रजी, आत्मावलोकन, पृष्ठ-156)

* * *

जिसने आत्मतत्त्व के विषय में स्थिरता प्राप्त की है, वह बोलता होने पर भी बोलता नहीं; चलता होने पर भी चलता नहीं और देखता होने पर भी देखता नहीं। (852)

(श्री पूज्यपादस्वामी, इष्टोपदेश, गाथा-41)

* * *

कोई तर्क करता है कि—ज्ञान में सर्व ज्ञेय उपचार से है तो सर्वज्ञपद उपचरित हुआ, उपचार झूठ है तो क्या सर्वज्ञपद झूठा हुआ ?

उसका समाधान—जिसे उपचारमात्र में ही लोकालोक भासित हुआ तो उसके निश्चयज्ञान की महिमा कौन कहे ? यह ज्ञान ही, स्वसंवेदनरूप होता हुआ, सर्व को जानता है। (853)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-73)

* * *

पुण्य से घर में धन होता है, और धन से अभिमान, मान से बुद्धिभ्रम होता है, बुद्धि के भ्रम होने से (अविवेक से) पाप होता है, इसलिए ऐसा पुण्य हमारे न होवे। (854)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-60)

* * *

कोई निन्दा करता है तो निन्दा करो, स्तुति करता है तो स्तुति करो, लक्ष्मी आओ अथवा जाओ तथा मरण आज ही होओ या युगान्तर में होओ, परन्तु नीति में निपुण पुरुष न्यायमार्ग से एक कदम भी चलित नहीं होते। ऐसा न्याय विचारकर, निन्दा-प्रशंसादि के भय से अथवा लोभादिक से भी अन्यायरूप मिथ्यात्व प्रवृत्ति करना योग्य नहीं। अहो! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, उनके आधार से तो धर्म है, उनमें शिथिलता रखने से अन्यधर्म किस प्रकार होगा ? (855)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-6, पृष्ठ-199)

* * *

इस मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल में छियानवें-छियानवें रोग होते हैं। तो बाकी के समस्त शरीर में कितने रोग कहना, वह समझो। (पूरे शरीर में पाँच करोड़ अड़सठ लाख निन्यायवें हजार पाँच सौ चौरासी रोग रहे हुए हैं)। (856)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड़, गाथा-37)

* * *

जीव अकेला मरता है और स्वयं अकेला ही जन्मता है; अकेले का मरण होता है और अकेला रजरहित होता हुआ सिद्ध होता है। (857)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, नियमसार, गाथा-101)

* * *

परद्रव्य छिद जाओ अथवा भिद जाओ, अथवा कोई उन्हें ले जाओ, अथवा नष्ट हो जाओ, अथवा चाहे जिस प्रकार से जाओ, तो भी मैं परद्रव्य को नहीं ग्रहण करता क्योंकि परद्रव्य मेरा स्व नहीं है,—परद्रव्य मैं स्वामी नहीं हूँ, परद्रव्य ही परद्रव्य का स्व है, परद्रव्य ही परद्रव्य का स्वामी है, मैं ही मेरा स्व हूँ, मैं ही मेरा स्वामी हूँ—ऐसा मैं जानता हूँ। (858) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार-टीका, गाथा-209)

* * *

जिन देशादि के निमित्त से सम्यग्दर्शन मलिन होता हो और व्रतों का नाश होता हो, ऐसा वह देश, वह मनुष्य, वह द्रव्य तथा उन क्रियाओं का भी परित्याग कर देना चाहिए। (859) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, उपासक संस्कार, श्लोक-26)

* * *

जिस तरह मन विषयों में रमण करता है, उस तरह यदि वह आत्मा को जानने में रमण करे, तो हे योगिजनो! योगी कहते हैं कि जीव शीघ्र ही निर्वाण को पा जाये। (860) (श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-50)

* * *

शरीर का स्वभाव अनिष्ट है, यह सर्व पदार्थों को अशुद्ध करने का स्थान है, ऐसा जानो। शरीर का मोही ज्ञानस्वभावी आत्मा का श्रद्धान नहीं कर पाता है। इस शरीर का स्वागत करना अनन्त दुःखों का बीज है। (861)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-138)

* * *

जैसे ज्ञेय पदार्थों के ज्ञान की सिद्धि के लिये (—घटपटादि पदार्थों को देखने के लिये ही) दीपक में तेल डाला जाता है और दीपक को हटाया जाता है उसी प्रकार श्रमण शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि की सिद्धि के लिये (—शुद्धात्मा को प्राप्त करने के लिये ही) इस शरीर को खिलाते और चलाते होने से युक्ताहारविहारी होते हैं। (862)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-226)

* * *

जो पुद्गल वर्तमान काल में शुभ दिखायी देता है, वही पुद्गल पूर्व में अनन्त भव में दुःख देनेवाले अशुभरूप परिणमे थे और जो पुद्गल वर्तमान काल में अशुभ दिखते हैं, वे ही पूर्व में अनन्त बार सुखकारी हुए थे। सर्व प्रकार के पुद्गलद्रव्य अनन्त बार आहार-शरीर-इन्द्रियरूप परिणमते हुए उन सर्व को अनन्त बार भोगे और त्याग किया, ऐसे सर्व पुद्गल के ग्रहण-त्याग में क्या आश्चर्य है ? (863)

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-1416-17)

* * *

भाई ! तेरी यह सब प्रवृत्ति मुझे तो रेत में तेल शोधने जैसी अथवा विष प्रासन कर (-खाकर) जीवन वृद्धि करने की इच्छा जैसी विचित्र और उन्मत्त लगती है। भाई ! आशारूप ग्रह (भूत) का निग्रह करने में ही सुख है। तृष्णा से किसी काल में या किसी क्षेत्र में सुख नहीं। यह संक्षिप्त परन्तु महद् सूत्र क्या तुझे समझ में नहीं आता ?—कि यह व्यर्थ परिश्रम (-प्रवृत्ति) तू कर रहा है ! (864)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-42)

* * *

ऐसा कोई शरीर नहीं जो इसने न धारण किया हो, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है कि जहाँ उत्पन्न न हुआ हो और मरण न किया हो। ऐसा कोई काल नहीं है कि जिसमें इसने जन्म-मरण न किये हों, ऐसा कोई भव नहीं, जो इसने न पाया हो, और ऐसे अशुद्ध भाव नहीं हैं जो इसके न हुए हों। इस तरह अनन्त परावर्तन इसने किये हैं। (865)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-77)

* * *

जिन तीर्थकरों के चरणों को इन्द्र, चक्रवर्ती आदि लोकशिरोमणि पुरुष अपनी कान्तिरूपी जल से धोते हैं, जो लोक-अलोक को देखनेवाले ऐसे केवलज्ञानरूपी राज्यलक्ष्मी के धारी हैं, ऐसे तीर्थकर भी आयुकर्म के समाप्त होने पर इस शरीर को छोड़कर मोक्ष में चले जाते हैं, तो फिर अन्य अल्पायु धारी मानवों के जीवन का क्या भरोसा ? (866)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-300)

* * *

मोक्ष के अर्थी ऐसे मुझे किसी के भी साथ—मित्र-शत्रु और मध्यस्थ—नजदीक में वर्तते प्राणी के साथ काम नहीं। (867)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-16, गाथा-2)

* * *

अरिहन्तदेव की प्रतिमा का स्थान जिनालय, श्री जिनेन्द्रदेव (जिन-प्रतिमा), जैनशास्त्र, दीक्षा देनेवाले गुरु, संसारसागर से तैरने के कारण परम तपस्वियों के स्थान सम्मेदशिखर आदि, द्वादशांगरूप सिद्धान्त, गद्य-पद्यरूप रचना इत्यादि जो वस्तु अच्छी या बुरी दीखने में आती हैं, वे सब कालरूपी अग्नि का ईंधन हो जावेगी। (868)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, श्लोक-130)

* * *

भेदविज्ञान में प्रेम सो ही वात्सल्यगुण है। सम्यग्दर्शन भेदज्ञानस्वरूप है। आत्मा को पर से भिन्न जानना भेदविज्ञान है। यही सम्यग्दर्शन या सच्चा श्रद्धान है। इसी के द्वारा स्वानुभव होता है, जो असली मोक्षमार्ग है। (869)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-235)

* * *

चक्रवर्ती अथवा दूसरे साधारण राजाओं की आज्ञा का भंग होने पर भी मरण का दुःख होता है, तो क्या तीन लोक के प्रभु ऐसे देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव की आज्ञा के भंग से दुःख नहीं होगा?—अवश्य होगा ही। (870)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-98)

* * *

मिथ्यादृष्टि जीव आत्मा के स्वरूप को भूलकर कर्मबन्ध के अच्छे फल में प्रेम करता है, बुरे फल में द्वेष करता है तथा ज्ञान और वैराग्य जो आत्मा के हित के कारण हैं, उन्हें आत्मा को दुःख के देनेवाले मानता है। (871)

(पण्डित दौलतरामजी, छहढाला, ढाल-2, श्लोक-6)

* * *

इस संसार का तमाशा तो देखो!—कि जिसमें दीनता से माँगने पर भी एक पत्ता

भी मिलता नहीं और अज्ञानी कष्ट से पेट भरता है। परन्तु यदि अज्ञान छोड़कर इस संसार से विमुख हो जाओ तो बिना माँगे अपने सद्गुणों की वृद्धि होती है। (872)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-19)

* * *

अनादि काल के अपरिचय से भले तुझे कदाचित् यह धर्मकार्य दुःखरूप लगे, तथा अनादि काल के अति परिचय से ये अधर्म कार्य तेरी असद्बुद्धि के कारण भले सुखरूप समझ में आये, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। यह तो मात्र तेरी मोहपूर्ण दृष्टि का विभ्रम है। (873)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन,, श्लोक-28)

* * *

जो गृहस्थ जीवन स्त्री, पुत्र और धन आदि पदार्थों के समूह से उत्पन्न हुए अत्यन्त भयानक और विस्तृत मोह के विशाल समुद्र समान है, उस गृहस्थ जीवन में उत्तम सात्त्विक भाव से दिया गया उत्कृष्ट दान समस्त गुणों में श्रेष्ठ होने से नौका का काम करता है। (874)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, दान-अधिकार, श्लोक-5)

* * *

धर्म का सत्यार्थ मार्ग दिखलानेवाले स्वाधीन गुरु का सुयोग मिलने पर भी जो निर्मल धर्म का स्वरूप सुनते नहीं, वे पुरुष दुष्ट और धीठ चित्तवाले हैं तथा भवभय से रहित सुभट हैं। (875)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-93
पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में यह गाथा उद्धृत की है, पृष्ठ-20)

* * *

वात्सल्य अंग भी स्व और पर के विषय के भेद से दो प्रकार से है, उसमें जो अपने आत्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाला वात्सल्य है, वह प्रधान (मुख्य) है तथा सम्पूर्ण पर आत्माओं के साथ सम्बन्ध रखनेवाला जो वात्सल्य है, वह गौण है।

परीषह-उपसर्गादि द्वारा पीड़ित होने पर भी कोई शुभाचार, ज्ञान और ध्यान में शिथिलता न आने देना, वही प्रथम का स्वात्मसम्बन्धी वात्सल्य है। (876)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-806-807)

* * *

जैसे सूर्य घोर अन्धकार को निमिषमात्र में नष्ट कर डालता है, उसी प्रकार आत्मा की भावना द्वारा पाप एक क्षण में नष्ट हो जाते हैं। (877)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-75)

* * *

जब यह प्राणी मोह की संगति से उत्तम होकर इन्द्रियों के आधीन आचरण करता है, तब यह आत्मा ही अपने लिये दुःखों का कारण होता हुआ तेरा शत्रु हो जाता है। (878)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय टीका, श्लोक-80)

* * *

हे शिष्य! जो कुछ पदार्थ सूर्य के उदय होने पर देखे थे, वे सूर्य के अस्त होने के समय नहीं देखे जाते, नष्ट हो जाते हैं। इस कारण तू धर्म को पालन कर, धन और यौवन अवस्था में क्या तृष्णा कर रहा है? (879)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, श्लोक-132)

* * *

जिसके दोनों ओर अग्नि सुलग रही है, ऐसी ऐरण्ड की लकड़ी के बीच फँसा हुआ कीड़ा जैसे अतिशय खेदखिन्न होता है, उसी प्रकार इस शरीररूप ऐरण्ड की लकड़ी में फँसा हुआ जीव जन्म-मरण आदि दुःखों से निरन्तर खेदखिन्न होता है। ऐरण्ड की लकड़ी में फँसा हुआ कीड़ा नाशी—भागकर कहाँ जाये? क्योंकि दोनों ओर अग्नि सुलग रही है। हे भाई! इस शरीर की भी यही दशा जानकर इससे तू ममत्व छोड़ कि जिससे इस ऐरण्ड की लकड़ी से भी अनन्त दुःख के कारणभूत ऐसा शरीर ही धारण न करना पड़े। शरीर के ऊपर अनुराग ही नये-नये शरीर धारण का कारण है, ऐसा जानकर, पूर्व महापुरुषों ने इस शरीर से सर्वथा स्नेह छोड़ था। (880)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-63)

* * *

मनोहर पदार्थ के विषय में भी कुछ नियमित (मर्यादित) ही प्रीति उत्पन्न होती है परन्तु परमात्मा के दर्शन होने पर सर्व प्रीति स्वयमेव नष्ट हो जाती है। (881)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, निश्चय पंचाशत, श्लोक-56)

* * *

अरेरे! लोग सर्प को देखकर दूर भागते हैं, उन्हें तो कोई कुछ कहता नहीं; परन्तु जो कुगुरुरूपी सर्प को छोड़ते हैं, उन्हें मूढ़जन दुष्ट कहते हैं!—यह अत्यन्त खेद है। (882)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-36
मोक्षमार्गप्रकाशक में यह गाथा उद्धृत की है, पृष्ठ-182)

* * *

ज्ञान का यही कार्य होना चाहिए, जो अपने आत्मा का यथार्थ ज्ञान पावे। ज्ञानी होकर वीतरागता के कारणों का अभिनन्दन किया जावे। जो कोई ऐसा न करके शरीर का व शरीर के सुखों का व शरीर के सम्बन्धियों का अभिनन्दन करे तो वह आत्मशक्ति घातक अन्तरायकर्मों को बाँधता है और दुर्गति को प्राप्त होता है। (883)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-381)

* * *

जैसे स्वर्ण की बेड़ी भी पुरुष को बाँधती है और लोहखण्ड की भी बाँधती है, उसी प्रकार शुभ तथा अशुभ किया हुआ कर्म जीव को (अविशेषरूप से) बाँधता है। इसलिए इन दोनों कुशीलों के साथ राग न करो अथवा संसर्ग भी न करो, क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से स्वाधीनता का नाश होता है (अथवा तो अपना घात अपने से ही होता है)। (884)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-146-147)

* * *

हे भाई! तेरी नजर के सामने तू क्या नहीं देखता कि यह जगत कालरूप प्रचण्ड पवन से निर्मूल हो रहा है! भ्रान्ति को छोड़! जगत में किसी की नाममात्र की भी स्थिरता नहीं है। जो दिन का मंगलमय प्रभात ज्ञात होता है, वही दिन अस्तता को प्राप्त होता है। भाई! इस जगत का स्वभाव ही क्षणभंगुर है। पहाड़ जैसे विस्तीर्ण ज्ञात होते रूपों का घड़ी भर पश्चात् अवशेष भी ज्ञात नहीं होता। कौन जाने किस कारण से तू इस इन्द्रजालवत् जगत के इष्ट पदार्थों में आशा बाँध-बाँधकर भ्रमण किया करता है! (885)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-52)

* * *

...प्रथम तत्त्वज्ञान न हुआ होने से स्वयं तो जानता है कि 'मैं मोक्ष का साधन

करता हूँ' परन्तु मोक्ष का साधन जो है, उसे वह (जैनाभासी) जानता भी नहीं, केवल स्वर्गादिक का ही साधन करता है। मिश्री को अमृत जानकर भक्षण करता है, परन्तु इससे अमृत का गुण तो नहीं होता, क्योंकि अपनी प्रतीति अनुसार नफा—फल नहीं होता परन्तु जैसा साधन करे, वैसा ही फल लगता है। (886)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय-7, पृष्ठ-245)

* * *

जो अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को कदापि छोड़ते नहीं, वे भले प्रकार किये हुए अभ्यास के बल से परलोक में जाने पर भी निश्चय से (शुद्धस्वरूप की दृष्टि को) तजते नहीं। शुद्ध चिद्रूप के चिन्तन में सदा ऐसा अभ्यास करो कि संक्लेश में तथा मरण में भी वह विनाश नहीं पावे। (887)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अधिकार-14, श्लोक-19-20)

* * *

अपने आत्मा को निर्मल सम्यग्दर्शन से विभूषित करके प्राणियों का नरक में रहना भी भला है। परन्तु कठिनता से जिसका नाश होता है, ऐसे मिथ्यात्वरूपी विष के सेवनपूर्वक स्वर्ग में भी रहना भला नहीं है। (888)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, सर्ग-7, श्लोक-41)

* * *

तिर्यच में से निकलकर मनुष्यगति प्राप्त करना अति दुर्लभ है। जैसे चौराहे के बीच रत्न गिर गया हो तो वह महाभाग्य हो, तब ही हाथ में आता है, इसी प्रकार (मानवपना) दुर्लभ है। और ऐसा दुर्लभ मनुष्यदेह प्राप्त करके भी जीव मिथ्यादृष्टि बनकर पाप उपजाता है। (889)

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-209)

* * *

जैसे चिन्तामणिरत्न कठिनता से प्राप्त होता है, उसी प्रकार त्रस की पर्याय कठिनता से प्राप्त होती है। (वहाँ भी) लट, कीड़ी, भँवरा इत्यादि शरीर बारम्बार धारण करके मरण को प्राप्त हुआ और बहुत पीड़ा सहन की। (890)

(पण्डित दौलतरामजी, छहढाला, ढाल-१, श्लोक-5)

* * *

अन्ध मनुष्य तो नेत्र से देखता नहीं, परन्तु विषयान्ध मनुष्य किसी प्रकार नहीं देख सकता, इसलिए वह सर्व अन्धों में भी महा अन्ध है। (891)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-35)

* * *

वास्तव में, संसार-शरीर-भोग से विरक्त होकर धारण किया है यतिपना जिन्होंने, वे आलम्बन बिना शून्यमन ऐसे तो नहीं। तो कैसे हैं ? जिस काल में ऐसी प्रतीति आती है कि अशुभक्रिया मोक्षमार्ग नहीं, शुभक्रिया भी मोक्षमार्ग नहीं, उस काल में निश्चय से मुनिश्वरों को ज्ञान अर्थात् शुद्धस्वरूप का अनुभव सहज ही आलम्बन है। कैसा है ज्ञान ? जो बाह्यरूप परिणाम था, वही अपने शुद्धरूप से परिणाम है। (892)

(श्री राजमलजी, कलशटीका, कलश-104)

* * *

परिणाम से ही जीव को बन्ध कहा है और परिणाम से ही मोक्ष कहा है—यह समझकर, हे जीव ! तू निश्चय से उन भावों को जान। (893)

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-14)

* * *

जो मोही जीव है, वह इस संसार को आधि—मानसिक पीड़ायें, व्याधि—शारीरिक कष्टप्रद रोग, जन्म, जरा, मरण, और शोकादि उपद्रवों से युक्त भयंकररूप से देखता होने पर भी उनसे विरक्त नहीं होता ! यह मोह का कैसा माहात्म्य है ? (894)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, मोक्ष अधिकार, गाथा-48)

* * *

ज्ञेयरूप परद्रव्य का दोष न देखो, न जानो कि परज्ञेय की सन्निधि (निकटता) निमित्तमात्र देखकर, मेरा द्रव्य इसने मलिन किया, इस प्रकार यह जीव स्वयं झूठा भ्रम करता है। परन्तु उन परज्ञेयों को तू कभी भी स्पर्शा ही नहीं। तथापि तू उनका दोष देखता है—जानता है, वह तेरी यह हरामजादगी (दुष्टता, बदमाशी) है। इस प्रकार एक तू ही झूठा है, उनका कुछ दोष नहीं, वह सदा सच्चा है। (895)

(श्री दीपचन्द्रजी, आत्मावलोकन, पृष्ठ -119)

* * *

हे जीव ! ऐसा है और वैसा है, ऐसा बहुत कहने से क्या सिद्धि है ? इस संसार में परिभ्रमण करते हुए तूने ऐसे शरीर तो अनन्त बार प्राप्त किये और छोड़े हैं । संक्षिप्त में इतना ही कहना है कि जीव को शरीर (शरीर के प्रति ममत्वबुद्धि) वही सर्व आपत्तियों का स्थान है । (896)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-98)

* * *

हे भव्य ! चाहे जिस प्रकार पहले आत्मज्ञान करो तो तुम स्वयं ज्ञानमूर्ति सुखधाम बन जाओगे । जो ज्ञान साध्य है, उसे पकड़ने से—अनुभव करने से वह स्वयं सुखरूप परिणम जायेगा । (897)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-103)

* * *

सिद्धों की जो गति है, वह ही एक उत्तम गति है । उनका जो सुख है, वह ही एक उत्तम सुख है । उनके जो ज्ञान-दर्शन हैं, वे ही यथार्थ ज्ञान-दर्शन हैं, तथा दूसरा जो कुछ सिद्धों का है, वह सब मुझे प्रिय है । इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी मुझे प्रिय नहीं । इस प्रकार विचार करने से मैंने भयानक संसार छोड़कर उन सिद्धों के उत्कृष्ट स्वरूप की प्राप्ति में मन जोड़कर मेरे चित्त में निरन्तर उन सिद्धों को ही दृढ़तापूर्वक धारण किया है । (898)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, सिद्ध-स्तुति, श्लोक-28)

* * *

जिनधर्म का आचरण करना, साधन करना तथा प्रभावना करना—वह तो दूर रहो, एक जिनधर्म के दृढ़ श्रद्धानरूप सम्यक्त्व होने पर भी नरकादि दुःखों का अभाव हो जाता है । (899)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-127)

* * *

जीवों को दुःख—संकटों से सदा रक्षा करनेवाला धर्म ही है, इसलिए अनन्त सुख के देनेवाले उस धर्म में हे भाई ! तू पुरुषार्थ कर । (900)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, गाथा-72)

* * *

विषय-कषायों में जाते हुए मन को परान्मुख करके निरंजन तत्त्व में स्थिर करा ।

बस! इतना ही मोक्ष का कारण है; दूसरा कोई तन्त्र और मन्त्र मोक्ष का कारण नहीं है। (901) (मुनिवर रामसिंह, पाहुडदोहा, गाथा-62)

* * *

ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला शाश्वत् एक आत्मा मेरा है; बाकी के सब संयोग-लक्षणवाले भाव मुझसे बाह्य हैं। (902) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, नियमसार, गाथा-102)

* * *

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि जिसके अन्तरंग में सम्यग्दर्शन की लहरें उत्पन्न होकर मिथ्यात्व मोहनीयजनित निद्रा की असावधानी नष्ट हो गयी है, जिनके हृदय में जैनमत की पद्धति प्रगट हो गयी है, जिन्होंने मिथ्याभिमान का त्याग किया है, जिन्हें छह द्रव्यों के स्वरूप की पहिचान हुई है, जिन्होंने अरिहन्त कथित आगम का उपदेश श्रवणगोचर हुआ है, जिनके हृदयरूप भण्डार में जैन ऋषियों के वचन प्रवेश कर गये हैं, जिनका संसार निकट आया है, वे ही जिन-प्रतिमा को जिनराज समान मानते हैं। (903) (श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, चौदह गुणस्थानाधिकार, पद-3)

* * *

जिसका मनरूपी जल रागादि विभाव परिणामों द्वारा चंचल नहीं होता, वही निजात्मतत्त्व का अनुभव कर सकता है, उससे विपरीत आत्मा स्वानुभव नहीं कर सकता। जब सरोवर का पानी स्थिर होता है, तब उसके अन्दर पड़ा हुआ रत्न अत्यन्त स्पष्ट दिखता है, उसी प्रकार मनरूपी जल स्थिर होने पर आत्मा का साक्षात्कार होता है। (904)

(श्री देवसेन आचार्य, तत्त्वसार, गाथा-41)

* * *

उस सम्यग्दृष्टि जीव को चारित्रावरणकर्म के उदय से उन विषयों में रति होती है परन्तु उस राग को गौण करने पर वह सर्वथा शुद्ध वीतराग और अतीन्द्रिय है। (905)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-268)

* * *

जिन्हें विषयों में रति है, उन्हें दुःख स्वाभाविक जानो, क्योंकि यदि दुःख

(उनका) स्वभाव न हो तो विषयार्थ व्यापार न हो। (906)

(श्री कुन्दकुन्द आचार्य, प्रवचनसार, गाथा-64)

* * *

धर्म तो यही है कि जहाँ अधर्म का लेश नहीं, सुख तो यही है कि जहाँ दुःख का अंश नहीं, ज्ञान तो उसे ही कहा जा सकता है कि जिसमें अज्ञान की कणिका नहीं और वास्तव्य गति तो यही है कि जहाँ से फिर आगति (आवागमन) नहीं है। (907)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-46)

* * *

जब मिथ्यात्वसहित बुद्धि क्षय हो जाती है, तब सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, ऐसा कहा गया है, तब सर्व भय चला जाता है, ज्ञानी निर्भय हो जाता है। क्योंकि उसको अपना आत्मा परमात्मा के समान परम सुखी और अनन्त बली दिखता है। हे भाई! निःशंक होकर, निर्भय होकर आत्मा का मनन करो। आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है जिसमें कोई शल्य और शंका नहीं रह सकती है। ज्ञानस्वभाव में रमण करने से सर्व भय दूर हो जाता है। इस तरह जो आत्मज्ञान में अनुमोदना रखता है, ज्ञानानन्द में मगन होता है, वह मुक्ति को पाता है। (908) (श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड़, भाग-2, पृष्ठ-116)

* * *

जो श्रावक निश्चय के लक्ष्य से अतिचाररहित व्यवहाररत्नत्रय की साधना करता है, उसे सम्पूर्ण प्रयोजनों की सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है अर्थात् उसे स्वर्ग के सुखपूर्वक मोक्षसुख की सिद्धि होती है। (909)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-149 के भावार्थ में से)

* * *

जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई बँधे हैं, वे उसके ही (-भेदविज्ञान के ही) अभाव से बँधे हैं। (910)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार-टीका, कलश-131)

* * *

जिनकी विषयभोगों की इच्छा नष्ट हो चुकी है, उनको जो यहाँ सुख प्राप्त होता

है, वह न तो इन्द्रों को प्राप्त हो सकता है और न चक्रवर्तियों को भी। इसलिए मन में अतिशय प्रीति धारण करके यह जो विषयरूप शत्रु परिणाम में अहितकारक हैं, उनको छोड़ो और धर्म का आराधन करो। (911)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषित रत्नसन्दोह, श्लोक-10)

* * *

विनय बिना मुक्ति नहीं है, इसलिए विनय का उपदेश है। विनय में बड़े गुण हैं, ज्ञान की प्राप्ति होती है, मानकषाय का नाश होता है, शिष्टाचार का पालना है और कलह का निवारण है—इत्यादि विनय के गुण जानने। इसलिए जो सम्यग्दर्शनादि से महान हैं, उनका विनय करो, यह उपदेश है और जो विनय बिना जिनमार्ग से भ्रष्ट हुए, वस्त्रादिक सहित जो मोक्षमार्ग मानने लगे, उनका निषेध है। (912)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड़, गाथा-104 का भावार्थ)

* * *

मनुष्येन्द्र, असुरेन्द्र और सुरेन्द्र, स्वाभाविक (अर्थात् परोक्ष ज्ञानवालों को जो स्वाभाविक है ऐसी) इन्द्रियों द्वारा पीड़ित वर्तते हुए वह दुःख नहीं सहन कर सकने से रम्य विषयों में रमते हैं। (913)

(श्री कुन्दकुन्द आचार्य, प्रवचनसार, गाथा-63)

* * *

शंका—सम्यग्दृष्टि जीव को तो पुण्य-पाप दोनों हेय हैं, तो वह पुण्य क्यों करता है? यहाँ युक्ति सहित समाधान देते हैं—जैसे कोई मनुष्य दूसरे देश में रहनेवाली (अपनी) मनोहर स्त्री के पास से आये हुए मनुष्यों को तदर्थ दान देता है और सम्मान इत्यादि करता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी उपादेयरूप से निज शुद्धात्मा की ही भावना करता है और जब चारित्रमोह के उदय से उसमें (शुद्धात्मा की भावना करने में) असमर्थ होता है, तब निर्दोष परमात्मस्वरूप अरहन्त और सिद्धों की तथा उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय और साधुओं की, परमात्मपद की प्राप्ति के लिये और विषय-कषायों से बचने के लिये, दान-पूजा इत्यादि से अथवा गुणों की स्तुति से परम भक्ति करता है। (914)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-38 की टीका में से)

* * *

हे चित्त! तूने बाह्य स्त्री आदि पदार्थों में जो सुख देखा है, उसमें तुझे भ्रान्ति से चिरकाल तक अनुराग हुआ है, तथापि तू उसे अधिक संतप्त हो रहा है। इसलिए उसे छोड़कर अपने अन्तरात्मा में प्रवेश कर। उसके विषय में सम्यग्ज्ञान के आधारभूत गुरु से ऐसा कुछ सुनने में आता है कि जो प्राप्त होने पर समस्त दुःखों से छुटकारा पाकर अविनश्वर (मोक्ष) सुख प्राप्त किया जा सकता है। (915)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अधिकार-1, श्लोक-143)

* * *

सर्प काटे तो एक ही बार मरण होता है, और कुगुरु के सेवन से तो मिथ्यात्वादि पुष्ट होने से जीव नरक-निगोदादि में अनन्त बार मरण पाता है; इसलिए हे भद्र! सर्प का संग अच्छा है, परन्तु कुगुरु का सेवन अच्छा नहीं... तू वह न कर। (916)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-37
मोक्षमार्गप्रकाशक में यह गाथा उद्धृत की है, पृष्ठ-183)

* * *

सर्व क्षेत्र और काल में किसी भी प्रकार के कारण द्वारा जीव काल से बचा नहीं, बचता नहीं और बचेगा भी नहीं। सर्व शरीरधारी प्राणी इस प्रचण्ड काल के वश वर्त रहे हैं। यह प्रत्यक्ष देखकर, हे जीव! प्रतिपल विनाश सन्मुख जानेवाले शरीर को रखने की चिन्ता छोड़कर, एक निज आत्मा को ही राग-द्वेषादि दुष्परिणामों से घात होने से बचा... बचा! विनाशी पदार्थों को रखने की सिरपच्ची छोड़कर इस अविनाशी निज आत्मपद का रक्षण कर, रक्षण कर! और देहनाश की चिन्ता से निश्चिन्त हो, क्योंकि वह निजपद नहीं, परन्तु पर पद है। (917)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-79)

* * *

जिसे रागादि होने का कुछ भी खेद नहीं—उसके नाश का उपाय नहीं, उसे 'रागादिक बुरे हैं' ऐसा श्रद्धान भी सम्भवित नहीं है। और ऐसे श्रद्धान बिना वह सम्यग्दृष्टि कैसे होगा? जीव-अजीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करने का प्रयोजन तो यह इतना ही श्रद्धान है। (918)

(पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-7, पृष्ठ-213)

* * *

हे योगी ! जिसके हृदय में जन्म-मरण से रहित ऐसे एक परम देव निवास करता है, वह परलोक को (—सिद्धपद को) प्राप्त करता है । (919)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-76)

* * *

जिसे स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं, वही परद्रव्य में अहंकार-ममकार करता है, भेदविज्ञानी नहीं । इसलिए परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण भेदविज्ञान का अभाव ही है और स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण भेदविज्ञान ही है । (920)

(श्री प्रवचनसार, गाथा-183 का भावार्थ)

* * *

योग परायण (ध्यान में लीन) योगी, यह क्या है ? कैसा है ? किसका है ? किससे है ? कहाँ है ?—इत्यादि भेदरूप विकल्प नहीं करता हुआ अपने शरीर को भी नहीं जानता (—उसे अपने शरीर का भी ख्याल नहीं रहता) । (921)

(श्री पूज्यपादस्वामी, इष्टापदेश, गाथा-42)

* * *

शुद्ध आत्मस्वभाव के प्रकाश की टंकार जयवन्त हो, जिससे रागादि परभाव छिद जाते हैं और शरीर भी गल जाता है, विषयों का राग चूर्ण हो जाता है और प्रशंसनीय क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा क्षायिकचारित्र प्रगट हो जाता है । (922)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-575)

* * *

जो श्रमण गुण से हीन होने पर भी 'मैं भी श्रमण हूँ' ऐसा मानकर अर्थात् गर्व करके गुण से अधिक (श्रमण) से विनय चाहता है, वह अनन्त संसारी होता है । (923)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार, गाथा-266)

* * *

हे मूढ़ जीव ! तू यहाँ अल्प दुःख को भी सहन नहीं कर सकता तो विचार तो सही कि चार गति के भयंकर दुःखों के कारणभूत कर्मों को तू किसलिए करता है ? (924)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-120)

* * *

जैसा कारण होता है, वैसे कार्य की उत्पत्ति होती है। सम्यग्दृष्टि ही अपने शुद्धोपयोग के अभ्यास से अनन्त दर्शन को प्रकाश कर सकता है। शुद्धात्मा के अनुभव से ही अपना इष्ट केवलज्ञानस्वरूप आत्मा हो जाता है और आत्मा के अहितकारी कर्मों का क्षय हो जाता है। (925) (श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-535)

* * *

यह मेरा अनिष्ट अथवा इष्ट चिन्तन करता है, यह बुद्धि-विचार निरर्थक है। (क्योंकि) दूसरे की चिन्ता से दूसरा पीड़ित या पालित नहीं होता। (926)
(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, संवर अधिकार, गाथा-34)

* * *

जो जीव, जिनबिम्ब भक्ति आदि कार्यों में ही निमग्न है, उसे आत्मश्रद्धानादि कराने के लिये 'देह में देव है, मन्दिर में नहीं'—इत्यादि उपदेश देते हैं। वहाँ ऐसा नहीं समझ लेना कि भक्ति आदि छोड़कर भोजनादि से अपने को सुखी करना। क्योंकि उस उपदेश का प्रयोजन कहीं ऐसा नहीं है। इसी प्रकार जहाँ अन्य व्यवहार का निषेध किया हो, वहाँ उसे यथार्थ जानकर प्रमादी नहीं होना, ऐसा समझना। जो केवल व्यवहार साधन में ही मग्न है, उसे निश्चय रुचि कराने के लिये वहाँ व्यवहार को हीन बताया है। (927)
(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-7, पृष्ठ-287)

* * *

शुद्ध चैतन्य में जिसका चित्त रक्त है, ऐसे सन्तों के चरण द्वारा स्पर्शित भूमि तीर्थपने को प्राप्त होती है, उनके नाम से पाप का संचय क्षय होता है और देवों का समूह दासत्व को प्राप्त होता है। (928) (श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-2, श्लोक-22)

* * *

जब शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त श्रमण को उसमें से च्युत करे ऐसा कारण—कोई भी उपसर्ग—आ पड़े, तब उस काल शुभोपयोगी को अपनी शक्ति अनुसार प्रतिकार (उपाय, सहायता) करने की इच्छारूप प्रवृत्ति का काल है; और उसके अतिरिक्त का काल स्वयं को शुद्धात्मपरिणति की प्राप्ति के लिये केवल निवृत्ति का काल है। (929)
(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-252)

* * *

तत्त्वों में जो मुख्य तत्त्व आत्मा का स्वभाव है अथवा तत्त्वों में श्रेष्ठ तत्त्व परमेष्ठी हैं। यह जिनवाणी जयवन्त रहो, जिसके प्रताप से परम तत्त्व का पता लगता है। निर्मल ज्ञान जयवन्त हो जो लोकालोक को जानता है। (930)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-548)

* * *

मिथ्यादृष्टि जीव शरीर के उत्पन्न होने से अपना आत्मा उत्पन्न हुआ, ऐसा मानता है और शरीर का नाश होने से आत्मा का नाश अथवा मरण हुआ, ऐसा मानता है। ये राग, द्वेष, मोह इत्यादि स्पष्टरूप से दुःख देनेवाले हैं, तथापि उन्हें सेवन करता हुआ, सुख मानता है। (931)

(पण्डित दौलतरामजी, छहढाला, ढाल-2, श्लोक-5)

* * *

पुण्य-पाप दोनों विभावपरिणति से उत्पन्न हुए होने से दोनों बन्धरूप ही हैं। व्यवहारदृष्टि से भ्रम के कारण उनकी प्रवृत्ति अलग-अलग भासित होने से, अच्छा और बुरा—ऐसे दो प्रकार से वे दिखाई देते हैं। परमार्थदृष्टि तो उन्हें एकरूप ही, बन्धरूप ही, खराब ही जानती है। (932)

(श्री समयसार, कलश-101 का भावार्थ)

* * *

केवली सूर्यसमान केवलज्ञान द्वारा आत्मा को देखते-अनुभव करते हैं और श्रुतकेवली दीपक समान श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा को देखते-अनुभव करते हैं। इस प्रकार केवली में और श्रुतकेवली में स्वरूपस्थिरता का तारतम्यतारूप भेद ही मुख्य है, हीनाधिक (अधिक-कम पदार्थों को) जाननेरूप भेद अत्यन्त गौण है। इसलिए बहुत जानने की इच्छारूप क्षोभ छोड़कर स्वरूप में ही निश्चल रहना योग्य है। वही केवलज्ञान की प्राप्ति का उपाय है। (933)

(श्री जयसेनाचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-33)

* * *

हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने पर मुझे ऐसा उत्कृष्ट सन्तोष उत्पन्न हुआ है कि जिससे मेरे हृदय में इन्द्र का वैभव भी लेशमात्र तृष्णा उत्पन्न नहीं करता। (934)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, जिनवर स्तवन, श्लोक-7)

* * *

जो शुद्ध आत्मस्वरूप अग्राह्य को अर्थात् क्रोधादिस्वरूप को ग्रहण नहीं करता और ग्रहण किये हुए को अर्थात् अनन्त ज्ञानादि गुणों को छोड़ता नहीं तथा सम्पूर्ण पदार्थों को सर्व प्रकार से अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से जानता है, वह अपने अनुभव में आनेयोग्य चैतन्य द्रव्य में हूँ। (935) (श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, श्लोक-20)

* * *

जीव सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से, देवेन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती द्वारा तथा मुनियों के स्वामी गणधरों द्वारा जिनके चरणकमल की स्तुति की जाती है ऐसा, जिन्हें धर्मादि पदार्थों का भले प्रकार 'सम्पूर्णरूप से' निश्चय हुआ है, ऐसा तथा तीन लोक के शरणभूत ऐसे धर्मचक्र के धारक तीर्थकर होता है। (936)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-39)

* * *

जिसके भीतर पुण्य की प्राप्ति के लिये लोभभाव सदा रहता है, उसके अनन्तानुबन्धी लोभ का प्रकाश है। इसलिए सम्यग्दृष्टि पुण्य का लोभ भी छोड़ देता है। (937)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-124)

* * *

सर्प बाहर में कांचली तो छोड़ता है परन्तु अन्दर के जहर को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार अज्ञानी जीव लिंग धारण करके बाह्य त्याग तो करता है परन्तु अन्तर में से विषय-भोग की भावना को नहीं छोड़ता। (938)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुडदोहा, गाथा-15)

* * *

जैसे अग्नि को लोहखण्ड के गोले के तप्त पुद्गलों का समस्त विलास नहीं (अर्थात् अग्नि उस लोहखण्ड के गोले के पुद्गलों के विलास से—उनकी क्रिया से—भिन्न है) उसी प्रकार शुद्ध आत्मा को (अर्थात् केवलज्ञानी भगवान को) इन्द्रिय समूह नहीं; इसलिए ही जैसे अग्नि को घोर घन के चोट की मार की परम्परा नहीं, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा को शरीरसम्बन्धी सुख-दुःख नहीं। (939)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-20)

* * *

कामिनियों की जो शरीरविभूति, उस विभूति को, हे कामी पुरुष! यदि तू मन में स्मरण करता है, तो मेरे वचन से तुझे क्या लाभ होगा? अहो! आश्चर्य होता है कि सहज परमतत्त्व को—निजस्वरूप को—छोड़कर तू किस कारण से विपुल मोह को पाता है! (940) (श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-79)

* * *

जैसे भूखा कुत्ता हड्डियाँ चबाता है और उसकी नोंक चारों ओर मुख में लगती है, जिससे गाल, तालु, जीभ और जबड़े का माँस चिर जाता है और रक्त निकलता है, उस निकले हुए अपने ही रक्त को वह बहुत स्वाद से चाटता हुआ आनन्दित होता है। उसी प्रकार अज्ञानी विषयलोलुपी जीव काम-भोग में आसक्त होकर सन्ताप और कष्ट में भलाई मानता है। कामक्रीड़ा में शक्ति की हानि और मल-मूत्र की खान साक्षात् दिखती है तो भी ग्लानि नहीं करता, राग-द्वेष में ही मग्न रहता है। (941)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, बन्ध द्वार, पद-30)

* * *

संसार जीवराशि में से जो कोई गिनती के सकल कर्मों का क्षय करके निर्वाणपद को प्राप्त हुए, वे समस्त जीव सकल परद्रव्यों से भिन्न शुद्धस्वरूप के अनुभव से मोक्षपद को प्राप्त हुए। भावार्थ इस प्रकार है कि मोक्ष का मार्ग शुद्धस्वरूप का अनुभव; अनादि संसिद्ध यही एक मोक्षमार्ग है। (942) (श्री राजमलजी, कलशटीका, कलश-131)

* * *

जीवद्रव्य उत्तम गुणों का धाम है—ज्ञानादि उत्तम गुण उसमें ही है। सर्व द्रव्यों में एक जीवद्रव्य ही प्रधान है। क्योंकि सर्व द्रव्यों को जीव ही प्रकाशित करता है। सर्व तत्त्वों में परमतत्त्व जीव ही है और अनन्त ज्ञान-सुखादि का भोक्ता भी जीव ही है।—ऐसा हे भव्य! तू निश्चय से जान। (943) (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-204)

* * *

जिन इन्द्रियविषयों के भोगने से नरनाथ (चक्रवर्ती) और इन्द्र भी तृप्ति को नहीं प्राप्त होते हैं, उनसे भला साधारण मनुष्य कैसे तृप्त हो सकते हैं? नहीं हो सकते। ठीक

है—जिस नदी के प्रवाह में अतिशय बलवान हाथी बह जाता है, उसमें क्षुद्र खरगोशों की व्यवस्था किससे हो सकती है? किसी से भी नहीं हो सकती। (944)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-3)

* * *

जो भव्य जीव भक्ति से कुन्दरु वृक्ष के पत्ते जितना जिनालय अथवा जौ जितनी जिनप्रतिमा का भी निर्माण कराते हैं, उनके पुण्य का वर्णन करने के लिये यहाँ वाणी (सरस्वती) भी समर्थ नहीं है। तो फिर जो भव्य जीव वह (जिनालय और जिनप्रतिमा) दोनों का ही निर्माण कराते हैं, उनके विषय में क्या कहना? अर्थात् वे तो अतिशय पुण्यशाली हैं ही। (945)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, देशव्रतोद्योतन, श्लोक-22)

* * *

परोक्ष ज्ञानवालों को स्वभाव से ही दुःख है, क्योंकि उन्हें विषयों में रति वर्तती है; कितनी ही बार तो वे, असह्य तृष्णारूपी दाह के कारण (तीव्र इच्छारूपी दुःख के कारण), मरण तक का जोखिम उठाकर भी क्षणिक इन्द्रियविषयों में कूद पड़ते हैं। यदि उन्हें स्वभाव से ही दुःख न हो तो विषयों में रति ही नहीं होना चाहिए। जिसे शरीर में गर्मी का—दाह का दुःख नष्ट हुआ हो, उसे शीतलता के बाह्य उपचार में रति कैसे होगी? इसलिए परोक्ष ज्ञानवाले जीवों को दुःख स्वाभाविक ही है, ऐसा निश्चित होता है। (946)

(श्री प्रवचनसार, गाथा-64 का भावार्थ)

* * *

यदि परम तत्त्व के प्रेम में मोहित हो तो यह ज्ञानी इस मोह की सहायता से शास्त्रज्ञान में और गुरु द्वारा प्रगट ज्ञान में तथा ज्ञान के साधनों में आनन्द मानता है। परन्तु यदि शरीर के राग में मूढ़ हो जावे तो अनन्तानन्त काल तक पुद्गल स्वभाव में ही रति को प्राप्त हो इतना भ्रमण करे। (947) (श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-374)

* * *

स्वरूप की सम्हाल और भोगों का प्रेम—ये दोनों बातें एक साथ ही जैनधर्म में नहीं हो सकती; इसलिए यद्यपि सम्यग्ज्ञानी वर्गणा, योग, हिंसा और भोगों से अबन्ध है

तथापि उसे पुरुषार्थ करने के लिये जिनराज की आज्ञा है, वे शक्ति प्रमाण पुरुषार्थ करते हैं परन्तु फल की अभिलाषा नहीं रखते और हृदय में सदा दयाभाव रखते हैं, निर्दय नहीं होते। प्रमाद और पुरुषार्थहीनता तो मिथ्यात्व दशा में ही होती है, जहाँ जीव मोहनिद्रा से अचेत रहता है; सम्यक्त्वभाव में पुरुषार्थहीनता नहीं है। (948)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, बन्ध द्वार, पद-6)

* * *

पर द्वारा मेरे गुण (पर्याय) की अथवा हरण नहीं की जा सकती और मेरे द्वारा पर के गुण उत्पन्न या दूर नहीं किये जा सकते। इसलिए पर द्वारा मेरे गुण और मेरे द्वारा पर के कोई गुण उपकार करने में आते हैं अथवा करने में नहीं आते। यह सब कल्पना मिथ्या है कि जो मोह से अभिभूत जीवों द्वारा की जाती है। (949)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभूत, संवर अधिकार, गाथा-16-17)

* * *

हे योगी! यदि तू चिन्ताओं को छोड़ेगा तो संसार का भ्रमण छूट जायेगा, क्योंकि चिन्ता में लगे हुए छद्मस्थ अवस्थावाले तीर्थकरदेव भी परमात्मा का आचरणरूप शुद्धभावों को नहीं पाते। (950)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-170)

* * *

द्रव्यानुयोग में निश्चय अध्यात्म उपदेश की प्रधानता होती है, इसलिए वहाँ व्यवहारधर्म का भी निषेध करते हैं। जो जीव, आत्मानुभव के उपाय को तो करता नहीं और मात्र बाह्यक्रियाकाण्ड में मग्न है, उसे वहाँ से उदास करके आत्मानुभवादि में लगाने के लिये व्रत-शील-संयमादि का भी वहाँ हीनपना प्रगट करते हैं, वहाँ ऐसा नहीं समझ लेना कि उसे (व्रत-शील-संयमादि को) छोड़कर पाप में लग जाना, क्योंकि उस उपदेश का प्रयोजन कहीं अशुभ में जोड़ने का नहीं है परन्तु शुद्धोपयोग में लगाने के लिये शुभोपयोग का निषेध करते हैं। (951)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-8, पृष्ठ-287)

* * *

भावमोह अपवित्र, आत्मा के गुणों का घात करनेवाला, रौद्ररूप (भयंकर रूप),

दुःख और दुःखरूप फल को देनेवाला है। उस भावमोह के विषय में अधिक कहाँ तक कहें? मात्र वह भावमोह ही सम्पूर्ण विपत्तियों का स्थान है। (952)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-1063)

* * *

आत्मा सर्वज्ञस्वरूप है तथा राग-द्वेषादि और कर्मादि रहित शुद्ध है। भव्यजीव इसी का साधन करते हैं। जिसने आत्मज्ञानरहित व्रत पाले, चारित्र पाला, उसने मिथ्या आत्मा का ही सेवन किया, मिथ्या आगम को ही जाना। (953)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-114)

* * *

स्वयं (—अपने से ही) उत्पन्न, समन्त (अर्थात् सर्वप्रदेशों से जानता हुआ), अनन्त पदार्थों में विस्तृत; विमल और अवग्रहादि से रहित—ऐसा ज्ञान ऐकान्तिक सुख है, ऐसा (सर्वज्ञदेव ने) कहा है। (954) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार, गाथा-59)

* * *

हे श्रीमद् जिनेन्द्रदेव! अतीन्द्रिय सुख (मोक्षसुख) प्रदान करनेवाले आपके चरणयुगल का मैं शरण प्राप्त कर चुका हूँ, इसलिए मैं धन्य हूँ, पुण्य का स्थान हूँ, आकुलतारहित हूँ, शान्त हूँ, विपत्तियों से रहित हूँ और ज्ञाता भी हूँ। (955)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, क्रियाकाण्ड चूलिका, श्लोक-9)

* * *

संयमी जीवों को मन में, असंयमी (अज्ञानी) जनों को देखकर बहुत सन्ताप होता है कि अरेरे! देखो तो सही, संसाररूपी कुँए में डूबने पर भी ये जीव क्यों नाच रहे हैं! (956)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, श्लोक-9)

* * *

जो साधु एकान्त निवास को एक अद्वितीय चक्रवर्तीपने समान देखता है, शरीर के विनाश को मनोवांछित लाभ मानता है, लाभान्तरायादि घातिकर्मों के क्षयोपशमजन्य सुख के उदय को मोक्ष के विघातरूप परम दुःख समझता है और उसके परिहार को ही

जो सुख श्रद्धता है, दुःखी जीवों को दुःख-परिहार प्रसंग में आ पड़नेवाले देहत्याग जैसे विकट प्रसंग को सर्वस्व त्यागरूप महोत्सव मानता है, उसे इस त्रिभुवन में कौन सा पदार्थ या प्रसंग सुख के हेतुभूत नहीं होगा ? (957)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-256)

* * *

अन्तरात्मा आत्मज्ञान से भिन्न किसी कार्य को लम्बे समय तक अपनी बुद्धि में धारण नहीं करता। यदि प्रयोजनवशात् वचन-काय से कुछ भी करने का विकल्प करे तो वह अनासक्तरूप से करे। (958)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-50)

* * *

विचार है, वह तो उपयोग के आधीन है। जहाँ उपयोग जुड़ता है, उसका ही विचार होता है। परन्तु श्रद्धान है, वह तो प्रतीतिरूप है, इसलिए अन्य ज्ञेय का विचार होने पर अथवा शयनादि क्रिया होने पर तत्त्वों का विचार नहीं तो भी उनकी प्रतीति तो कायम ही रहती है, नष्ट नहीं होती। (959)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-9, पृष्ठ-322)

* * *

क्रोधादिक और ज्ञान भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं; ज्ञान में क्रोधादिक नहीं, क्रोधादिक में ज्ञान नहीं। ऐसा उनका भेदज्ञान हो, तब उनके एकत्वरूप अज्ञान मिटे और अज्ञान मिटने से कर्म का बन्ध भी न हो। इस प्रकार ज्ञान से ही बन्ध का निरोध होता है। (960)

(श्री समयसार, गाथा-71 का भावार्थ)

* * *

हे भव्य ! विषतुल्य और कड़वे ऐसे विषयों में तुझे क्या स्वाद भरा रहा है ? कि जिससे उनकी ही तृष्णारूप अति दुःख को अनुभव करता हुआ उन विषयों को ढूँढने में तेरा अति महान निजपदरूप अमृत मलिन करता है और मन की सेविका जो इन्द्रियाँ, उनको आज्ञांकित सेवक होकर तू उन ही विषयों में प्रवर्तता है। पित्तज्वरवाले जीव को जैसे वस्तुस्वाद विपरीत भासित होता है, उसी प्रकार विषयासक्तपने के कारण रागरस से

तू विपरीत स्वादु बना है। (961) (श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-38)

* * *

जैसे लवण पानी में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार चित्त चैतन्य में विलीन होने पर जीव समरसी हो जाता है—समाधि में इसके अतिरिक्त दूसरा क्या करना है ? (962)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-176)

* * *

ज्ञान आत्मा के रूप में परिणमे तब हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह यह सब (पाप) भाग जाते हैं—उसमें से कोई भी पाप रहता नहीं। (963)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, जीव अधिकार, गाथा-37)

* * *

भव्यजन श्री अरहन्त की भक्ति में मग्न होकर ऐसा कहता है कि हे जिनेन्द्र ! क्या हमारे साथ अपने मोक्षरूपी देश में न चलोगे ? उस मुक्ति से मिलने के लिये मेरे भीतर आत्मारूपी कमल के रस का अनुभव प्रगट हो गया है। मुझे श्री जिनेन्द्र का ऐसा उपदेश मिला है कि मैं आत्मारूपी सूर्य का अनुभव करूँ और वीतरागभाव को प्रगट करूँ। उसी हितकारी सहायकभाव से यह जीव मुक्ति में प्रवेश कर जाता है। (964)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-2, पृष्ठ-157)

* * *

हे जिन ! संसाररूप ताप से सन्ताप प्राप्त मैं जब तक दयारूप अमृत की संगति से शीतलता प्राप्त आपके दोनों चरणकमल को हृदय में धारण करता हूँ, तब तक ही मैं सुखी हूँ। (965)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, करुणाष्टक, श्लोक-7)

* * *

यह धन अनर्थों का मूल है और यह धन निवृत्ति का—मोक्ष का नाशक है और यह धन ही लोभादि कषायों का उत्पादक है तथा दुःखों का विधायक है—लानेवाला है। (966)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-236)

* * *

जो प्राणी असुरेन्द्र, देवेन्द्र और नरेन्द्र (चक्रवर्ती) के भोगों में सन्तोष को नहीं प्राप्त हुआ है, वह यहाँ मनुष्यों के भोगों में भला कैसे सन्तोष को प्राप्त हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है। ठीक है—जिसकी प्यास समुद्रप्रमाण जल के पी लेने पर भी नहीं बुझी है, वह क्या तृण के अग्र भाग पर स्थित बिन्दुमात्र जल के पीने से तृप्त हो सकती है? कभी नहीं। (967) (श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-6)

* * *

इस धर्म से विमुख जो अपने कुल का मनुष्य हो, उसे छोड़; और इस धर्म के सन्मुख जो पर कुटुम्ब का भी मनुष्य हो, उससे प्रीति कर। तात्पर्य यह है कि यह जीव जैसे विषयसुख में प्रीति करता है, वैसे यदि जिनधर्म से करे, तो संसार में नहीं भटके। ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि जैसे विषयों के कारणों में यह जीव बारम्बार प्रेम करता है, वैसे यदि जिनधर्म में करे तो संसार में भ्रमण न करे। (968)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-134)

* * *

विषयों का भोग दुःखों का स्वभाव रखता है, इन ही विषयों में रमण करने से अनन्त जन्मों में गमन होता है। इन विषयों को बहुत सूक्ष्म भाव होता है, जो केवलीगम्य है, द्रव्यलिंगी मुनि के भीतर ऐसा सूक्ष्मराग होता है, जो उसको भी विदित नहीं होता है। वीतराग विज्ञान स्वभाव में आनन्दित होने से यह विषय का क्लेश विला जाता है। (969)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-2, पृष्ठ-213)

* * *

कोई समझे कि शरीरसम्बन्धी दुःख बड़ा है और मानसिक दुःख अल्प है। उसे यहाँ कहते हैं कि शारीरिक दुःख से मानसिक दुःख बहुत तीव्र है—बड़ा है, देखो! मानसिक दुःख सहित पुरुषों को अन्य बहुत विषय हों तो भी वह दुःख उपजानेवाले दिखाई देते हैं। (970)

(श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-60)

* * *

दर्शनमोहरहित (सम्यग्दृष्टि) गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है, परन्तु दर्शनमोहसहित

मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है, इसलिए मिथ्यात्वी मुनि से मिथ्यात्वरहित (सम्यग्दृष्टि) गृहस्थ श्रेष्ठ है। (971) (श्री समन्तभद्र आचार्य, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा-33)

* * *

जिस समय आत्मा शान्तभाव में स्थिर हो जाता है, वही महान तीर्थ है और जब यह आत्मा शान्तभाव में नहीं है, तब तीर्थयात्रा निरर्थक है। (972)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-311)

* * *

लोक में जो कंजूस मनुष्य का शरीर, भोग और दान रहित ऐसे धनरूपी बन्धन से बँधा हुआ है, उसके जीवन का क्या प्रयोजन है? अर्थात् उसके जीने से कुछ भी लाभ नहीं है, उसकी अपेक्षा से तो वह कौआ ही अच्छा है कि जो ऊँचे अनेक वचनों (कांव, कांव) द्वारा दूसरे कौओं को बुलाकर ही खुरचन खाता है। (973)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, दान अधिकार, श्लोक-46)

* * *

इस आत्मा में जो राग-द्वेषरूप दोषों की उत्पत्ति होती है, वहाँ परद्रव्यों का कुछ भी दोष नहीं है, वहाँ तो स्वयं अपराधी ऐसा यह अज्ञान ही विस्तृत है;—इस प्रकार विदित होओ और अज्ञान अस्त हो जाओ। मैं तो ज्ञान हूँ। (974)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-220)

* * *

यदि जिनवाणी समझनेवाले की बुद्धि भी (कर्मोदयवश) नष्ट होकर वह अन्यथा आचरण करे, तो फिर जिसे शास्त्र का ज्ञान नहीं, उसे क्या दोष देना? अरे! कर्मोदय को धिक्कार हो... धिक्कार हो, क्योंकि उसके वश जीव को जिनदेव की प्राप्ति भी अप्राप्ति समान है। (975)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-60)

* * *

ज्ञान चित्रपट समान है। जैसे चित्रपट में अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुओं के आलेख्याकार (—आलेख्य-आकार) साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी दीवार में (ज्ञानभूमिका में, ज्ञानपट में) भी अतीत, अनागत और

वर्तमान पर्यायों के ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं। (976)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-37)

* * *

उस आत्मध्यान या आत्मशुद्धि का उपाय न तो मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका का संघ है, न गुरु आचार्य हैं, न लोकों से बड़ी पूजा पाना है, न योग्य तृण, काष्ठ, पाषाण और भूमितल का बनाया हुआ संथारा है किन्तु उस आत्मध्यान का करनेवाला यह निर्मल और आत्मतत्त्व में स्थिर आत्मा ही है, जो जल और दूध के समान शरीर और आत्मा के भेद को सदा जाननेवाला है, ऐसा समझो। (977)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-37)

* * *

जैसे किसी को शास्त्राभ्यास की अति मुख्यता है, परन्तु आत्मानुभव का उसे उद्यम ही नहीं, उसके लिये बहुत शास्त्राभ्यास का निषेध किया, परन्तु जिसे शास्त्राभ्यास नहीं अथवा अल्प शास्त्राभ्यास है, वैसा जीव उस उपदेश से शास्त्राभ्यास छोड़ दे और आत्म-अनुभव में उपयोग रहे नहीं तो उसका तो बुरा ही होता है। (978)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-8, पृष्ठ-301)

* * *

एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में भ्रमण करनेवाला जीव मात्र देह को सन्ताप करता है, परन्तु आत्मा में आत्मा को ध्याने से वह निर्वाणपद को पाता है। इसलिए आत्मा को ध्याकर तू निर्वाण में कदम रखा। (979) (श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-178)

* * *

इस संसार में परम सुख क्या है ? तो वह एक इच्छारहितपना है तथा परम दुःख क्या है ? तो वह इच्छाओं का दास हो जाना है। ऐसा मन में समझकर जो पुरुष सर्व से ममता त्यागकर जिनधर्म का सेवन करते हैं, वे ही पुण्यात्मा और पवित्र हैं। शरीर और शरीर के सम्बन्धियों के सम्बन्ध में चिन्ता करना इच्छाओं को पैदा करने का बीज है। इनसे मोह त्यागना ही इच्छाओं को मिटाने का बीज है। (980)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-14)

* * *

गुरुजनों के (बड़ों के) निकट रहने तथा उनकी सेवा करने से यह लोक-परलोक सुधरता है, अपने परिणाम शुद्ध रहते हैं, विद्या-विनयादिक बढ़ते हैं और मान-कषाय की हानि इत्यादि गुण होते हैं। (981)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-15, श्लोक-1)

* * *

हे योगी! एक अपने आत्मा को जानने से यह तीन लोक जाना जाता है, क्योंकि आत्मा के भावरूप केवलज्ञान में यह लोक प्रतिबिम्बित हुआ बस रहा है। (982)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-99)

* * *

स्वामी के कार्य में उत्तम सेवक की भाँति सिद्धप्रतिमा, जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, चार प्रकार के संघ में तथा शास्त्र में जो दासत्वभाव रखना, वही सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य नाम का अंग अर्थात् गुण है। (983)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-803)

* * *

काम के समान रोग नहीं है, मोह के समान शत्रु नहीं है, क्रोध के समान अग्नि नहीं है, ज्ञान के बराबर सुख नहीं है। (984)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-27)

* * *

तू निश्चय से मान कि यह शरीर एक दुष्ट शत्रु के जैसा है। शत्रु जैसे हाथ में से छूटने के पश्चात् फिर काबू में आना अत्यन्त मुश्किल है, उसी प्रकार यह मनुष्यशरीर भी एक बार अमोघ परिणाम से छूटने के पश्चात् हाथ में आना मुश्किल है। आत्मबोध शरीर को काबू में रखने का एक अमोघ मन्त्र है। और यह शरीर, उस आत्मबोध से वंचितरूप से छूटने के पश्चात् इतना ज्ञानबल तेरे पास नहीं रहे कि जिससे तू फिर से उसे तेरे वश कर सके! इसलिए इस अमूल्य अवसर में उसकी तेरे ऊपर की सत्ता को निर्मूल कर! (985)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-194)

* * *

संसार में मनुष्य भोजन से क्षुधा को; शीतल जल से तृषा को; मन्त्र से भूत-पिशाचादि को; साम, दाम, दण्ड और भेद से शत्रु को तथा औषध से रोगों के समूह को शान्त किया करता है। परन्तु मृत्यु को देव भी शान्त नहीं कर सकते। इस प्रकार विचार करके विद्वान् मनुष्य मित्र अथवा पुत्र मरने पर भी शोक नहीं करते, परन्तु एकमात्र धर्म का ही आचरण करते हैं और उससे ही उस मृत्यु पर विजय प्राप्त करते हैं। (986)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अधिकार-1, श्लोक-177)

* * *

आत्मा और देह के भेदविज्ञान से उत्पन्न हुए आह्लाद से जो आनन्दित है, वह तप द्वारा भयानक दुष्कर्मों को भोगता होने पर भी खेद को प्राप्त नहीं होता। (987)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-34)

* * *

जो जीव संसार से—भवभय से डरता है, उसे जिनभगवान की आज्ञा का भंग करने से भय लगता है; और जिसे भवभय का डर नहीं, उसे तो जिन-आज्ञा का भंग करना, वह खेलमात्र है। (988)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-59)

* * *

मरणपर्यन्त कष्ट तो संसारी जीव स्वीकार करता है, परन्तु क्रोधादिक की पीड़ा सहन करना स्वीकार नहीं करता। इसलिए ऐसा निश्चय होता है कि मरणादिक से भी इन कषायों की पीड़ा अधिक है। (989)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-3, पृष्ठ-59)

* * *

सम्यग्दृष्टि को कभी भी इन व्याधियों के स्थानभूत इन्द्रियविषय में अत्यन्त आदरभाव असिद्ध नहीं, क्योंकि वे इन्द्रिय-विषय स्वयं ही बाधा के हेतु (निमित्त) हैं और इसलिए रोग में और भोग में कुछ अन्तर नहीं है। (990)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-530)

* * *

सद्विवेकवान शिष्य तो ऐसा विचारता है कि—परम दुःख के कारणरूप ऐसे मेरे दोष प्रगट करके मुझे दोष मुक्त करने के लिये परमगुरु मुझे भली शिक्षा देते हैं, जो मुझे रोम-रोम अति प्रिय है। वह सम्यक् शिक्षा यदि मुझे ऐसे अनुपम अवसर में प्राप्त न हुई होती तो मेरी क्या स्थिति होती? मैं कैसे मिथ्याभावों में बह जाता? तत्त्व-निर्णय होकर अपूर्व शान्ति कहाँ से प्राप्त होती? हेय-उपादेय का सद्विवेक मुझे कहाँ से जागृत होता? ऐसे-ऐसे विचारों से उस सुशिष्य को सद्गुरुप्राप्त कठोर और दोष को प्रगट करनेवाली शिक्षा भी इष्टरूप भासित होती है। (991)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-144)

* * *

ये इन्द्रियों के भोग असार अर्थात् साररहित तुच्छ जीर्ण तृण के समान हैं, भय को पैदा करनेवाले हैं, आकुलतामय कष्ट को करनेवाले हैं और सदा ही नाश होनेवाले हैं, दुर्गति में जन्म कराकर क्लेश को पैदा करनेवाले हैं तथा विद्वानों के द्वारा निन्दनीक हैं। इस तरह विचार करते हुए भी मेरी बुद्धि, खेद की बात है कि भोगों से नहीं हटती है, तब मैं बुद्धिरहित किसको पूछूँ, किसका सहारा लूँ, कौन सी तदबीर करूँ? (992)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-14)

* * *

परद्रव्य का प्रसंग महान दुःखरूप है, यह कथन दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं। दुष्टों के साथ जिनका सम्बन्ध है, उन विवेकी जीवों के भी सत्य, शीलादि गुण नष्ट हो जाते हैं, जैसे आग लोहे से मिल जाती है, तभी घनों से पीटी-कूटी जाती है। (993)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-110)

* * *

(सम्यग्दर्शन होने के पश्चात्) स्वयं ज्ञायक और स्वयं ज्ञेयरूप होकर, अपने आत्मा के अतिरिक्त सर्व परद्रव्यों से अपना उपयोग हटाकर अपने ज्ञाता-दृष्टारूप आत्मस्वरूप में ही एकरूप होकर आत्मा को अपने उपयोग का विषय बना, अथवा राग-द्वेष को हटाकर, समभाव प्राप्त करके, मध्यस्थभावरूप आत्मा में लीन होकर उपयोग की प्रवृत्ति में समा जाना, ऐसा जिसका प्रयोजन है, वह सामायिक है। (994)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, गोम्मटसार, जीवकाण्ड)

* * *

परजीवों को मैं दुःखी तथा सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दुःखी तथा सुखी करते हैं, ऐसा अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसे है, वह जीव अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसे वह अध्यवसाय नहीं, वह जीव ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है। (995)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-253)

* * *

तू लोक समान मूढ होकर दृष्टिगोचर (शरीरादि) परपदार्थ का उपकार करता है। (अब) तू पर के उपकार की इच्छा छोड़कर अपने उपकार में तत्पर हो। (996)

(श्री पूज्यपादस्वामी, इष्टोपदेश, गाथा-32)

* * *

वास्तव में जैसे जल रक्त को अच्छी तरह धोता है (साफ करता है), उसी प्रकार गृहत्यागी अतिथिजनों को दिया हुआ यथायोग्य आहारादि दान, गृहकार्य से संचित किये हुए पापों को भी वास्तव में नाश करता है। (997)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-114)

* * *

चेतन-अचेतनरूप परपदार्थों में (आत्मीयता की मतिरूप) प्रवृत्ति को प्राप्त जीव को कर्मों का महान आस्रव हुआ करता है और इसलिए कर्मास्रव में जो डूबा रहता है, उसका उद्धार नहीं होता। (998)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, अधिकार-3, गाथा-4)

* * *

.... जैसे अपवाद व्याख्यान से, मतिज्ञान को परोक्ष होने पर भी प्रत्यक्षज्ञान कहा है, उसी प्रकार स्व-आत्माभिमुख भावश्रुतज्ञान को भी परोक्ष होने पर भी, प्रत्यक्ष कहा है। और यदि वह एकान्त से परोक्ष हो तो सुख-दुःखादि का संवेदन भी परोक्ष होगा। परन्तु ऐसा तो है नहीं। (999)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, वृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-5 में से)

* * *

बहुत लम्बे समय से समुद्र में नष्ट हुए मणि समान इस भव में उत्तम मनुष्यपर्याय, धन और जिनवाणी पाकर जो दान नहीं करता, वह मूर्ख रत्न लेकर छिद्रवाली नौका में बैठकर समुद्र में प्रवेश करता है। (1000)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, दान अधिकार, श्लोक-35)

* * *

अनादि काल से इस संसार में भ्रमण करते हुए इस जीव के अपने कर्मवश कौन बांधव नहीं हुए और कौन शत्रु नहीं होंगे? अर्थात् अपने अपने कर्मवश सभी जीव एक-दूसरे के मित्र और शत्रु हुए हैं और होंगे। फिर भी न जाने क्यों यह मनुष्य नवीन कुटुम्ब के मोह में पड़कर आपत्ति में पड़ता है और जैनधर्म को छोड़कर सदा अपने हित से भ्रष्ट होता है, आत्महित में नहीं लगता। (1001)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-326)

* * *

सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ सम्यग्दृष्टि को आस्तिक्यगोचर है, इसलिए उनके अस्तित्व प्रतिपादक आगम में सम्यग्दृष्टियों को कोई प्रयोजनवश कभी भी शंका नहीं होती। (1002)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-482)

* * *

पी जाने में आया हुआ जो समस्त पदार्थों के समूहरूपी रस, उसकी अतिशयता से मानो कि मत्त हो गयी हो ऐसी जिसकी यह निर्मल से भी निर्मल स्वसंवेदन व्यक्तियाँ (—ज्ञानपर्यायें, अनुभव में आते हुए ज्ञान के भेद) अपने आप उछलते हैं, वह यह भगवान् अद्भुत निधिवाला चैतन्य रत्नाकर, ज्ञानपर्यायोंरूपी तरंगों के साथ जिसका रस अभिन्न है ऐसा, एक होने पर भी अनेक होता हुआ, ज्ञानपर्यायोंरूपी तरंगों द्वारा डोलायमान होता है—उछलता है। (1003)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-141)

* * *

जिन्हें आत्मस्वरूप का वास्तविक ज्ञान नहीं, ऐसे बहिरात्माओं को सुप्त अवस्था और उन्मत्तादि अवस्था ही विभ्रमरूप लगती है, परन्तु आत्मानुभवी अन्तरात्मा को,

मिथ्यात्वादि दोष जिसके क्षीण हुए नहीं, ऐसे बहिरात्मा की समस्त अवस्थायें विभ्रमरूप लगती हैं। (1004)
(श्री पूज्यपादस्वामी समाधितन्त्र, गाथा-93)

* * *

आत्मतत्त्व और शरीरादिक बहिरतत्त्वों का यथार्थ निश्चय होने पर उसके फलस्वरूप समस्त मिथ्यात्व-रागादि शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों में इष्टबुद्धि, आत्मबुद्धि, उपादेयबुद्धि, हितबुद्धि और ममत्वभाव छोड़कर, विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव में निश्चल रहना, इसका नाम सच्चा अमूढदृष्टि गुण है। (1005)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-14 भावार्थ में से)

* * *

भ्रमजनित दुःख दूर होने का उपाय भ्रम दूर करना ही है। भ्रम दूर होने से सम्यक् श्रद्धा हो, वही दुःख मिटने का सच्चा उपाय है। (1006)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-3, पृष्ठ-56)

* * *

निश्चयनय से वीतरागस्वसंवेदनरूप ही ज्ञान की अध्यात्मशास्त्रों में प्रशंसा की गयी है। इसलिए स्वसंवेदनज्ञान के बिना शास्त्रों के पढ़े हुए भी मूर्ख हैं। और जो कोई परमात्मज्ञान के उत्पन्न करनेवाला छोटे-थोड़े शास्त्रों को भी जानकर वीतरागस्वसंवेदनज्ञान की भावना करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। ऐसा ही कथन ग्रन्थों में प्रत्येक जगह कहा है कि वैराग्य में लगे हुए जो मोहशत्रु को जीतनेवाले हैं, वे थोड़े शास्त्रों को ही पढ़कर सुधर जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं, और वैराग्य के बिना सब शास्त्रों को पढ़ते हुए भी मुक्त नहीं होते। यह निश्चय जानना। परन्तु यह कथन अपेक्षा से है, इस बहाने से शास्त्र पढ़ने का अभ्यास नहीं छोड़ना, और जो विशेष शास्त्र के पाठी हैं, उनको दूषण नहीं देना। (1007)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-84)

* * *

जो पुरुष, बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रहरहित शुद्ध गुरु का सेवक है, वह मिथ्यादृष्टि जीवों का महा शत्रु है; इसलिए वह मिथ्यादृष्टियों की निकट में बलरहित होकर न बसो। (1008)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, श्लोक-48)

* * *

कैसा है वह सम्यग्दृष्टि ? उत्तम गुण जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप आदि में तो अनुरागी (भावनावन्त) होता है, उन गुणों के धारक उत्तम साधुजनों के विनय से युक्त होता है तथा अपने समान सम्यग्दृष्टि साधर्मीजनों में अनुरागी—वात्सल्यगुणसहित होता है, ऐसा वह उत्तम सम्यग्दृष्टि होता है। ये तीनों भाव न हों तो जानना कि उसमें सम्यक्त्व का यथार्थपना नहीं है। (1009) (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-315)

* * *

अर्थ (लक्ष्मी) अनन्त अनर्थ को करती है, वह कदापि अर्थ की नहीं है, अर्थ तो वह ही, जो परमार्थ को साधे। उसकी कामना से क्या काम ? निजकामना से काम कि वही सुकाम को सुधारे.... (1010) (श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-93)

* * *

हे भव्य जीव ! मन को प्रसन्न रखनेवाली और सर्व काल में सुख देनेवाली सेवनेयोग्य क्षमा नाम की कुल स्त्री का तुझे बार-बार सेवन करना चाहिए। (1011) (श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-265)

* * *

बोधि और समाधि का लक्षण कहते हैं:—नहीं प्राप्त किये हुए सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति करना, वह बोधि है और उन्हें (सम्यग्दर्शनादि को) ही निर्विघ्नरूप से दूसरे भव में साथ ले जाना, वह समाधि है। (1012)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, वृहद् द्रव्य संग्रह, गाथा-35 की टीका में से)

* * *

जैसे लोहखण्ड की सुई छोटी होने पर भी यदि वह डोरा से सहित हो तो चाहे जहाँ कचरे में गिर जाये तो भी मिल जाती है। प्रमाद से गिर जाने पर भी आँख से दिखती है और फिर मिल जाती है। उसी प्रकार साधु यदि श्रुतज्ञानसहित हो तो संसाररूपी खड्डे में नहीं गिरते। प्रमाद-दोष से उत्कृष्ट तपश्चरण करने में असमर्थ होने पर भी कपटरहित चित्त होने से निरन्तर स्वाध्याय करता है, जिससे वह कर्मक्षय करता है। (1013)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, समयसार अधिकार, गाथा-83)

* * *

ये रागादि भाव मन को कभी तो मूढ़ करते हैं, कभी भ्रमरूप करते हैं, कभी भयभीत करते हैं, कभी रोगों से चलायमान करते हैं, कभी शंकित करते हैं, कभी क्लेशरूप करते हैं—इत्यादि प्रकार से स्थिरता से डिगा देते हैं। (1014)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-23, श्लोक-7)

* * *

मरणपर्यन्त दुःख प्राप्त होने पर भी जो जीव सम्यक्त्व को नहीं छोड़ता, उसके पास इन्द्र भी, अपनी ऋद्धि के विस्तार की निन्दा करता हुआ, उसे प्रणाम करता है। (1015)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-86)

* * *

यदि तीव्र तप को किया जावे तो वह तप सम्यग्दर्शनसहित शुद्ध कहलायेगा, परन्तु यदि मिथ्यात्वसहित है तो वह तप अशुद्ध कहा जायेगा, क्योंकि वह आत्मा की ओर दृष्टि न रखता हुआ पर पुद्गल की ओर दृष्टि लगाये रहता है। इससे मद हो जाता है। पर पौद्गलिक पर्याय में रत होने से दुःख का बीज ही बोता है। (1016)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-162)

* * *

सम्यग्दृष्टि को नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है; क्योंकि वह (सम्यग्दृष्टि जीव) स्वरूप का ग्रहण और पर का त्याग करने की विधि द्वारा अपने वस्तुत्व का (यथार्थ स्वरूप का) अभ्यास करने के लिये, 'यह स्व है (अर्थात् आत्मस्वरूप है) और यह पर है' ऐसा भेद परमार्थ से जानकर स्व में रहता है और पर से—राग के योग से—सर्व प्रकार से विराम लेता है। (इस प्रकार ज्ञान-वैराग्य की शक्ति बिना नहीं हो सकता।) (1017)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-136)

* * *

अध्यात्मशास्त्ररूपी अमृत समुद्र में से मैंने जो संयमरूपी रत्नमाला बाहर निकाली है, वह (रत्नमाला) मुक्तिवधू के वल्लभ ऐसे तत्त्वज्ञानियों के सुकण्ठ का आभूषण बनी है। (1018)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-180)

* * *

शरीर से प्रीति करना है, सो आत्मा की उन्नति से बाहर रहना है, क्योंकि जो कोई शरीर के काम के करने में जाग रहा है, वह त्यागनेयोग्य और करनेयोग्य के विचार से शून्य मनवाला होता हुआ आत्मा के कार्य में अपना वर्तन नहीं रखता है। इसीलिए अपने आत्मा के प्रयोजन को जो सिद्ध करना चाहता है, उसको सदा ही शरीर का मोह छोड़ देना चाहिए। अपनी इच्छा को पूर्ण करनेवाला बुद्धिमान पुरुष अपने काम को रोकनेवाले कार्य में उद्यम नहीं करता है। (1019)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-72)

* * *

यद्यपि विकल्पसहित अवस्था में शुभोपयोगियों को चित्त की स्थिरता के लिये और विषय-कषायरूप खोटे ध्यान के रोकने के लिये जिनप्रतिमा तथा णमोकारमन्त्र के अक्षर ध्यानेयोग्य हैं, तो भी निश्चयध्यान के समय शुद्धात्मा ही ध्यावनेयोग्य है, अन्य नहीं। (1020)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-158)

* * *

जिस पुरुष ने किसी की प्रीति से, भ्रम से अथवा किसी के भय से हिंसा का समर्थन किया कि हिंसा करना बुरा नहीं है तो ऐसा समझो कि उसने अपनी आत्मा को उसी समय नरकरूपी समुद्र में डाल दिया। (1021)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-8, श्लोक-36)

* * *

कर्ता का और भोक्ता का युक्ति के वश से भेद हो अथवा अभेद हो, अथवा कर्ता और भोक्ता दोनों न हो; वस्तु को ही अनुभव करो। जैसे चतुर पुरुषों से डोरा में पिरोयी हुई मणियों की माला भेदी नहीं जा सकती, उसी प्रकार आत्मा में पिरोयी हुई चैतन्यरूप चिन्तामणि की माला भी कभी किसी से भेदी नहीं जा सकती; ऐसी यह आत्मारूपी माला एक ही, हमको समस्तरूप से प्रकाशमान हो। (अर्थात् नित्यत्व, अनित्यत्व, आदि के विकल्प छूटकर आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हमको हो।) (1022)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-209)

* * *

अन्यमत के श्रद्धानी को जो कदाचित् शुभलेश्या के निमित्त से पुण्य का भी बन्ध हो तो उसको पाप ही में गिनते हैं। जो जिन-आज्ञा में प्रवर्तते हैं, उसके कदाचित् पाप भी बन्धे तो वह पुण्य जीवों की ही पंक्ति में गिना जाता है। मिथ्यादृष्टि को पापी जीवों में माना है और सम्यग्दृष्टि को पुण्यवान् जीवों में माना है। (1023)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड, गाथा-117)

* * *

जो मनुष्य धन होने पर भी दान देने में उत्सुक तो होता नहीं, परन्तु अपनी धार्मिकता प्रगट करता है, उसके हृदय में जो कुटिलता रहती है, वह परलोक में उसके सुखरूपी पर्वतों के विनाश के लिये बिजली का काम करती है। (1024)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, दान अधिकार, श्लोक-31)

* * *

हे भव्य जीवो! यदि अपना हित चाहते हो तो गुरु की वह शिक्षा मन को स्थिर करके सुनो। (कि इस संसार में प्रत्येक प्राणी) अनादिकाल से मोहरूपी तीव्र मदिरा पीकर, अपने आत्मा को भूलकर व्यर्थ भटकता है। (1025)

(पण्डित दौलतरामजी, छहढाला, ढाल-1, श्लोक-2)

* * *

मेरे चित्त में कल्पवासी देवों के इन्द्र को, नागेन्द्र को तथा चक्रवर्ती को प्राप्त होनेवाला सुख निरन्तर तृण समान तुच्छ लगता है। अल्प बुद्धिमान हमेशा भूमि, स्त्री, लक्ष्मी, शरीर तथा पुत्र से सुख मानता है—यह आश्चर्यकारक है। (1026)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान-तरंगिणी, अधिकार-9, श्लोक-10)

* * *

हे जिनवाणी! जो प्राणी तेरा विधिपूर्वक स्मरण करता है, उसे ऐसी कोई लक्ष्मी नहीं, ऐसे कोई गुण नहीं तथा ऐसा कोई पद नहीं, जिसे तू वर्णभेद बिना न देती हो। यह गुरु का उपदेश है। अभिप्राय यह है कि तेरा स्मरण करनेवाले को समानरूप से अनेक प्रकार की लक्ष्मी, अनेक गुण और उत्तमपद प्रदान करती है। (1027)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, श्रुतदेवता स्तुति, श्लोक-26)

* * *

जो पुरुष सम्यक्त्वरूपी रत्नराशि से सहित है, वह पुरुष धन-धान्यादि वैभव से रहित हो तो भी वास्तव में वैभवसहित है और जो पुरुष सम्यक्त्व से रहित है, वह धनसहित हो तो भी दरिद्री है। (1028) (आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-88)

* * *

प्रथम तो, जीवों को सुख-दुःख वास्तव में अपने कर्म के उदय से ही होते हैं, क्योंकि अपने कर्म के उदय के अभाव में सुख-दुःख होना अशक्य है; और अपना कर्म दूसरे से दूसरे को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह (अपना कर्म) अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है; इसलिए किसी भी प्रकार से दूसरा दूसरे को सुख-दुःख नहीं कर सकता। इसलिए 'मैं परजीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ और परजीव मुझे सुखी-दुःखी करते हैं।'—ऐसा अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है। (1029)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-254-256)

* * *

जो मनुष्य धर्म का सेवन करनेवाले हैं, वे कदाचित् मृत्यु को प्राप्त हों तो भी जीवन्त है। परन्तु जो मनुष्य पाप करनेवाले हैं, वे जीवन्त हों तो भी मरे हुए हैं। (1030)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-62)

* * *

हे निर्बुद्धि जीव! यह शरीररूप घर वास्तव में तुझे बन्दीगृह (कैदखाना) समान ही है। उसमें तू वृथा प्रीति न कर! यह शरीररूप बन्दीगृह हड्डीरूपी स्थूल पाषाण से चिना हुआ है, नसोंरूपी जल से लिपटा हुआ है, चारों ओर चर्म से आच्छादित है, रुधिर और सजल माँस से लिस है, दुष्टकर्मरूपी शत्रु ने उसे रचा है और आयुकर्मरूपी भार की बेड़ी से वह बँधा हुआ है। (1031) (श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-59)

* * *

हे मुने! तू सम्यक्त्व के गुण और मिथ्यात्व के दोषों को जानकर सम्यक्त्वरूपी रत्न को भावपूर्वक धारण कर। यह गुणरूपी रत्नों में सार है और मोक्षरूपी मन्दिर का प्रथम सोपान है अर्थात् चढ़ने के लिये पहली सीढ़ी है। (1032)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड, गाथा-147)

* * *

पाँचों इन्द्रियोंरूपी कुदेव भयानक है, समभाव रहित है, उनको नियम से विष सहित जानना योग्य है। उनमें नित्य कषाय की बढवारी होती है। उनसे मन-वचन-काय-योग रौद्रध्यानी रहते हैं। (1033) (श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-191)

* * *

यह जीव नीच योनियों में दीर्घ काल तक अनेक तरह से जब भ्रमण कर चुकता है, तब कहीं पुण्य के योग से एक बार उच्च योनि में जन्म प्राप्त करता है, ऐसी दशा में कौन ऐसा है जो अहंकार करे? (1034)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-295)

* * *

हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने पर अतिशय भक्तियुक्त भव्य जीव के पास सभी सिद्धियाँ एक खेलमात्र में ही (अनायास ही) प्राप्त होती हैं। (1035)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, जिन स्तवन, श्लोक-30)

* * *

जो इन्द्रिय और मन को जीते बिना तथा ज्ञान-वैराग्य की प्राप्ति के बिना ही मोक्ष के लिये ध्यान का अभ्यास करते हैं, वे मूर्ख अपने दोनों भव बिगाड़ते हैं। (1036)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-20, श्लोक-22)

* * *

हे जिनेन्द्रदेव! अनन्त शक्तियुक्त, दोषरहित, परिपूर्ण आत्मा को म्यान से भिन्न तलवार की भाँति शरीर से अत्यन्त भिन्न करने की—अनुभव करने की शक्ति आपकी कृपा द्वारा मुझे प्राप्त होओ। (1037) (श्री अमितगति आचार्य, सामायिक पाठ, श्लोक-2)

* * *

हे सच्चे श्रोता! जो-जो आत्मा उदय होकर प्रफुल्लित कमल के समान पूर्ण हो जाता है, वही आत्मा अपने ज्ञानप्रकाश में आचरण करता हुआ सिद्धस्वभाव में लीन रहता है। हे सच्चे श्रोता! उस उसने अपने आत्मा को साधन कर लिया है अर्थात् जो आत्मा का सच्चा साधन करता है, वह सिद्ध हो जाता है। (1038)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-2, पृष्ठ-135)

* * *

जो धर्म से अधिष्ठित (सहित) आत्मा है, उसके साथ सर्प, अग्नि, विष, व्याघ्र, हस्ती, सिंह, राक्षस तथा राजादिक भी द्रोह नहीं करते हैं अर्थात् यह धर्म इन सबसे रक्षा करता है अथवा धर्मात्माओं के ये सब रक्षक होते हैं। (1039)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, धर्मभावना, श्लोक-17)

* * *

हे ईश! आपके सान्निध्य की सौरभ द्वारा अतत्त्ववचन भी तत्त्व प्रतिपत्ति में अत्यन्त कुशल हो जाते हैं, क्योंकि पद-पद में एकान्तरूप विष का वमन करनेवाले वे वचन भी आपके मार्ग में स्यात् पद से अलंकृत होने से पद-पद में अमृत झरता है। (1040)

(श्री अमृतचन्द्र आचार्य, लघुतत्त्व स्फोट, स्तुति-20, श्लोक-1)

* * *

जैसे मन्त्र के प्रभाव से सर्प का विष उतर जाता है, उसी प्रकार अति तीव्र काम की पीड़ा भी आत्मज्ञान के बल से नियम से शान्त हावे जाती है। (1041)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-113)

* * *

अग्नि के संयोग से जैसे जल तप्तयमान होता है, उसी प्रकार देह के संयोग से (ममत्व से) अनन्त काल से आत्मा तप्तयमान हो रहा है, ऐसा जानकर कल्याणार्थी मुनिजन देह से भी ममत्व तजकर शीतल (आनन्दरूप) होते हैं। (1042)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-258)

* * *

जो मुनियों के ध्यानरूपी अग्नि से प्रज्वलित हृदय में त्रिलोक-विजयी कामदेव को भी जलता देखकर अतिशय भयभीत हुए कषायें इस प्रकार से नष्ट हो गयी कि उसमें वे फिर से प्रवेश नहीं कर सके, वे मुनि जयवन्त वर्तते हैं। (1043)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अधिकार-1, श्लोक-57)

* * *

जिनेश्वर का वचन ही औषध है। इस औषध के सेवन से इन्द्रियसुख की इच्छारूपी मल निकल जाता है। यह जिनवचनरूपी औषध अमृत समान है। उससे

आत्मा में सर्वांग अपूर्व सुख की प्राप्ति होती है। वृद्धावस्था तथा मरणरूपी व्याधियों से उत्पन्न हुई वेदनाओं का नाश होता है तथा सर्व दुःखों का यह जिनवचनरूपी औषध नाश करती है। इसलिए मुनिराज इस औषध का सेवन करते हैं। (1044)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, अनगार भावना, गाथा-76)

* * *

सम्यक्त्वसहित जीव को तो विघ्न भी उत्सव समान है और मिथ्यात्वसहित जीव को परम उत्सव हो तो भी वह महा विघ्न है। (1045)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-85)

* * *

अनुपम और अद्वितीय ऐसी बात है कि नित्य-निगोदवासी अनादि मिथ्यादृष्टि जीव भी भरत चक्रवर्ती के नौ सौ तेईस पुत्र कर्मों की निर्जरा करने से इन्द्रगोप हुए और उनके समूह पर भरत के हाथी ने पैर रखा, इसलिए वे मरकर वर्धनकुमार इत्यादि भरत के पुत्र हुए। वे किसी से बोलते नहीं थे। इसलिए भरत ने समवसरण में भगवान से पूछा, तब भगवान ने उनका पूर्व वृत्तान्त कहा; उसे सुनकर उन्होंने तप ग्रहण किया और बहुत थोड़े समय में मोक्ष प्राप्त हुए। (1046)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35 की टीका में से)

* * *

लक्ष्मीसहित चिन्तामणि, दिव्य नवनिधि, कामधेनु तथा कल्पवृक्ष—यह सब धर्म के अनादि काल से सेवक हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। (1047)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, धर्मभावना, श्लोक-4)

* * *

हे मुने! तूने माता के गर्भ में रहकर जन्म लेकर मरण किया, वह तेरे मरण से अन्य-अन्य जन्म में अन्य-अन्य माता के रुदन से नयनों का नीर एकत्र करें, तब समुद्र के जल से भी अतिशयकर अधिकगुना हो जावे अर्थात् अनन्तगुना हो जावे। (1048)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड, गाथा-19)

* * *

पाँच इन्द्रियों के विषयों में तथा असंख्यात लोकप्रमाण तीव्र भावक्रोधादिकों में स्वभाव से ही मन का शिथिल होना, वह प्रशम है। (1049)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, श्लोक-426)

* * *

हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने से कल्याण की परम्परा (समूह) बुलाये बिना ही पुरुष के आगे इस प्रकार चलते हैं कि जैसे चन्द्रमा के आगे उसकी किरणों का समूह चलता है। (1050) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, जिनवर स्तवन, श्लोक-24)

* * *

हाय! बहुत दुःख की बात है कि—संसाररूप कल्लखाने में पापी और क्रोधी ऐसे इन्द्रिय विषयरूप चाण्डालों ने चारों ओर रागरूप भयंकर अग्नि सुलगा रखी है—जिससे चारों ओर से भय प्राप्त और अत्यन्त व्याकुल हुए पुरुषरूपी हिरण अपने बचाव के लिये अन्तिम शरण चाहते—शोधते हुए कामरूपी चण्डाल ने रच रखे हुए स्त्रीरूप कपट स्थान में जा-जाकर गिर पड़ते हैं। (1051)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-130)

* * *

शुद्धस्वरूप के अनुभव के काल में जीव काष्ठ की भाँति जड़ है, ऐसा भी नहीं है, सामान्यरूप से सविकल्पी जीव की भाँति विकल्पी भी नहीं है, भावश्रुतज्ञान द्वारा कोई निर्विकल्प वस्तुमात्र को अवलम्बता है, अवश्य अवलम्बता है। ऐसे अवलम्बन को वचनद्वार से कहने को समर्थपना नहीं, इसलिए नहीं कहा जा सकता। (1052)

(श्री राजमलजी, कलशटीका, कलश-124)

* * *

अनिष्ट सामग्री के संयोग के कारणों को तथा इष्ट सामग्री के वियोग के कारणों को विघ्न मानते हो, परन्तु तुमने कहीं इसका विचार सन्मुख होकर किया है? यदि यही विघ्न हो तो मुनि आदि त्यागी तपस्वी तो इन कार्यों को अंगीकार करते हैं, इसलिए विघ्न का मूल कारण अज्ञान, रागादिक ही है। इस प्रकार दुःख और विघ्न का स्वरूप जान तथा उसका इलाज सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है, उसके स्वरूप का उपदेश देकर

प्रवृत्ति करनेवाले श्री अरहन्तदेवाधिदेव हैं। इस प्रकार दुःख और विघ्न के हर्ता जानकर उन्हें पूजनेयोग्य है। (1053) (श्री भागचन्द्रजी, सत्तास्वरूप, पृष्ठ-52)

* * *

अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि को निश्चिन्त होकर, सर्व सांसारिक उपाधियों को त्यागकर, चित्त को आनन्द देनेवाले और श्रेष्ठ आत्मज्ञान से उत्पन्न अमृत को सदा पीना योग्य है। (1054) (श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-12)

* * *

हितरूप और प्रयोजनभूत मीठे वचन जीव को सांसारिक आतापजन्य दुःख से रहित करते हैं। जल, चन्दन, चन्द्रमा, मोती का हार तथा चन्द्रकान्तमणि अन्तरंग आताप को दूर करके जीव को वास्तविक सुख देने में समर्थ नहीं हैं। जल चन्दनादिक को लोक में आतापहारी कहते हैं परन्तु सत्य वचन जो आताप दूर करते हैं, वैसा आताप जल चन्दनादि दूर नहीं कर सकते। (1055)

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-834)

* * *

(अविरत सम्यग्दृष्टि जीव) जहाँ अपने राज्यादि न्यायकार्य के विषय में लोभ करता है, वहाँ भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की योग्यतासहित करता है, अन्याय लोभ नहीं करता है, और जिन कार्यों में महापाप उपजै, ऐसा न्याय लोभ भी नहीं करता है, अपने यश होने का और अपने धर्म तथा धन का लोभ करता है। इत्यादिक लोभ करता है, सो अप्रत्याख्यान लोभभाव जानना। (1056) (श्री दीपचन्द्रजी, भावदीपिका, पृष्ठ-65)

* * *

चारित्रधारी संयत मुनि को जो निर्बाध आत्मस्थित, ध्रुवस्वभावरूप, समस्त दोषरहित शाश्वत सुख होता है, वह सुख चक्रवर्ती को भी नहीं है, स्वर्गस्थ देवेन्द्रों को भी नहीं है, भोगभूमि में रहनेवालों को भी नहीं है, नागराज धरणेन्द्र को भी नहीं है। इनका सब बाह्य अनात्म जड़-वैभव आत्मवैभव के सामने तुच्छ है। (1057)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-236)

* * *

एक दिवस में सौ योजन गमन करनेवाला पुरुष भी यदि अपने इष्ट स्थान से एकदम उल्टी दिशा में गमन करते लग जाये तो वह कभी भी अपने इष्ट स्थान को प्राप्त होगा नहीं; इसी प्रकार मिथ्यात्व से सहित अहिंसादिक गुण जिसे हों, वैसा पुरुष भी कभी मुक्तिपद को प्राप्त होनेवाला नहीं है। यह बात निश्चित समझना चाहिए। (1058)

(श्री शिवकोटि आचार्य, मूलाराधना, गाथा-59)

* * *

जैसे दीपक स्नेह अर्थात् तेल संयुक्त हो तो मलिन काजल निपजाता है। उसी प्रकार शास्त्रज्ञान और शुभाचार से मण्डित पुरुष भी स्नेह अर्थात् मोहयुक्त हो तो तेल की भाँति पापरूप अशुभ काजल उपजाता है, अन्त में मलिन ही होता है। स्नेह (मोह) अनुबद्ध जीव के ज्ञान-चारित्रादि प्रिय गुण भी प्रशंसा को प्राप्त नहीं होते। (1059)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-231)

* * *

जो कोई मेरा अनेक प्रकार के वध-बन्धनादि प्रयोगों से इलाज नहीं करे तो मेरे पूर्व जन्मों के संचित किये असाता कर्मरूपी रोग का नाश कैसे हो? भावार्थ—जो मुझे वध-बन्धनादिक से पीड़ित करता है, वह मेरे पूर्वोपार्जित कर्मरूपी रोगों को नाश करनेवाला वैद्य है, उसका तो उपकार मानने योग्य है, किन्तु उससे क्रोध करना कृतघ्नता है। (1060)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-19, श्लोक-26)

* * *

मोह से प्राणियों को शुद्ध आत्मस्वरूप की यथार्थ प्राप्ति मुश्किल है, मोह के जय से क्रियाकाण्ड बिना भी अत्यन्त सुगम है। (1061)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-4, गाथा-23)

* * *

हे मानवों! कषायों को कम करके पंचेन्द्रिय के विषयों का सेवन नहीं करना। इसका पथ्य या हितकारी उपाय उत्तम निर्दोष सम्यग्दर्शन है। (1062)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-37)

* * *

यह जनसमूह अपने कमाये हुए अनेक प्रकार के कर्म अनुसार अनेक अवस्थायें पाता है। उस अज्ञानी के विकार देखकर योगी का मन क्षोभ पाता नहीं। (1063)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, सद्बोध चन्द्रोदय, श्लोक-45)

* * *

मुझे दीक्षा ग्रहण किये हुए बहुत वर्ष हुए हैं तथा यह मुनि मुझसे छोटे हैं, इन्होंने आज दीक्षा ली है, ऐसा गर्व हे मुनि! तू कभी भी न कर। क्योंकि वर्ष-गणना मुक्ति का कारण नहीं। बहुत काल के दीक्षित मुनि को ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि बहुत मुनि मात्र तीन दिन चारित्र धारण करके मुक्त हुए हैं और कितने ही मुनि दीक्षा धारण करके अन्तर्मुहूर्त में ही मुक्त हुए हैं, क्योंकि वे वैराग्य में तत्पर, धीर और सम्यग्दर्शनादि में दृढ़ थे। उन्होंने अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण कर्मों का विनाश करके मुक्ति प्राप्त की है। (1064) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, समयसार अधिकार, गाथा-77)

* * *

धर्म ही परम रस का रसायन, निधियों का निधान, कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिन्तामणि है। विशेष क्या कहना? जो जिनेन्द्रदेव ने कहे हुए धर्म को पाकर दृढ़ श्रद्धावाले (सम्यग्दृष्टि) हुए हैं, वे ही धन्य हैं। (1065)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35)

* * *

यदि यह मानवशरीर बलदाई भोजन से ही विपत्ति में आ जाते हैं, रोगी हो जाते हैं तथा मरण को प्राप्त होते हैं, तब दूसरे विष आदि पदार्थों से किस तरह बच सकते हैं? जब हितकारी माता बच्चे को मार डालती है, तब निश्चय से शरण में रखनेवाला दूसरा कोई नहीं है। (1066)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-113)

* * *

जब इन्द्र, चन्द्र आदि भी मरण के द्वारा निश्चय से नाश किये जाते हैं, तब उनके मुकाबले में कीट के समान अल्पायुवाले अन्य जन की तो बात ही क्या है? इसलिए अपने किसी प्रिय के मरण हो जाने पर वृथा मोह नहीं करना चाहिए। इस जगत में तू

ऐसा कोई उपाय शीघ्र ढूँढ, जिससे काल अपना दाव न कर सके। (1067)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अनित्य पंचाशत, श्लोक-51)

* * *

जो कोई इस बढ़ते हुए पापकर्म को सम्यग्ज्ञान के द्वारा दूर नहीं करता है, वह अति तीव्र कर्मरूपी भूत से पकड़ा हुआ पीछे पछताता है। (1068)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-178)

* * *

नवनिधियों से भी इस स्वमानरूप धन को बड़ा धन जानकर तू अब इसके रक्षण के लिये परम सन्तोषवृत्ति को धारण कर! धनादि विनाशी और तुच्छ वस्तु के अर्थ याचना करके आत्मगौरवरूप परम धन को लुटा देना, वह तुझे योग्य नहीं है। संसार परिणामी जीव तृष्णावश बनकर स्वमान को भी किनारे करके दीनवत् याचक बन जाते हैं। और यह आशा तो नवनिधि मिलने पर भी शमन होना केवल असम्भव है, उल्टे बढ़ती है। तो फिर यह अल्प और परिणाम से व्याकुलताजन्य विनाशीक इष्ट धनादि के पीछे गहल बनकर उसके लिये दीनपना सेवन करना क्या तुझे उचित है? ऐसा चिन्तवन कर। जैसे बने वैसे इस आशारूप ग्राह का निग्रह कर। (1069)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-156)

* * *

मोक्ष का अर्थी जीव अपने जीवन को तो तिनके की भाँति त्यागता है, परन्तु सम्यक्त्व और तप को छोड़ता नहीं, क्योंकि जीवितव्य तो फिर से भी मिलता है परन्तु सम्यक्त्व जाने के बाद फिर से मिलना दुर्लभ है। (1070)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-87)

* * *

हे आत्मन्! तुम मोहनिद्रा छोड़कर सावधान होओ और देखो, तुम धन-सम्पत्तिरूप माया में कैसे भूल रहे हो? तुम कहाँ से आये हो और कहाँ चले जाओगे और दौलत जहाँ की तहाँ पड़ी रहेगी। लक्ष्मी तुम्हारी नात-जाति की नहीं, वंश परम्परा की नहीं, दूसरा तो क्या? तुम्हारे एक प्रदेश का भी प्रतिरूप नहीं। यदि उसे तुमने नौकरानी

बनाकर नहीं रखा तो वह तुमको लात मारेगी, इसलिए महान होकर तुम्हें ऐसा अन्याय करना योग्य नहीं है। (1071)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, साध्यसाधक द्वार, पद-7)

* * *

अपने आत्मा का हित तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा तप की रक्षा से है, इस बात को सर्वज्ञों ने कहा है। (1072)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-158)

* * *

जो मनुष्य वृक्ष समान हिंसाकर्म रहित है, अकेला है अर्थात् किसी सहायक की अपेक्षा नहीं रखता, समस्त उपद्रव सहन करता है, तथा वन में स्थित भी है, तथापि वह सम्यग्ज्ञान बिना कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता। (1073)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, निश्चय पंचाशत, श्लोक-16)

* * *

ज्ञान को रोकनेवाला, शान्ति का नाश करनेवाला, श्रद्धा का भंग करनेवाला और अभिमान को बढ़ानेवाला 'कुतर्क' मानसिक रोग है कि जो अनेक प्रकार से ध्यान का शत्रु है। इसलिए मोक्षाभिलाषियों को अपने मन को कुतर्क में लगाना योग्य नहीं, परन्तु आत्मतत्त्व में लगाना योग्य है कि जो आत्मउपलब्धिरूप सिद्धि-सदन में प्रवेश करानेवाला है। (1074)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, अधिकार-7, गाथा-53)

* * *

साधु आगमचक्षु (—आगमरूप चक्षुवाले) हैं, सर्व भूत (—प्राणी) इन्द्रिय चक्षु हैं, देव अवधिचक्षु हैं और सिद्ध सर्वतःचक्षु (सर्व आत्मप्रदेशों से चक्षुवाले) हैं। (1075)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार, गाथा-234)

* * *

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने पर धूल से मलिन (स्नान किये बिना के), वस्त्ररहित, पद्मासन में स्थित, शान्त, वचनरहित और आँखें बन्द हों, ऐसी अवस्था को प्राप्त मुझे जो जंगल के प्रदेश में भ्रम प्राप्त हुए मृगों का समूह आश्चर्यचकित होकर पत्थर में उत्कीर्ण

मूर्ति समझने लगे तो मेरा जैसा मनुष्य पुण्यशाली होगा। (1076)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, यतिभावनाष्टक, श्लोक-3)

* * *

(गृहस्थ).... पूजा-प्रतिष्ठा यत्नपूर्वक करते हैं। उस कार्य में गृहस्थ को हिंसा होती है तो वह कैसे टले? समाधान यह है कि—सिद्धान्त में ऐसा भी कहा है कि अल्प अपराध लगने पर भी यदि बहुत पुण्य होता हो तो ऐसा कार्य गृहस्थ को करनेयोग्य है। गृहस्थ तो जिसमें लाभ जाने, वह कार्य करे, जैसे थोड़ा द्रव्य देने पर भी यदि बहुत द्रव्य आता हो तो वह कार्य करता है। (1077)

(श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-405 भावार्थ में से)

* * *

जिस समय में सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक से भोगों की निर्गुणता ज्ञात होती है, अर्थात् भोग जरा भी गुणकारी नहीं, यह बात अचलरूप से हृदय पर अंकित हो जाती है, उस समय भोग और संसार से वैराग्य होता है। (1078)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, अधिकार-9, गाथा-27)

* * *

(आचार्य खेदपूर्वक कहते हैं कि) अरेरे! जो इस वस्तुस्वभाव के नियम को नहीं जानते, वे बेचारे, जिनका (पुरुषार्थरूप-पराक्रमरूप) तेज अज्ञान में डूब गया है, ऐसे कर्म को करते हैं, इसलिए भावकर्म का कर्ता चेतन ही स्वयं होता है, अन्य कोई नहीं। (1079)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-202)

* * *

जो वचन सन्देहरूप हो तथा पापरूप हो और दोषों से संयुक्त हो एवं ईर्ष्या को उत्पन्न करनेवाला हो, वह अन्य के पूछने पर भी नहीं कहना चाहिए तथा किसी प्रकार सुनना भी नहीं चाहिए। (1080)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-9, श्लोक-12)

* * *

जैसे कोई पुरुष तर्कबुद्धि से पानी और दूध को भिन्न-भिन्न स्वभाववाले जान लेता है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी पुरुष भी उत्तम ध्यान द्वारा जीव और अजीव का भेद

जान लेता है। (1081)

(श्री देवसेन आचार्य, तत्त्वसार, गाथा-24)

* * *

प्रश्न—इस जीव के रत्नत्रयगुण के लूटनेवाले कौन हैं ?

उत्तर—पाँच इन्द्रिय के विषय। (रत्नत्रयगुण के हरनेवाले हैं।) (1082)

(श्रीमद् राजर्षि अमोघवर्ष, रत्नमाला, श्लोक-7)

* * *

जैसे सूर्य घोर अन्धकार का नाश करता है, पवन बादलों को नष्ट करता है, अग्नि महा वन का नाश करती है, वज्र पर्वतों का नाश करता है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन कर्मों का नाश करता है। (1083)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, रयणसार, गाथा-52)

* * *

जैसे कोई वेश्यासक्त पुरुष अपना घन लुटता होने पर भी हर्ष मानता है, उसी प्रकार मिथ्यावेशियों द्वारा ठगाया हुआ जीव भी अपने धर्मरूपी निधि का नाश होने पर भी इस बात को जानता नहीं। (1084)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, श्लोक-5)

* * *

जो कोई भी मनुष्य विद्वान है, वे भी काम और धन के स्नेह में तत्पर रहते हुए इस संसार में मोहित हो जाते हैं, वह मिथ्याभाव की महिमा है। यह बड़े खेद की बात है। (1085)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-21)

* * *

मोक्षमार्ग तो एक वीतरागभाव है, इसलिए जिन शास्त्रों में किसी प्रकार से राग-द्वेष-मोहभाव का निषेध करके वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो, वे ही शास्त्र वाँचन-सुननेयोग्य है। (1086)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-1, पृष्ठ-15)

* * *

जीव के अपने उपार्जन किये हुए कर्म के अतिरिक्त कोई भी, किसी को भी कुछ

भी नहीं देता, ऐसा विचारकर अन्य देता है, ऐसी बुद्धि छोड़कर आत्मा द्वारा अपना अनन्यपना विचारना। (1087) (श्री अमितगति आचार्य, सामायिक पाठ, श्लोक-31)

* * *

भव-भव में मेरा सम्यग्दर्शन निर्मल रहो, भव-भव में मैं समाधि करूँ, भव-भव में ऋषि-मुनि मेरे गुरु हों और मन में उत्पन्न होती व्याधि का निग्रह हो। (1088)
(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-210)

* * *

भलीभाँति शास्त्रों को पढ़कर भी अभव्य प्रकृति को (प्रकृति स्वभाव को) नहीं छोड़ता, जैसे शक्करवाला दूध पीते हुए भी सर्प निर्विष नहीं होते। (1089)
(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-317)

* * *

जो प्राणी कषायों के आताप से जल रहे हैं, वही विषयरूपी विष से मूर्छित हैं तथा जो अनिष्ट संयोग और इष्ट वियोग से दुःखित हैं, उनके लिये यह सम्यग्दर्शन परम हितकारी है। (1090)
(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-38)

* * *

जो तीव्र मिथ्यादृष्टि है, उसे धर्म का निमित्त मिले तो भी धर्मबुद्धि नहीं होती तथा जो दृढ़श्रद्धानी है, उसे पाप का निमित्त मिलने पर भी पापबुद्धि नहीं होती, परन्तु भोले जीवों को ही जैसे निमित्त मिलें, वैसे परिणाम होते हैं। (1091)
(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-28 भावार्थ)

* * *

भयंकर मगरमच्छ आदि जलचर प्राणी जिसके अन्दर उछल रहे हैं और भयानक वडवाग्नि जिसके अन्दर बसती है, ऐसे भयंकर सागर के मध्य आ पड़े हुए जहाज के मनुष्य भी आपके स्मरण से निर्भयरूप से जोखिम बिना तिरकर पार हो सकते हैं। (1092)
(श्री मानतुंग आचार्य, भक्तामरस्तोत्र, श्लोक-44)

* * *

रोग और जरा आदिरूप विकार वास्तव में मेरे नहीं, वे तो शरीर के विकार हैं और मैं उस शरीर से सम्बद्ध होने पर भी वास्तव में उससे सर्वथा भिन्न हूँ। ठीक है—विकार उत्पन्न करनेवाले बादलों के साथ आकाश का मिलाप होने पर भी उसमें किसी प्रकार का विकारभाव उत्पन्न नहीं होता। (1093)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, सद्बोध चन्द्रोदय, श्लोक-23)

* * *

क्षीर और नीर मिले हुए होने पर भी, हंस स्वभाव से ही बिना परिश्रम के क्षीर को ही पीता है; उसी प्रकार सज्जन ज्ञानी हंस शास्त्र समुद्र में से भेदज्ञान द्वारा केवल आत्मा के सद्गुणों को ही ग्रहण करता है। (1094)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक श्लोक-56)

* * *

अनादिकाल से आत्मा के पीछे पिशाच की भाँति लग रहे क्रोधादि प्रबल शत्रु तप के प्रभाव से तत्काल जीते जा सकते हैं और प्राण के बदले में भी न प्राप्त हों ऐसे दुष्प्राप्य सम्यक् गुण शीघ्र प्रगट होते हैं तथा भावि में मोक्षपुरुषार्थ की स्वयमेव सिद्धि प्राप्त होती है तो वह अनन्त आताप को शीघ्र संहारनेवाले तप में कौन विवेकी पुरुष नहीं रमेगा? रमेगा ही। विवेकी और कल्याण के पिपासु आत्माओं के लिये तप, वह एक आनन्ददायक क्रीड़ावन है, वहाँ खेद या क्लेश किसका होगा? (1095)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-114)

* * *

....क्योंकि सर्वज्ञदेव समस्त (शुभ तथा अशुभ) कर्म को अविशेषरूप से बन्ध का साधन कहते हैं, इसलिए (ऐसा सिद्ध हुआ कि सर्वज्ञदेवों ने) समस्त कर्म का निषेध किया है और ज्ञान को ही मोक्ष का कारण फरमाया है। (1096)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-103)

* * *

निर्दय पुरुषों के द्वारा चलाये हुए वचनरूप शस्त्र इस पृथ्वीतल पर जीवों के मर्म को तीक्ष्ण शस्त्रों के समान तत्काल छेदन करते हैं, क्योंकि असत्य वचन के समान

दूसरा कोई भी शस्त्र नहीं है। (1097)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-9, श्लोक-26)

* * *

जो कितने ही राजा भृकुटि की वक्रता से ही शत्रुओं को जीत लेते हैं, उनके भी वक्षस्थल में जिसने दृढ़ता से बाण का आघात किया है, ऐसे वे पराक्रमी कामदेवरूप सुभट को जिन शान्त मुनियों ने शस्त्र बिना ही सहजता से जीत लिया है, उन मुनियों को नमस्कार हो। (1098)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, ब्रह्मचर्य रक्षावर्ति, श्लोक-1)

* * *

प्रश्न—स्व और पर को ठगनेवाला कौन है ?

उत्तर— माया—छलकपट (वह आत्मवंचिका है)। (1099)

(अपरा प्रश्नोत्तर रत्नमालिका, गाथा-11)

* * *

जैसे खाज के रोग से पीड़ित हुआ पुरुष आसक्त बनकर खुजलाने लगता है, पीड़ा न होती हो तो वह किसलिए खुजलावे ? उसी प्रकार इन्द्रियरोग से पीड़ित इन्द्रादिक देव आसक्त बनकर विषयसेवन करते हैं। पीड़ा न हो तो वे किसलिए विषयसेवन करें ? (1100) (श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-3, पृष्ठ-51)

* * *

सत्पुरुषों की संगति से उत्पन्न हुआ मनुष्यों का विवेक मिथ्यात्वादि पर्वतों के ऊँचे शिखरों को खण्ड-खण्ड करने के लिये बज्र से अधिक अजेय है। (1101)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-15, श्लोक-24)

* * *

तिर्य्यचगति में जीव को घात होना, बँधना इत्यादि बहुत दुःख सहन किये हैं। (वे) करोड़ों जीभ से नहीं कहे जा सकते और बहुत बुरे परिणामों से मरण प्राप्त कर (जीव) भयानक नरकरूपी समुद्र में जा पड़ा। (1102)

(पण्डित दौलतरामजी, छहढाला, ढाल-1, श्लोक-8)

* * *

निश्चय से नित्य रहनेवाला द्रव्य, किस अनित्य पर्याय से भिन्न है? और क्षण-क्षण में नष्ट होनेवाली कौन सी पर्याय, नित्य द्रव्य से भिन्न है? इस जगत में नित्य रहनेवाला द्रव्य, क्षण-क्षण में नष्ट होनेवाली पर्यायरूप स्व-अंश बिना होता नहीं और क्षण-क्षण में नष्ट होनेवाला अंश, द्रव्य बिना होता नहीं। (1103)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, लघुतत्त्व स्फोट, स्तुति-18, श्लोक-8)

* * *

जिनेन्द्र भगवान के गुणरूपी रत्नों का महा भण्डार पाकर भी मिथ्यात्व क्यों न जाये?—यह महान आश्चर्य है। अथवा, निधान पाने पर भी कृपण पुरुष तो दरिद्र ही रहता है—इसमें क्या आश्चर्य है? (1104)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-25)

* * *

बुद्धिमानों को सदा सुखदायी सत्संगति ही करना योग्य है, उसी से ही गुणरहित पुरुष भी महानपने को प्राप्त हो जाता है। (1105)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-270)

* * *

जीव, कर्मोदय से निरन्तर अपने सर्व प्रदेशों में व्याकुल ही रहता है। जैसे अग्नि के योग से अपने सम्पूर्ण अवयवों में उकलता हुआ जल स्पर्श करने से उष्ण मालूम पड़ता है। (1106)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-247)

* * *

विषय-कषाय से विरक्त होकर मिथ्यादृष्टि जो फल प्राप्त करता है, उससे लाखगुना फल विषय संयुक्त सम्यग्दृष्टि सहज ही प्राप्त करता है—ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। (1107)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, रयणसार, गाथा-74)

* * *

जो भव्यजीव अज्ञान से भवसंसार में फँसकर अनेक प्रकार के झंझटों से प्रतिदिन दुःखों का शिकार बनता था, वह आज अपने सत्य स्वरूप का साक्षात्कार होने से आनन्दसमुद्र में विहर रहा है। (1108)

(श्री नेमीश्वर-वचनामृत शतक, श्लोक-18)

* * *

जिसे मन, निर्धनता, वही धन है; मृत्यु, वही जीवन है और ज्ञान, वही नेत्र है—
ऐसे सत्पुरुषों को विधि अर्थात् कर्म क्या कर सकते हैं ? अर्थात् कर्म ऐसे धीरपुरुषों के
लिये व्यर्थ हैं। (1109) (श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-162)

* * *

जैसे विषय-सेवनरूपी विष विषयलुब्ध जीवों को विष-दुःख देनेवाला है, वैसे
ही घोर तीव्र स्थावर-जंगम सब ही विष प्राणियों का विनाश करते हैं, तथापि इन सब
विषों में विषयों का विष उत्कृष्ट है, तीव्र है। (1110)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, शीलपाहुड, गाथा-21)

* * *

जो वीतरागी मुनिराज अत्यन्त तीक्ष्ण सम्यग्ज्ञान अर्थात् भेदविज्ञानरूपी छैनी
डालकर अन्तरंग में भेद करके इस आत्मा के वास्तविक स्वरूप को वर्ण, रस, गन्ध तथा
स्पर्शरूप द्रव्यकर्म से और राग-द्वेषादिरूप भावकर्म से भिन्न करके अपने आत्मा में
अपने लिये आत्मा द्वारा आत्मा को स्वयं अपने से ग्रहण करते हैं, तब गुण-गुणी, ज्ञाता-
ज्ञान का आत्मा में किंचित् भी विकल्प नहीं रहता। (1111)

(पण्डित दौलतरामजी, छहढाला, ढाल-6, श्लोक-8)

* * *

जो धर्मात्मा दाताओं से दिये जानेवाले दोष रहित भोजनमात्र को ग्रहण करके भी
लज्जा को पाता है, वह संयमधारी यति क्या संयम को नाश करनेवाले परिग्रह को ग्रहण
करेगा ? (कदापि नहीं)। (1112) (श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-104)

* * *

हे नाथ! जिस प्रकार सूर्य की किरणों से तीन जगत में व्याप्त भँवरे समान काला
अन्धकार नष्ट हो जाता है, तत्प्रमाण आपकी स्तुति करने से जन्मोजन्म में एकत्रित हुए
जीवों के पाप क्षणभर में नाश हो जाते हैं। (1113)

(श्री मानतुंग आचार्य, भक्तामरस्तोत्र, श्लोक-7)

* * *

अज्ञानी जीव फूल की माला, स्त्री, चन्दन इत्यादि का तथा उनके कारणभूत
दान-पूजादि को हित समझते हैं और सर्प, विष, कंटक इत्यादि को अहित समझते हैं।

सम्यग्ज्ञानी जीव अक्षय अनन्त सुख को तथा उसके कारणभूत निश्चयरत्नत्रयपरिणत परमात्मद्रव्य को हित समझते हैं, और आकुलता के उत्पादक ऐसे दुःख को तथा उसके कारणभूत मिथ्यात्व-रागादिपरिणत आत्मद्रव्य को अहित समझते हैं। (1114)

(श्री जयसेन आचार्य, पंचास्तिकाय टीका, गाथा-125)

* * *

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से विभूषित पुरुष जो तप आदि अन्य गुणों में मन्द भी हो तो भी वह सिद्धि का पात्र है अर्थात् उसे सिद्धि प्राप्त होती है। उससे विपरीत जो रत्नत्रय रहित पुरुष अन्य गुणों में महान भी हो तो वह कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। ठीक ही है—स्पष्ट रीति से मार्ग से परिचित मनुष्य जो चलने में मन्द भी हो तो भी वह धीरे-धीरे चलकर इच्छित स्थान में पहुँच जाता है, परन्तु उससे विपरीत जो अन्य मनुष्य मार्ग से अजान है, वह चलने में बहुत शीघ्रता से हो तो भी इच्छित स्थान में पहुँच नहीं सकता। (1115)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अधिकार-1, श्लोक-74)

* * *

जो अविनाशी आत्मा को शरीर से भिन्न जानता नहीं, वह घोर तपश्चरण करने पर भी मोक्ष प्राप्त नहीं करता। (1116) (श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-33)

* * *

....जो जीव भोगों में मग्न रहता है, वह मिथ्यात्वी है और जो भोगों से विरक्त है, वह सम्यग्दृष्टि है। ऐसा जानकर भोगों से विरक्त होकर मोक्ष का साधन करो! यदि मन पवित्र हो तो कथरोट के पानी में नहाना, वही गंगास्नान समान है और मन मिथ्यात्व, विषय-कषाय आदि से मलिन है तो गंगा आदि करोड़ों तीर्थों के स्थान से भी आत्मा में पवित्रता नहीं आती। (1117) (श्री बनारसीदासजी, नाटक-समयसार, बन्धद्वार, पद-12)

* * *

वचन की शुद्धि सत्य बोलने से है। मन की शुद्धि तत्त्वज्ञान से है। काय की शुद्धि गुरु की सेवा में है। यह अनादि काल की सनातन शुद्धि है। (1118)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-317)

* * *

जिनकी भौंह के कटाक्षों के प्रारम्भ मात्र से ब्रह्मलोक पर्यन्त का यह जगत भयभीत हो जाता है, तथा जिनके चरणों के गुरुभार के कारण पृथ्वी के दबनेमात्र से पर्वत तत्काल खण्ड-खण्ड हो जाते हैं, ऐसे-ऐसे सुभटों को भी, जिनकी कि अब कहानी मात्र ही सुनने में आती है, इस काल ने खा लिया है। फिर यह हीनबुद्धि जीव अपने जीने की बड़ी भारी आशा रखता है, यह कैसी बड़ी भूल है! (1119)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, अशरण भावना, सर्ग-2, श्लोक-15)

* * *

जीव अनादि का अविद्या में लग रहा है, मोह की अत्यन्त निबिड गाँठ पड़ी है, इसलिए स्वपद की भूल हुई है, भेदज्ञान अमृतरस पीवे, तब अनन्त गुणधाम—अभिराम की अनन्त शक्ति की अनन्त महिमा प्रगट करे, वह इस समस्त कथन का मूल है। (1120)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-92)

* * *

मन्दकषायरूप परिणमित जीव पुण्य को बाँधता है, इसलिए पुण्यबन्धन का कारण मन्दकषाय है, परन्तु वाँछा, पुण्यबन्ध का कारण नहीं है। पुण्यबन्ध मन्दकषाय से होता है और उसकी वाँछा है, वह तो तीव्रकषाय है; इसलिए वाँछा करना नहीं। निर्वाँछक पुरुष को पुण्यबन्ध होता है। लौकिक में भी कहते हैं कि जो चाहना करता है, उसे कुछ मिलता नहीं और चाह रहित को बहुत मिलता है, इसलिए वाँछा का तो निषेध ही है। (1121)

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-412)

* * *

निज शुद्धात्मा के दर्शन में जो अनन्त अद्भुत सुख मुनि-अवस्था में जिनेश्वरदेवों के होता है, वह सुख वीतरागभाव को परिणत हुए मुनिराज निज शुद्धात्म स्वभाव को तथा रागादि रहित शान्त भाव को जानता हुआ पाता है। (1122)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-118)

* * *

दानयोग्य सम्पत्ति होने पर भी और पात्र भी अपने घर के समीप आने पर भी जिस मनुष्य की बुद्धि दान के लिये उत्साहित नहीं होती, वह दुर्बुद्धि खान में से प्राप्त हुए

अतिशय मूल्यवान रत्न को छोड़कर पृथ्वी का तल व्यर्थ खोदता है। (1123)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, दान अधिकार, श्लोक-34)

* * *

सर्व से उत्कृष्ट स्तुति और निन्दा के योग्य परिसीमा को दो ही मनुष्य प्राप्त करते हैं, एक तो चक्रवर्तीपना छोड़कर आत्मकल्याण साध्य करने की इच्छा से वास्तव्य तप को अंगीकार करते हैं वे, और दूसरा तपादि संयम दशा को विषयों की आशा से छोड़ते हैं, वे। (1124)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-164)

* * *

मुनि हुआ वह तो बड़ा कार्य किया, तेरा यश लोक में प्रसिद्ध हुआ, परन्तु भली भावना अर्थात् शुद्धात्मतत्त्व के अभ्यास के बिना तपश्चरणादि करके स्वर्ग में देव भी हुआ तो वहाँ भी विषयों का लोभी होकर मानसिक दुःख से ही तसायमान हुआ। (1125)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड़, गाथा-12)

* * *

जो बात अज्ञानी मानता है, वह बात तो सर्व लोक मानते ही हैं। परन्तु जो बात जिनदेव ही मानते हैं, वह बात तो कोई विरला ही मानता है। (1126)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-146)

* * *

ध्यान करने का जिसका मन है, ऐसे साधु के लिये समस्त लोक ध्यान के अवलम्बन से भरपूर है। वीतरागी होकर जिस-जिस वस्तु को देखता है, वह-वह वस्तु ध्यान का आलम्बन है। समस्त विषय-कषाय का निग्रह करके परम साम्यभाव प्राप्त करने के लिये ध्यान किया जाता है। वीतरागी मुनि को समस्त पदार्थ में साम्यभाव प्रगट होता है, इसलिए वीतरागी मुनि को सब ही पदार्थ ध्यान का विषय है। (1127)

(श्री शिवकोटी आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-1874)

* * *

संसार में सर्वत्र उत्पन्न हुए जीवों को उनके द्वारा पूर्वभव में किया गया पुण्य-पाप ही सुख अथवा दुःख देता है। उसे रोकना शक्य नहीं है। प्राणियों को उनका भाग्य द्वीप

में, समुद्र में, पर्वत के शिखर पर, दिशाओं के अन्त में और कूप में भी गिरे रत्न को मिला देता है। इस संसार में पुण्यशाली जीवों की विपदा भी सम्पदा बन जाती है और पापकर्म के उदय से सम्पदा भी विपदा बन जाती है। (1128)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-358-359-360)

* * *

मनुष्य प्राणी की दुर्लभता और उत्तमता के कारण विधिरूप मन्त्री ने उसकी अनेक प्रकार से रक्षा की। दुष्ट परिणामी नर्क के जीवों को आधोभाग में रखा, देवों को ऊर्ध्वभाग में रखा, लोक के चारों ओर अनेक महान अलंघ्य समुद्र तथा उनके चारों ओर धनोदधि, घन और तनु, इन नाम के तीन पवन से लपेटकर विस्तीर्ण कोट कर रखा और बीच में पूर्ण यत्न से मनुष्य-प्राणी को रखा। इतना-इतना विधि का पूर्ण जाप्ता, तथापि मनुष्य प्राणी मरण से नहीं बचा। अहो! यमराज अत्यन्त अलंघ्य है। (1129)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-75)

* * *

परजीवों को व्यवहारज्ञान की वृद्धि के लिये धर्मोपदेश देना, उसमें भी पर के उपदेश के बहाने से मुख्यताकर अपना जीव ही को सम्बोधना। वह इस तरह है कि पर को उपदेश देने से अपने को समझाता है। जो मार्ग दूसरों को छुड़ावे, वह आप कैसे करे? इससे मुख्य सम्बोधन अपना ही है। परजीवों को ऐसा ही उपदेश है, जो यह बात मेरे मन में अच्छी नहीं लगती, तो तुमको भी भली नहीं लगती होगी, तुम भी अपने मन में विचार करो। (1130)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-83)

* * *

भय से शीघ्रतापूर्वक भागनेवाले समस्त जनसमूह द्वारा जिसका मार्ग छोड़ दिया जाता है, ऐसा वज्र पड़ने पर भी जो मुनि समाधि से विचलित नहीं होते, वे ज्ञानरूपी दीपक द्वारा अज्ञानरूपी घोर अन्धकार का नाश करनेवाले सम्यग्दृष्टि मुनि क्या बाकी के परीषह आने पर विचलित हो सकते हैं? कभी नहीं। (1131)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अधिकार-1, श्लोक-63)

* * *

यह प्राणी, धन-यौवन-जीवन जल के बुदबुदे के समान तुरन्त विलय पा जाते होने पर भी उन्हें नित्य मानता है, यही महा आश्चर्य है—यही मोह का महा बलवान माहात्म्य है।

हे भव्य जीव! तू समस्त विषयों को विनाशीक सुनकर महामोह को छोड़कर तेरे अन्तःकरण को विषयों से रहित कर। जिससे तू उत्तम सुख को प्राप्त हो। (1132)
(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-21-22)

* * *

हे नाथ! दुःख में या सुख में, बैरी के प्रति या बन्धुवर्ग के प्रति, संयोग में या वियोग में, घर में या जंगल में, सम्पूर्ण ममत्वबुद्धि दूर होकर मेरा मन सदा समभावी रहो। (1133)
(श्री अमितगति आचार्य, सामायिक पाठ, श्लोक-4)

* * *

अहंकार या घमण्ड निश्चय से लोगों का नाश करनेवाला है, उससे उन्नति नहीं होती है। जैसे जब दीपक बुझने लगता है, तब उसकी लौ बढ़ जाती है। (1134)
(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-294)

* * *

विनय जिनशासन का मूल है। विनय से संयम, तप और ज्ञान की वृद्धि होती है। जो जीव विनय से रहित है, उसका धर्म और तप व्यर्थ है। (1135)
(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, षट्-आवश्यक अधिकार, गाथा-104)

* * *

सुख आदिरूप 'मैं सुखी हूँ—मैं दुःखी हूँ' इत्यादि 'अहं' प्रत्यक्षगोचर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से जीव का अस्तित्व ज्ञात होता है क्योंकि जो जीव नहीं, वह स्वसंवेदन प्रत्यक्षवाला भी नहीं, जैसे सुप्रसिद्ध घट। (1136)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-5)

* * *

जो चक्षु शुद्धभाव से आत्मज्ञानोपयोगी पदार्थों को देखने को सन्मुख होती है, संसार मार्ग से विरक्तपने जहाँ चक्षु का उपयोग होता है, वही यथार्थ चक्षुदर्शन है, यदि

शरीर और शरीर सम्बन्धी विषयभोगों में चक्षु रागी है तो चक्षुदर्शनावरण कर्म का बन्ध होता है। (1137)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-359)

* * *

जिस प्रकार अभेद स्वरूप से अग्नि में उष्णता रहती है, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान है। इस प्रकार की प्रतीति का नाम शुद्ध सम्यग्दर्शन है और उसी प्रकार से जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है। इन दोनों के साथ उक्त आत्मा के स्वरूप में स्थित होने का नाम सम्यक्चारित्र है। (1138)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, निश्चय पंचाशत, श्लोक-14)

* * *

अहो देवों! अनेक मुनिगणों ने संसार से भयभीत होकर प्रबल (तीव्र) तपादिक से उदय में आकर समस्त कर्मों को शीघ्र ही नष्ट कर दिया, वे कर्म यदि उपसर्गादि के निमित्त से अपनी स्थिति पूरी करके स्वयं उदय में आते हैं तो अमूल्य मोक्षसुख की सिद्धि के लिये उद्यम करनेवाले धीरपुरुषों को मनोभिलाषापूर्वक क्या उपसर्गादि नहीं सहना चाहिए? अर्थात् अवश्य ही सहने चाहिए। क्योंकि जिन कर्मों को तीव्र तप करके नष्ट करना है, वे स्वयं स्थिति पूर्ण करके उदय में आये हैं, तो उनका फल सह लेने से सहज ही में उनकी निर्जरा हो जाती है। सो यह तो उत्तम लाभ है। सो हर्षपूर्वक सहना चाहिए। तभी मोक्षसिद्धि का उद्यम सफल हो सकता है। (1140)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-19, श्लोक-47)

* * *

साधुओं के लिये जो कर्म संसार का बढ़ानेवाला है, उसे शीघ्र उदय में लाकर छेदना उचित है, तब फिर अपने आप ही उदय में आये हुए इस कर्म को नाश करने में क्या परिश्रम है? या क्या कठिनता है? बलवान विजय को चाहनेवाला पुरुष जा करके जिस शत्रु को बलपूर्वक मारता है, वह शत्रु यदि अपने आप ही घर में आ गया, तब बुद्धिमान बिना मारे नहीं छोड़ते। (1141)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-91)

* * *

अब संसार को छेद करनेवाली उस बोधि को पाकर बुद्धिमान को एक क्षणमात्र भी प्रमाद करना उचित नहीं है। (1142)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-298)

* * *

इस संसार में जैसे पाषाण को आधार हो तो वहाँ बहुत काल रहता है, परन्तु निराधार आकाश में तो कदाचित् किञ्चित्मात्र काल रहता है, उसी प्रकार यह जीव एकेन्द्रिय पर्याय में तो बहुत काल रहता है, परन्तु अन्य पर्याय में तो कदाचित् किञ्चित्मात्र काल रहता है। (1143)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-3, पृष्ठ-68)

* * *

आत्मा को छोड़कर ज्ञानियों को अन्य वस्तु अच्छी नहीं लगती, इसलिए परमात्मपदार्थ को जाननेवालों का मन विषयों में नहीं लगता। (1144)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-77)

* * *

जैसे म्लेच्छभाषा म्लेच्छों को वस्तुस्वरूप बतलाती है, उसी प्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवों को परमार्थ का कहनेवाला है, इसलिए अपरमार्थभूत होने पर भी, धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिये (व्यवहारनय) दर्शाना न्यायसंगत ही है। (1145)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-46)

* * *

हे जिनेन्द्र! चर्ममय नेत्र से भी आपके दर्शन होने पर जो महान हर्ष उत्पन्न होता है, वह तीन लोक में समाता नहीं तो फिर ज्ञानरूप नेत्र से आपके दर्शन होने पर कितना आनन्द प्राप्त होता है, वह हम नहीं जानते। (1146)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, ऋषभस्तोत्र, श्लोक-3)

* * *

हे बहिरात्मन्! तू क्रोध, मान, मोह आदि दुर्भावों को तो दण्डित नहीं करता अर्थात् क्रोधादि भावों का दमन नहीं करता और व्रत, तपश्चरण आदि द्वारा मात्र शरीर

को ही दण्डता है, परन्तु उससे तेरे कर्मों का नाश कदापि नहीं होता। क्योंकि सर्प के बिल को मारने से सर्प नहीं मरता। (1147) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, रयणसार, गाथा-70)

* * *

संसार की मनवांछित भोग-विलास की सामग्री अस्थिर है, वह अनेक प्रयत्न करने पर भी स्थिर नहीं रहती। इसी प्रकार विषय-अभिलाषाओं के भाव भी अनित्य हैं, भोग और भोग की इच्छाएँ, इन दोनों में एकता नहीं और नाशवन्त है, इसलिए ज्ञानियों को भोगों की अभिलाषा ही उपजती नहीं। ऐसे भ्रमपूर्ण कार्यों को तो मूर्ख ही इच्छते हैं, ज्ञानी तो सदा सावधान रहते हैं—परपदार्थों में स्नेह नहीं करते, इसलिए ज्ञानियों को वांछा रहित ही कहा है। (1148)

(पण्डित बनारसीदासजी, नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पद-33)

* * *

मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यादर्शन के कारण से मानता है कि मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं गरीब, मैं राजा, मेरे रुपये-पैसे, मेरा घर, गाय, भैंस आदि हैं। और मेरी सन्तान, मेरी स्त्री, मैं बलवान, मैं निर्बल, मैं कुरूप, मैं सुन्दर, मैं मूर्ख और मैं चतुर हूँ। (1149)

(पण्डित दौलतरामजी, छहढाला, ढाल-2, श्लोक-4)

* * *

प्रश्न—इस संसार में सारभूत वस्तु कौन सी है? (इस संसार में सारभूत तत्त्व क्या है?)

उत्तर—बहुत-बहुत विचार करके यह निश्चय किया है कि जहाँ सम्पूर्ण तत्त्व दिखायी दिया हो तथा जहाँ स्व-पर के हित के लिये सदा तत्पर रहना हो, ऐसा मनुष्य का जन्म सारभूत तत्त्व है। (1150) (श्रीमद् राजर्षि अमोघवर्य, रत्नमाला, श्लोक-6)

* * *

कोई ऐसा जानता है कि आज के समय में स्वरूप कठिन है, वह स्वरूप की चाह मिटानेवाला बहिरात्मा है। आज से अधिक परिग्रह चौथे काल के पुण्यवन्त नर चक्रवर्ती आदिक, उन्हें था और इसे तो थोड़ा है। यह परिग्रह बलजोरी से इसके

परिणामों में आता नहीं। स्वयं ही दौड़-दौड़कर परिग्रह में झुकता है। जब फुरसत हो तब विकथा करता है; तब स्वरूप के परिणाम करे तो कौन रोकता है? परपरिणाम सुगम, निजपरिणाम विषम बताता है, देखो अचरज की बात! स्वयं देखता है—जानता है, तथापि देखा नहीं जाता, जाना नहीं जाता, ऐसा कहते हुए लज्जा भी नहीं आती? संसार चातुर्य का चतुर, अपने को जानने में शठ, ऐसी हठ-धीठता पकड़-पकड़कर ही पररत व्यसन में गाढ़ बना। स्वभावशुद्धि विसारकर भारी भवबन्धन करके अन्ध बनकर, अन्ध धन्ध में धाया, स्वयं को पहिचाना नहीं। (1151)

(श्री अनुभवप्रकाश, दीपचन्द्रजी, पृष्ठ-57)

* * *

जैसे लोधर, फिटकरी, इत्यादि से जो कषायित नहीं किया गया हो, ऐसे वस्त्र में रंग का संयोग, वस्त्र द्वारा अंगीकार नहीं किया हुआ, बाहर ही लौटता है—अन्दर प्रवेश नहीं करता; उसी प्रकार ज्ञानी रागरूप रस से रहित होने से उसे कर्म परिग्रहपने को धारता नहीं। (1152)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-148)

* * *

इस संसाररूपी उग्र मरुस्थल में दुःखरूप अग्नि से तप्तमान जीवों का यह सत्यार्थ ज्ञान ही अमृतरूप जल से तृप्त करने को समर्थ है। भावार्थ—संसार के दुःख मिटाने को सम्यग्ज्ञान ही समर्थ है। (1153)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-7, श्लोक-12)

* * *

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में केवल मोक्ष पुरुषार्थ ही समीचीन (बाधारहित) सुखयुक्त होकर सदा स्थिर रहता है। बाकी के तीन पुरुषार्थ उससे विपरीत (अस्थिर) स्वभाववाले हैं। इसलिए वे मुमुक्षुजनों को छोड़नेयोग्य हैं। इसलिए जो धर्म पुरुषार्थ उपयुक्त मोक्ष पुरुषार्थ का साधक होता है, वह भी अपने को इष्ट है, परन्तु जो धर्म केवल भोगादि का ही कारण होता है, उसे विद्वान पाप ही समझते हैं। (1154)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, देशव्रत उद्योतन, श्लोक-25)

* * *

दर्शनविशुद्धि इत्यादि १६ प्रकार के भाव, बारह प्रकार की अध्रुव आदि वैराग्य अनुप्रेक्षायें और पार रहित परीषहों का विजय तब ही सम्भव है कि जब अपने में निजात्मतत्त्व का साक्षात्कार हुआ हो—उसके बिना यह सब असम्भव जानो। (1155)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-43)

* * *

जिस प्रकार सरोवर का जल स्थिर होने से अन्दर पड़ा हुआ रत्न निश्चय से दिखता है, उसी प्रकार मनरूपी जल स्थिर होने से निर्मलभाव में अपना आत्मा दिखता है (अनुभव में आता है)। इन्द्रियों के विषयों से रहित निर्मल वीतरागस्वभाववाला ऐसा अपना आत्मतत्त्व देखने में (अनुभवने में) आता है, तब क्षणार्ध में (आधे क्षण में) योगी को देवत्व-सर्वज्ञत्व प्रगट होता है। (1156)

(श्री देवसेनाचार्य, तत्त्वसार, गाथा-41-42)

* * *

निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन और चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही संवर और योग (—समाधि, ध्यान) है। (1157)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-277)

* * *

धीरज जिसका पिता है, क्षमा जिसकी माता है, परमार्थ जिसका मित्र है, तत्त्वरुचि जिसकी मौसी है, ज्ञान सुपुत्र है, करुणा पुत्री है, मति पुत्रवधू है, समता जिसकी सखी है, उद्यम दास है, विवेक बन्धु है, बुद्धि पत्नी है, पुण्योदय जिसकी दासी है—ऐसा भावकुटुम्ब जिसके पास है, वैसे सद्गुणवन्त को सच्चे गृहवासी कहते हैं। (1158)

(श्री बनारसीदासजी, बनारसी विलास, सवैया-23)

* * *

एक ओर दिव्य चिन्तामणि है और दूसरी ओर खली का (खल का) टुकड़ा है; यदि ध्यान द्वारा दोनों प्राप्त हो सकते हैं तो विवेकीजन किसका आदर करेंगे? (1159)

(श्री पूज्यपादस्वामी, इष्टोपदेश, गाथा-20)

* * *

श्रुत के दो भेद हैं :—एक अंगश्रुत तथा दूसरा बाह्यश्रुत, उसमें अंगश्रुत बारह प्रकार का श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है तथा बाह्यश्रुत के अनन्त भेद कहे हैं, परन्तु इन दोनों श्रुत में ज्ञान-दर्शनवाला आत्मा ही ग्राह्य (—ग्रहण करनेयोग्य) कहा है और उससे भिन्न समस्त पदार्थ हेय (त्यागनेयोग्य) कहे हैं। (1160)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-126)

* * *

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीवों! तुम इस सम्यग्दर्शनरूपी अमृत को पीओ। यह सम्यग्दर्शन अनुपम सुख का भण्डार है। सर्व कल्याण का बीज है। इस संसारसमुद्र से तिरने के लिये यह जहाज है। एक भव्य जीव ही उसे पा सकते हैं। पापरूपी वृक्ष को काटने के लिये यह कुल्हाड़ी समान है। पवित्र तीर्थों में यही प्रधान तीर्थ है और मिथ्यात्व का यह हनन करनेवाला है। (1161)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-6, गाथा-59)

* * *

जैसे रत्नों में प्रवर (श्रेष्ठ) उत्तम वज्र (हीरा) है और जैसे तरुगण (बड़े वृक्ष) में उत्तम गोसीर (बावन चन्दन) है, वैसे ही धर्मों में उत्तम भाविभवमथन (आगामी संसार का मथन करनेवाला) जिनधर्म है, इससे मोक्ष होता है। (1162)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड, गाथा-82)

* * *

अभिमानरूपी विष को उपशान्त करने के लिये अरिहन्तदेव का तथा निर्ग्रन्थ गुरु का स्तवन किया जाता है, गुण गाये जाते हैं, परन्तु अरेरे! उनसे भी यदि कोई मान पोषण करे, तो वह बड़ा अभागी है। (1163)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-144)

* * *

जो जीव द्रव्य से निवृत्त है, वह व्यवहारियों द्वारा पूजा को प्राप्त होता है। जो जीव भाव से निवृत्त है, वह मुमुक्षुओं द्वारा पूजा को प्राप्त होता है। (1164)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, संवर अधिकार, गाथा-56)

* * *

धनादि की वृद्धि और निर्धनावस्था का नाश करनेवाले जीवों को लोग चतुर कहते हैं। तथा निर्धनावस्था की वृद्धि और धनादि का नाश होने से उसे मूर्खों में गिनते हैं। लोगों की उपरोक्त मान्यता अत्यन्त भूल भरी है, क्योंकि वह तो पूर्वोपार्जित शुभाशुभ प्रारब्धोदय से होता है। सर्व जीवों को ऐसी हानि-वृद्धि तथारूप प्रारब्धोदय द्वारा स्वयमेव हो रही है। ऐसी हानि-वृद्धि में जीव का कुछ भी अविशेष और विशेषता नहीं है। (1165)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-148)

* * *

जो सर्वज्ञ के भी वचन में सन्देह करके अपनी बुद्धि से तत्त्व के विषय में अन्यथा कुछ कल्पना करता है, वह अज्ञानी पुरुष निर्मल नेत्रोंवाले पुरुष द्वारा देखे गये आकाश में विहरते पक्षियों की संख्या बावत में विवाद करनेवाले अन्ध के समान आचरण करता है। (1166)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अधिकार-1, श्लोक-125)

* * *

यह आत्मा स्वयं साक्षात् गुणरूपी रत्नों का भरा हुआ समुद्र है तथा यही आत्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सबके हितरूप है, समस्त पदार्थों में व्याप्त है, परमेष्ठी (परमपद में स्थित) है और निरंजन है अर्थात् जिसके किसी प्रकार की कालिमा नहीं है। (1167)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्व-21, श्लोक-1)

* * *

जैसे गरीब मनुष्य को एक फूटी हुई कोड़ी भी सम्पत्ति समान प्रिय लगती है। उल्लू को सन्ध्या ही सवेरे के समान इष्ट लगती है, कुत्ते को उल्टी ही दही समान रुचिकर होती है, कौवे को नीम की निंबोली द्राक्ष समान प्रिय होती है, बालकों को लौकिक वार्ताएँ (गप्पें) ही शास्त्र की भाँति रुचिकर लगते हैं, हिंसक मनुष्य को हिंसा में ही धर्म दिखता है; उसी प्रकार मूर्ख को पुण्यबन्ध ही मोक्ष समान प्रिय लगता है। (1168)

(श्री बनारसीदासजी, बन्ध द्वार, पद-21)

* * *

हे प्रभाकर ! जो ध्यान करता हुआ निज शुद्धात्मा के अवलोकन में अत्यन्त सुख

तू पा सकता है, वह सुख तीन लोक में भी परमात्मद्रव्य के सिवाय नहीं है। (1169)
(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-116)

* * *

जो जीव अपने माता-पिता, पुत्र, मित्र, कलत्र इनको छोड़कर पर के घर और पुत्रादिक में मोह करते हैं अर्थात् अपना परिवार छोड़कर शिष्य—शाखाओं में राग करते हैं, वे भुजाओं से समुद्र को तैरके गाय के खुर से बने हुए गड्ढे के जल में डुबते हैं। कैसा है समुद्र ? जिसमें जलचरों का समूह प्रगट है, ऐसे अथाह समुद्र को तो बाहों से तिर जाता है, लेकिन गाय के खुर के जल में डूबता है, यह बड़ा अचम्भा है। घर का ही सम्बन्ध छोड़ दिया तो पराये पुत्रों से क्या राग करना ? नहीं करना। (1170)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-91)

* * *

जीव के परिणाम का कर्म के साथ कारण-कार्यभाव है, कर्म और चेतन (जीवात्मा) में यह कार्य-कारणभाव कभी विद्यमान नहीं है। (1171)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, अधिकार-3, गाथा-10)

* * *

जिस प्रकार रत्नाकर अर्थात् समुद्र में अनेक रत्न होते हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञ वीतराग प्रवचनरूप समुद्र में परमात्मा के नामरूपी अनेक रत्नों के समूह भरपूर विद्यमान हैं। उसमें से अच्छी तरह परीक्षा करके सर्व में उत्तम और अमूल्य ऐसा यह शुद्ध चिद्रूप नाम का रत्न मैंने ग्रहण किया है। (1172)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अधिकार-4, गाथा-9)

* * *

जगत में दो ही पदार्थ हैं, दैव और पुरुषार्थ। सो दैव ही प्रबल है, जो पुरुषार्थ का गर्व करते हैं, उनको धिक्कार ! जो पुरुषार्थ ही प्रबल हो तो मैं वासुदेव नग्न तलवार समान तेजस्वी, मेरे पुत्र को शत्रु कैसे ले जाये ? (1173)

(प्रद्युम्न हरण के प्रसंग में प्रवाहित श्रीकृष्ण के उद्गार,
श्री हरिवंश पुराण, पृष्ठ-437)

* * *

तरह-तरह के आरम्भों में लीन बड़े-बड़े मनुष्यों के द्वारा एकत्र करके कठिनता से प्राप्त करनेयोग्य ऐसा भी जो परिग्रह प्राणों के वियोग होने पर तिनके समान छोड़ देना पड़ता है। परन्तु तू दुःखों को उत्पन्न करनेवाले उस परिग्रह को पहले ही दूर से मन, वचन, काया से छोड़ दे। तू अपने चित्त को विष्टा में पड़े हुए लड्डू को उठाकर फिर फेंककर हंसी का स्थान मत बन। (1174)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-59)

* * *

आचार्य कहते हैं कि जो अत्यन्त दुःखदायक है, मानो यम का भाई है, जिससे स्वर्ग, मध्य और पाताला—तीन लोक के जीवों के तन-मन काँपा करते हैं, ऐसे असाताकर्म के उदय में अज्ञानी जीव निराश हो जाता है। परन्तु ज्ञानी जीव के हृदय में ज्ञान का प्रकाश है, वह आत्मबल से बलवान है, उसका ज्ञानरूपी शरीर अविनाशी है, वह परम पवित्र है और सात भय से रहित निःशंकरूप से वर्तता है। (1175)

(पण्डित बनारसीदासजी, नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पद-46)

* * *

जहाँ अभ्यन्तर चित्त मलिन है, वहाँ बाहर के तप से क्या फायदा? इसलिए हे भव्य! चित्त में कोई ऐसे निरंजन तत्त्व को धारण कर—कि जिससे उस मैल से मुक्त हो जाये। (1176)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-61)

* * *

इस जगत में जो आत्मा निर्मल सम्यग्दर्शन में अपनी बुद्धि निश्चल रखता है, वह कदाचित् पूर्व के पापकर्म के उदय से दुःखित भी हो और अकेला भी हो तो भी वास्तव में प्रशंसनीय होता है और इससे उल्टा, जो जीव अत्यन्त आनन्द को देनेवाले ऐसे सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से बाह्य है और मिथ्यामार्ग में स्थित है, ऐसे मिथ्यादृष्टि मनुष्य भले बहुत हों और वर्तमान में शुभकर्म के उदय से प्रसन्न हों तो भी वे प्रशंसनीय नहीं हैं। इसलिए भव्यजीवों को सम्यग्दर्शन धारण करने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। (1177)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, देशव्रतोद्योतन, श्लोक-2)

* * *

श्री जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्दर्शन के प्रकाश का, माहात्म्य वर्णन किया है। सम्यग्दर्शन का उदय ही मोक्ष के साधन सहित है अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन के प्रकाश में ही रमण करना चाहिए। वही साधन है। उसी के उपाय से आत्मारूपी कमल का विकास होता है। (1178)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-2, पृष्ठ-76)

* * *

यद्यपि कर्मरूपी कीचड़ अत्यन्त निर्मल ऐसे मेरे आत्मा को बहुत मलिन करता है तो भी मुझे कुछ भय नहीं, क्योंकि निश्चय से स्व-पर का भेदज्ञान करनेवाला ज्ञानरूपी कतकफल मेरे पास मौजूद है। (1179)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, निश्चय पंचाशत, गाथा-21)

* * *

चिन्तामणि रत्न के समान अभिलषित पदार्थों को देकर धर्म की प्रभावना करनेवाला, बुद्धिमानों के द्वारा पूज्य धन्य पुरुष इस संसार में दुर्लभ है। जैनशासन की प्रभावना करने में जिसकी रुचि प्रवर्तमान है, मानो मुक्ति उसके हाथ में ही स्थित है, ऐसा जिनागम में कहा जाता है। (1180)

(श्री गुणभद्राचार्य, महापुराण, भाग-2, पृष्ठ-557, षटसप्ततितम पर्व, श्लोक-421-422)

* * *

यह प्राणी शुभ के उदय में सम्पदा को भोगता है, वह सम्पदा प्रचण्ड पुरुष के प्रताप का उल्लंघन करनेवाली है, जब सुख का क्षय होता है, तब आपदा को भजता है, इसलिए भव्यजन सम्पत्ति-विपत्ति दोनों समान जानकर मोक्ष का कारण जो जिनभाषित निर्मल तप, उसे आदर से करना। (1181)

(श्री हरिवंश पुराण, पृष्ठ-509)

* * *

प्रश्न—पण्डित कौन है?—कि जो विवेकी है वह। (1182)

(इस प्रश्नोत्तर का अवतरण परमात्मप्रकाश अध्याय-1, गाथा-14 की टीका में उद्धृत किया है।

श्रीमद् राजर्षि अमोघवर्य, रत्नमाला, श्लोक-5)

* * *

साधर्मीजन में और पूज्य पुरुषों में कर्मोदयवश कोई दोष ज्ञात हो तो उसे छुपावे—उपदेशादिक से वह दोष छुड़ावे, परन्तु ऐसा न करे कि जिससे उसकी और धर्म की निन्दा हो। धर्म तथा धर्मात्माओं में से दोष का अभाव करना, वहाँ छुपाना, वह भी अभाव करने तुल्य है अर्थात् जिसे लोक न जाने, वह अभाव-बराबर ही है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को उपगूहनगुण होता है। (1183)

(श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-418)

* * *

जो धन पात्रों के उपयोग में आता है, उसे ही बुद्धिमान मनुष्य श्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि वह अनन्तगुना सुख का देनेवाला होकर परलोक में फिर से भी प्राप्त हो जाता है। परन्तु उससे विपरीत जो धनवान का धन भोग के निमित्त से नष्ट होता है, वह निश्चय से नष्ट ही हो जाता है अर्थात् दानजनित पुण्य के अभाव में वह फिर से कभी प्राप्त नहीं होता। इसलिए ही गृहस्थों को समस्त सम्पत्तियों के लाभ का उत्कृष्ट फल दान में ही प्राप्त होता है। (1184)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, देशव्रत उद्योतन, श्लोक-15)

* * *

किसी ने मुझे मारा और यदि मैं रोष नहीं करूँ तो मारनेवाले की तो हानि हुई अर्थात् पापबन्ध हुआ, परन्तु मेरे आत्मा के अर्थ की सिद्धि हुई अर्थात् पाप नहीं बँधा किन्तु पूर्व के किये पापों की निर्जरा हुई, इसमें कोई सन्देह नहीं है। और मेरे कदाचित् रोष उपजे तो मेरी द्विगुण हानि हो। अर्थात् एक तो पापबन्ध हो, दूसरे पूर्व कर्मों की निर्जरा नहीं हो। इत्यादि विचार करे। (1185)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-19, श्लोक-33)

* * *

बहुत क्या कहें! जैसे रागादिक मिटाने का श्रद्धान हो, वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, जैसे रागादिक मिटाने का जानना हो, वही जानना सम्यग्ज्ञान है, तथा जैसे रागादिक मिटें, वही आचरण सम्यक्चारित्र है और ऐसा ही मोक्षमार्ग माननायोग्य है। (1186)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-7, पृष्ठ-218)

* * *

आत्मा के विभ्रम से उत्पन्न हुआ दुःख आत्मज्ञान से शान्त होता है। उसमें अर्थात् भेदज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप की प्राप्ति करने में जो प्रयत्न नहीं करते, वे उत्कृष्ट—दुर्द्धर तप करने पर भी निर्वाण को प्राप्त नहीं करते। (1187)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-41)

* * *

मन्दकषायरूप उपशमभाव, शास्त्राभ्यासरूप ज्ञान, पाप के त्यागरूप चारित्र और अनशनादिरूप तप—इनका जो महत्त्व है, वह सम्यक्त्वसहितपने के कारण से है। सम्यक्त्व बिना यह सब पत्थर की भाँति भाररूप है। यही उपशम आदि भाव सम्यक्त्व सहित हो तो महामणि समान पूजनीय हो जाते हैं। (1188)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-15)

* * *

जीव अन्तिम—नौवें ग्रैवेयक तक के पद अनन्त बार पाया, तथापि सम्यग्ज्ञान को प्राप्त नहीं हुआ; ऐसे दुर्लभ सम्यग्ज्ञान को मुनियों ने अपने आत्मा में धारण किया है। (1189)

(पण्डित दौलतरामजी, छहढाला, ढाल-5, श्लोक-13)

* * *

हे जीव! तू बहुत पढ़ा... पढ़-पढ़कर तालवा भी सूख गया, तथापि तू मूर्ख ही रहा। उसकी अपेक्षा तो इस एक ही अक्षर को पढ़ कि जिससे शिवपुरी में गमन हो। (1190)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-97)

* * *

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि को जानपना तो एक समान होता है, तथापि सम्यक्पना और मिथ्यात्पना नाम किसलिए प्राप्त हुआ ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि को मूलभूत जीवादि पदार्थों की खबर है, इसलिए जितने उत्तर पदार्थ (विशेष पदार्थ) जानने में आते हैं, उन सबको यथार्थरूप से साधता है, इसलिए सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को सम्यक् रूप कहा है। मिथ्यादृष्टि को मूल पदार्थों की खबर नहीं, इसलिए जितने उत्तर पदार्थ जानने में आते हैं, उन सर्व को भी अयथार्थरूप

साधता है, इसलिए मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को मिथ्यारूप कहते हैं। (1191)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्धि उपाय, श्लोक-35)

* * *

दीपक बिना लोग चाहे जितना प्रयत्न करें तो भी घर में भरे हुए अन्धकार को टाल नहीं सकते, परन्तु एक छोटी सी वाट सुलगाने से तत्क्षण वही अन्धकार दूर हो जाता है; उसी प्रकार ज्ञानप्रकाश द्वारा ही अज्ञान-अन्धकार दूर होता है, दूसरे किसी उपाय से नहीं। (1192)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, दोहा-89)

* * *

परमेश्वर तो वीतराग हैं। भक्ति करने से प्रसन्न होकर वे कुछ करते नहीं, परन्तु भक्ति करने से जो मन्द कषाय होती है, उसका स्वयं ही उत्तम फल होता है, अब करणानुयोग के अभ्यास में उससे (भक्ति से) भी अधिक मन्द कषाय हो सकती है, इसलिए उसका फल अति उत्तम होता है। और व्रत-दानादिक तो कषाय घटाने के बाह्य निमित्त—साधन हैं और करणानुयोग का अभ्यास करने से वहाँ उपयोग जुड़ जाये, तब रागादिक दूर होते हैं, इसलिए वह अन्तरंग निमित्त साधन है इसलिए वह विशेष कार्यकारी है। (1193)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-8, पृष्ठ-292)

* * *

जैसे दृढ़ नौका में बैठे हुए मनुष्य को विस्तीर्ण नदी में जल बढ़ने पर भी यात्रा करने से भय नहीं होता, उसी प्रकार जो पुरुष शरीर के क्षणिक और अपवित्र स्वभाव को तथाप्रकार से समझा है, तथा वास्तविक आत्मशान्ति का किसी अंश में अनुभव हुआ है, वह पुरुष रोगादि की वृद्धि में भी खेद को प्राप्त नहीं होता। (1194)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-204)

* * *

जैसे परदेश में स्थित कोई रामादिक पुरुष अपनी प्यारी सीता आदि स्त्री के पास से आये हुए किसी मनुष्य से बातें करता है—उसका सम्मान करता है और दान करता है, ये सब कारण अपनी प्रिया के हैं, कुछ उसके प्रसाद के कारण नहीं हैं। उसी तरह

भरत, सगर, राम, पाण्डवादि महान पुरुष वीतराग परमानन्द एकरूप मोक्ष-लक्ष्मी के सुख अमृतरस के प्यासे हुए संसार की स्थिति के छेदने के लिये विषयकषायकर उत्पन्न हुए आर्तरौद्र खोटे ध्यानों के नाश का कारण श्री पंच परमेष्ठी के गुणों का स्मरण करते हैं और दान-पूजादिक करते हैं, परन्तु उनकी दृष्टि केवल निजपरिणति पर है, परवस्तु पर नहीं है। पंच परमेष्ठी की भक्ति आदि शुभक्रिया को परिणत हुए जो भरत आदिक हैं, उनके बिना चाहे पुण्यप्रकृति का आस्रव होता है, जैसे किसान की दृष्टि अन्न पर है, तृण-भूसादि पर नहीं है। बिना चाहा पुण्य का बन्ध सहज में ही हो जाता है। वह उनको संसार में नहीं भटका सकता है। वे तो शिवपुरी के ही पात्र हैं। (1195)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-61)

* * *

जो विनयरहित है, उसका आगम-अभ्यास व्यर्थ है। विनय शास्त्र अभ्यास का फल है। पुण्योदयजन्य सांसारिक सुख तथा मोक्षसुख विनय का ही फल है अथवा गर्भकल्याण, जन्मकल्याण, दीक्षाकल्याण, केवलकल्याण और मोक्षकल्याण—ऐसे पाँच कल्याणक जीव को विनय से ही प्राप्त होते हैं। (1196)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव मूलाचार, पंचाचार अधिकार, गाथा-211)

* * *

सर्व रत्नों में भी महारत्न सम्यक्त्व है, वस्तु की सिद्धि करने के उपायरूप सर्व योग, मन्त्र, ध्यान आदि में (सम्यक्त्व) उत्तम योग है, क्योंकि सम्यक्त्व से मोक्ष सधता है। अणिमादि ऋद्धियों में भी (सम्यक्त्व) महान ऋद्धि है। बहुत क्या कहें? सर्व सिद्धि करनेवाला यह सम्यक्त्व ही है। (1197) (श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-325)

* * *

जिसे अन्य कोई भी प्रयोजन की अपेक्षा—आवश्यकता मिट गयी है, मात्र गुण-दोष में ही ग्रहण-त्याग वर्तता है, वही पुरुष आत्मज्ञानियों में प्रधान-श्रेष्ठ है। (1198)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-145)

* * *

हे सरस्वती-जिनवाणी माता! तुम्हारे बिना यह मनुष्य आँखों सहित होने पर भी

विद्वानों द्वारा अन्ध ही गिना जाता है। इसलिए तीन लोक के प्राणियों को यथार्थ तत्त्व का दर्शन कराने में तुम अनुपम नेत्र समान हो। (1199)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, श्रुतदेवता स्तुति, श्लोक-15)

* * *

गूंगापन, बुद्धि की विकलता, मूर्खता, अज्ञानता, बधिरता तथा मुख में रोग होना इत्यादि जो सब ही जीवों के होते हैं, वे असत्य वचन बोलने के पाप ही से होते हैं।

(1200)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-9, श्लोक-34)

* * *

मैं दूसरों से—अध्यापकादि से जो कुछ भी सीखनेयोग्य हूँ तथा दूसरों को—शिष्यादि को मैं जो कुछ भी सिखाऊँ, वह मेरी उन्मत्त (पागल) चेष्टा है, क्योंकि (वास्तव में) मैं निर्विकल्पक अर्थात् वचन-विकल्पों से अग्राह्य हूँ। (1201)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-19)

* * *

जिनेन्द्र भगवान का अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाला और दुःसाध्य नयचक्र धारण करने में आने पर मिथ्याज्ञानी पुरुषों के मस्तक को शीघ्र ही खण्ड-खण्ड कर देता है। (1202)

(श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव, पुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा-59)

* * *

हे भाई! यदि अपनी शक्ति की हीनता के कारण से तू तपश्चरण नहीं करता, विशेष नहीं पढ़ता अथवा नहीं विचारता, तथा नहीं दान करता, तो भले न कर सके, परन्तु एक सर्वज्ञ वीतरागदेव की श्रद्धा तो दृढ़ रख; क्योंकि जो कार्य करने के लिये अकेले अरिहन्त भगवान समर्थ हैं, वह कार्य करने को तपश्चरणादि कोई भी समर्थ नहीं है। (1203)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, श्लोक-2)

* * *

सम्यग्दृष्टि जीव अनेक प्रकार के कर्म के उदयफल भोगते हैं, परन्तु अभ्यन्तर शुद्धस्वरूप को अनुभवते हैं, इसलिए कर्म के उदयफल में रति उत्पन्न नहीं होती,

उपाधि जानते हैं, दुःख जानते हैं; इसलिए अत्यन्त रूखा है, ऐसे जीव को कर्म का बन्ध नहीं होता, वह रूखे परिणामों का सामर्थ्य है, ऐसा जानो। (1204)

(श्री राजमलजी, कलश टीका, कलश-134)

* * *

जिनके हृदय में अनुभव का सत्य सूर्य प्रकाशित हुआ है और सुबुद्धिरूप किरणें फैलकर मिथ्यात्व का अन्धकार नष्ट करते हैं; जिन्हें सच्चे श्रद्धान में राग-द्वेष के साथ सम्बन्ध नहीं, समता के प्रति जिन्हें प्रेम है और ममता के प्रति द्वेष है, जिनकी दृष्टि मात्र से मोक्षमार्ग सधता है और जो कायक्लेश आदि बिना मन आदि योगों का निग्रह करते हैं, उन सम्यग्ज्ञानी जीवों को विषय-भोग भी समाधि है, हिलना-चलना वह योग अथवा आसन है और बोलना-चलना, वही मौनव्रत है। (1205)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, श्लोक-29)

* * *

काम और धन हमेशा निर्मल ध्यान के रोकनेवाले हैं, महान दुष्ट हैं, आत्मा के बैरी हैं, उन दोनों को छोड़ देना चाहिए, तब मानवों को सुख पैदा होता है। (1206)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-109)

* * *

जिस प्रकार दावानल द्वारा सूखे और हरे वृक्ष जल जाते हैं, उसी प्रकार ध्यान के प्रक्रमण से—प्रज्वलन से, पक्के-कच्चे कर्मों का समूह भस्म हो जाता है। (1207)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, निर्जरा अधिकार, गाथा-3)

* * *

हे देवी! जब तेरी लक्ष्मी की स्तुति करते हुए श्रुतकेवली भी यह स्वीकार करते हैं कि 'हम स्तुति करने में असमर्थ हैं', तो फिर मेरे जैसे अल्पज्ञ मनुष्य जो तेरे विषय में 'जय' अर्थात् 'तू जयवन्त हो'—ऐसे दो अक्षर कहते हैं, उसे भी साहस ही समझना चाहिए। (1208)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, श्रुतदेवता स्तुति, श्लोक-4)

* * *

काल के निमित्त से यह पुद्गल स्वयं आते हैं, स्वयं जाते हैं, स्वयं मिलते हैं,

स्वयं बिखरते हैं, अपनेआप पुद्गल जुड़कर बढ़ते हैं, अपने आप पुद्गल पृथक् पड़कर घट जाते हैं। देखो! यह पुद्गल का भी अपने पुद्गल की जाति के साथ तो सम्बन्ध है। 'परन्तु इस जीव को ये पुद्गल भी तीन काल में कभी भी स्पर्श नहीं, पुद्गल अपने आप ही खेलते हैं।' (1209) (श्री दीपचन्द्रजी, आत्मावलोकन, पृष्ठ-103)

* * *

हे मन! तेरे द्वारा जो अनेक प्रकार के भोग, भोग-भोग करके छोड़े जा चुके हैं, अहो! बड़े खेद की बात है कि तू बार-बार उन ही की इच्छा करता है, वे भोग तेरी इच्छा में अग्नि डालने के समान हैं, अर्थात् तृष्णा को बढ़ानेवाले हैं। तृष्णा की बुद्धि को रखनेवाला ऐसा तू जो है, सो तेरी तृप्ति उन भोगों से कभी भी नहीं हो सकती है। जैसे कड़ी धूप से तसायमान स्थान में या आग में तपाये हुए स्थान में किस तरह बेल उग सकती है? (1210) (श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-61)

* * *

तीव्र तृषा, तीव्र क्षुधा, तीव्र रोग इत्यादि से पीड़ित प्राणी को देखकर अज्ञानी जीव 'किसी भी प्रकार से मैं इसका प्रतिकार करूँ' ऐसे व्याकुल होकर अनुकम्पा करता है। ज्ञानी को तो स्वात्मभावना को नहीं प्राप्त करता हुआ (अर्थात् निजात्मा की अनुभव की उपलब्धि न होती हो तब), संक्लेश के परित्याग द्वारा (—अशुभभाव को छोड़कर) यथासम्भव प्रतिकार करता है तथा उसे दुःखी देखकर विशेष संवेग और वैराग्य की भावना करता है। (1211) (श्री जयसेन आचार्य, पंचास्तिकाय टीका, गाथा-137)

* * *

बुद्धिमानों को सदा ही प्रथम सम्यग्दर्शन का उपदेश करना चाहिए। यह सम्यग्दर्शन आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। दर्शन-ज्ञानमयी अविनाशी निश्चल आत्मा का गुण सम्यग्दर्शन है। (1212) (श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-175)

* * *

अचेतन अनुपयोगी जड़ देखता नहीं, जानता नहीं, यह तो प्रसिद्ध है। यदि शरीर देखता-जानता हो तो जीव गत्यान्तर हो, तब शरीर क्यों नहीं देखता? इसलिए इस

देखने-जानने द्वारा अपने को चेतनरूप प्रत्यक्ष निश्चय करके, स्वरूप को चेतन मानकर, अचेतन का अभिमान तजना, वह मोक्ष का मूल है। (1213)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-94)

* * *

गुरु वह है जो गुप्त आध्यात्मिक तत्त्व का उपदेश देते हों, गुरु वह है जिनका आत्मा शुद्ध स्वभावधारी वीतराग है। गुरु में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्रधानता है। जो दर्शनमोह के उदय से अन्धा है, वह कुगुरु को गुरु मान लेता है। (1214)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-182)

* * *

यहाँ सोम नाम के राजश्रेष्ठी कहते हैं कि—हे भगवान! यह व्रतादि संवर के कारणों में संवर-अनुप्रेक्षा ही सारभूत है, वही संवर करेगी, तो फिर विशेष विस्तार से क्या लाभ? भगवान नेमिचन्द्र आचार्य कहते हैं—त्रिगुप्ति लक्षणवाली निर्विकल्पसमाधि में स्थित मुनियों को उससे ही (संवर-अनुप्रेक्षा से ही) संवर हो जाता है, परन्तु उसमें असमर्थ जीवों को अनेक प्रकार से संवर का प्रतिपक्षी ऐसा मोह उत्पन्न होता है, इस कारण से आचार्य व्रतादि का विस्तारकथन करते हैं। (1215)

(श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव, बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35)

* * *

हे भगवान! तुम्हारे जो स्तोत्र के विषय में इन्द्र अशक्त है, ईश्वर (महादेव) अनीश्वर (असमर्थ) है तथा धरणेन्द्र भी असमर्थ है; उस तेरे स्तोत्र के विषय में मैं निर्बुद्धि कवि (किस प्रकार) समर्थ हो सकता हूँ? अर्थात् नहीं हो सकता, इसलिए क्षमा करो। (1216)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, ऋषभस्तोत्र, श्लोक-59)

* * *

जिसका आत्मा सत्पुरुषों के संसर्गरूपी अमृत के झरने से आर्द्र (भीगा हुआ-गीला) रहता है, उन पुरुषों को ही भोग सुलभ होते हैं और उनके ही उन प्राप्त हुए भोगों में तृष्णा की निवृत्ति (निस्पृहता) होती है। (1217)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-15, श्लोक-20)

* * *

जिसने वस्तु के यथार्थ स्वरूप को परिचयरूप किया है, ऐसे मुनियों ने जब आत्मा और शरीर के एकत्व को नय के विभाग की युक्ति द्वारा जड़मूल से उखाड़ दिया है—अत्यन्त निषेध किया है, तब किस पुरुष का ज्ञान तत्काल यथार्थपने को न पावे? अवश्य पावे ही। कैसा होकर? अपने निजरस के वेग से खिंचकर प्रगट होता हुआ एकस्वरूप होकर। (1218) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-28)

* * *

ज्ञानियों की कर्म से उत्पन्न होनेवाली क्रिया बन्ध के निमित्तरूप नहीं होती, वह तो दूर रहो अर्थात् उसमें तो कोई आश्चर्य नहीं, परन्तु आश्चर्य तो यह है कि उनकी जितनी कोई क्रिया है, वह सर्व क्रिया पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा के ही निमित्तरूप होती है। (1219) (श्री राजमलजी, पंचाध्यायी उत्तरार्ध, गाथा-230)

* * *

इस लोक में नित्य चन्द्र-सूर्य के भ्रमणवत्, गंगा नदी के प्रवाह के बहाव की भाँति, व्यवहार-काल की गति की भाँति, द्रव्य के पर्याय की भाँति, लोक के नीचे धनवात, तनवात इत्यादि पवनों के निरन्तर गमनों की भाँति, (सरोवर में) कमल आदि की निरन्तर उत्पत्ति हुआ करती है, उसी प्रकार आश्चर्यकारक शुद्ध आत्मा का निरन्तर स्मरण, मुझे मोक्षरूप परम कल्याण की प्राप्ति के लिये (कल्याणप्रद) होओ। (1220) (श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अधिकार-6, गाथा-5)

* * *

कामवेदना बड़ा भारी रोग है, सदा ही इसका इलाज कठिन है, संसार को बढ़ाने में अतिशयरूप है और सांसारिक दुःखों को उत्पन्न करता ही रहता है, ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है। (1221) (श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-93)

* * *

यहाँ उपदेश करते हैं कि हे भव्य! हे भाई! यहाँ संसार के जो दुःख बतलाये, उनका अनुभव तुझे होता है या नहीं? तू जो उपाय कर रहा है, उनका मिथ्यापन दर्शाया, वह ऐसा ही है या नहीं? तथा सिद्ध अवस्था प्राप्त होने पर ही सुख होता है, यह बात

बराबर है या नहीं? यह सब विचार! यदि ऊपर कहे अनुसार ही तुझे प्रतीति आती हो तो संसार से छूटकर सिद्ध अवस्था प्राप्त करने का हम जो उपाय कहते हैं, वह कर! विलम्ब न कर! यह उपाय करने से तेरा कल्याण ही होगा! (1222)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-3, पृष्ठ-79)

* * *

जिन्हें क्रोधादि विकारभाव विद्यमान हैं, वे क्या देव हो सकते हैं? अर्थात् वे कदापि देव नहीं हो सकते। जहाँ प्राणियों के सम्बन्ध में दया मुख्य नहीं, उसे क्या धर्म कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता। जिसमें सम्यग्ज्ञान नहीं तो वह क्या तप और गुरु हो सकते हैं? नहीं हो सकते। जिस सम्पत्ति में से पात्रों को दान नहीं दिया जाता, वह सम्पत्ति क्या सफल हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। (1223)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, दान अधिकार, श्लोक-18)

* * *

हे जीव! जो सभी जीवों को एक स्वभाववाले नहीं जानता, उस अज्ञानी के समभाव नहीं रहता, जो समभाव संसार—सागर को तैरने को नाव के समान है। (1224)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-105)

* * *

आत्मा और कर्म के बीच भेदज्ञान की दृढ़ रेखा लगानी चाहिए, अर्थात् जैसा पढ़ा, वैसा करना चाहिए और चित्त को जहाँ-तहाँ भ्रमित नहीं करना चाहिए, ऐसा करे उसे आत्मा में से कर्म दूर हो जाते हैं। (1225)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-83)

* * *

प्रश्न—बुद्धिमान पुरुष को किससे डरना चाहिए?

उत्तर—बुद्धिमान पुरुष को संसाररूपी भयंकर अटवी से (कि जहाँ जन्म-मरण के भयंकर दुःख सहने पड़ते हैं, उससे) डरना चाहिए। (1226)

(श्रीमद् राजर्षि अमोघवर्ष, रत्नमाला, श्लोक-22)

* * *

हे नाथ! जिसके पैर से सिर तक पूरा शरीर बड़ी-बड़ी लोहे की साँकलों से बहुत मजबूत जकड़ा गया है तथा कठोर, तीक्ष्ण बेड़ियों से जिसकी जंघा बहुत घिस रही है, ऐसे लोग भी आपके नामरूपी पवित्र मन्त्र का निरन्तर स्मरण करने से बहुत शीघ्रता से इस बन्धन के भय से मुक्त हो जाते हैं। (1227)

(श्री मानतुंग आचार्य, भक्तामरस्तोत्र, श्लोक-46)

* * *

जब सम्यग्दर्शन के होते ही आत्मज्ञान का अंकुर प्रगट होता है, तब ही हितकारी आत्मज्ञान के स्थान उदय होकर बढ़ने लगते हैं, अर्थात् जैसे अंकुर से वृक्ष बढ़ता है, वैसे सम्यक्त्वसहित सम्यग्ज्ञान से आत्मज्ञान का वृक्ष बढ़ता जाता है। आत्मज्ञान की गुफा में रहना ही गुप्ति है। जहाँ मन, वचन, काय तीनों का निरोध है। इस आत्मानुभवरूपी गुफा के भीतर से उठकर ज्ञान का प्रकाश फैलता जाता है अर्थात् आत्मानुभव से ही केवलज्ञान होता है। (1228)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-2, पृष्ठ-20)

* * *

हे प्रभाकर भट्ट! आगे कहे जानेवाले नय के भेद से आत्मा सर्वगत भी है, आत्मा जड़ भी है, ऐसा जानो, आत्मा को देह के बराबर भी मानो, आत्मा को शून्य भी जानो, नयविभाग से मानने में कोई दोष नहीं है, ऐसा तात्पर्य है। (1229)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-51)

* * *

जगत में अज्ञानी मनुष्य भी अपने को अहितकारी वस्तुओं में प्रेम नहीं धराते। जो विषय भोगादि में फँस रहे हैं, वैसे विषयादि में फँस रहे मनुष्य भी जिन वस्तुओं को अहितकारी समझते हैं, उन्हें तुरन्त ही छोड़ देते हैं, देखो! स्त्री, वह उन्हें अत्यन्त प्रिय वस्तु है परन्तु यदि एक बार जानने में आवे कि यह स्त्री मुझे छोड़कर किसी अन्य को चाहती है, अन्य से रमती है, तो उसी समय उसे वह छोड़ देता है। परन्तु तू तो विषयों की भयंकरता साक्षात् अनुभव कर चुका है, एक बार नहीं परन्तु बारम्बार अनेक भवों में यही कड़वा अनुभव करता आया है, तो भी उससे तू विरक्तचित्त नहीं होता? भोजन में विष है, ऐसा मालूम पड़ने के पश्चात् कौन विवेकी मनुष्य उसे ग्रहण करे? विषय,

वह विषय भी भयंकर दुःखप्रद है, तथापि तू उसी विषयफन्द में पड़ना चाहता है ?
(1230) (श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-192)

* * *

इस संसाररूपी रंगभूमि पर यह जीव नाना प्रकार के शरीररूप वेश धारण कर नट की तरह नाट्य लीला करता है। जिस प्रकार रंगभूमि में नट अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र पात्रों के रूप धारण कर उन्हीं जैसी चेष्टा करता है और दर्शक लोगों को वास्तविक की-सी भ्रान्ति करा देता है, उसी प्रकार यह जीव भी जन्म-मरणरूप इस संसार रंगभूमि पर मनुष्य, तिर्यच, नरक, देव इन गतियों में नाना प्रकार की एकेन्द्रियादि जातियों में जन्म लेकर नाना प्रकार की शुभ-अशुभभावरूप चेष्ट करता हुआ अपने पूर्वोपार्जित नाना प्रकार के कर्मों का सुख-दुःख फल भोगता हुआ भ्रमण करता है, जब जिस पर्याय को धारण करता है, उस समय उससे तन्मय होकर, मैं उस पर्यायरूप ही हूँ, ऐसा भ्रम से मानता है। (1231)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-252)

* * *

हे आत्मन्! जो तुझे संसार के चक्र में डालते हैं, वे तेरे बाँधव (हितैषी) नहीं हैं, किन्तु जो मुनिगण (गुरु महाराज) तेरे हित की वाँछा करके बन्धुता करते हैं अर्थात् हित का उपदेश करते हैं, स्वर्ग तथा मोक्ष का मार्ग बताते हैं, वे ही वास्तव में तेरे सच्चे और परम मित्र हैं। (1232)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-2, श्लोक-22)

* * *

जिस मनुष्य के पास तीनों लोक को वशीभूत करने के लिये अद्वितीय वशीकरणमन्त्र समान दान और व्रत आदि से उत्पन्न हुआ धर्म विद्यमान हो तो ऐसे कौन से गुण हैं, जो उसके वश नहीं हो सकते ? वह कौन सा सुख है, जो उसे प्राप्त नहीं हो सकता ? और ऐसी कौन सी विभूति है जो उसके आधीन नहीं होती हो ? अर्थात् धर्मात्मा मनुष्य को सर्व प्रकार के गुण, उत्तम सुख और अनुपम विभूति भी स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। (1233)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, दान अधिकार, श्लोक-19)

* * *

जो गृहस्थ, मुनि, शुद्ध चिद्रूप के लक्षण को नहीं जानते, उन्हें पंच नमस्कार आदि स्मरण श्रेष्ठ है। (1234) (श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अधिकार-13, गाथा-12)

* * *

सूक्ष्मादि पदार्थ परोक्ष होने पर भी सम्यग्दृष्टियों के सम्यक्त्व का ऐसा कोई माहात्म्य है कि जिससे इस जगत का आस्तिक्यपूर्वक ज्ञान होता है। (1235)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, उत्तरार्द्ध, श्लोक-487)

* * *

तप, श्रुत (शास्त्र का ज्ञान), यम (महाव्रत), ज्ञान (बहुत जानना), ध्यान और दान करना तथा सत्य, शील, व्रतादिक जितने उत्तम कार्य हैं, उन सबकी माता एक अहिंसा ही है। अहिंसाव्रत के पालन बिना उपर्युक्त गुणों में से एक भी नहीं होता। इस कारण अहिंसा ही समस्त धर्मकार्यों की उत्पन्न करनेवाली माता है। (1236)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-8, श्लोक-42)

* * *

जिनवाणीरूप सूत्र का उल्लंघन करके उपदेश देनेवाले पुरुष भले क्षमादिक बहुत गुण तथा व्याकरणादि विद्याओं का स्थान हो, तथापि वे छोड़नेयोग्य हैं।—जैसे लोक में विषधर—सर्प श्रेष्ठ मणिसहित हो तो भी विघ्नकारी है, इसलिए छोड़नेयोग्य है।

(1237)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्तरत्नमाला, गाथा-18
—मोक्षमार्गप्रकाशक में यह गाथा उद्धृत की है, पृष्ठ-16)

* * *

महा मोहरूपी अन्धकार के समूह को जो लीलामात्र में नष्ट करता है और जगत के स्वरूप को प्रकाशित करता है, ऐसा अनेकान्तमय तेज सदा जयवन्त वर्तता है।

(1238)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, कलश-2)

* * *

देव-दानवों में और नरक-तिर्यच-मनुष्यों में, जिनेश्वर ने कहे हुए धर्म को छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ शुभ नहीं, ऐसा चिन्तवन करना चाहिए। जगत में धर्म के

बिना अन्य कोई भी शुभ नहीं, ऐसा हे मुनि! तू जान। (1239)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, अनुप्रेक्षा अधिकार, गाथा-35)

* * *

विषयों के लम्पटी मूर्ख लोगों ने इस मनुष्य जन्म को, जिससे स्वर्ग तथा मोक्ष की सिद्धि की जा सकती है, अल्प इन्द्रिय सुख के लिये खोकर अपने को तिर्यचगति और नरकगति में जाने के योग्य कर लिया। (1240)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-318)

* * *

समदर्शी होना समिति है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होकर समताभाव को पाना समिति है। आत्मा को परमात्मा के समान अनुभव करना समिति है। शुद्ध सम्यग्दर्शन के द्वारा आत्मा का अनुभव करना समिति है। (1241)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-614)

* * *

जैसे कोई पुरुष किञ्चित्मात्र भी अपना धन देना नहीं चाहता, परन्तु जहाँ बहुत द्रव्य जाता जाने, वहाँ इच्छापूर्वक अल्प द्रव्य देने का उपाय करता है; उसी प्रकार ज्ञानी किञ्चित्मात्र कषायरूप कार्य करना नहीं चाहता, परन्तु जहाँ बहुत कषायरूप अशुभ कार्य होता जाने, वहाँ इच्छा करके भी अल्प कषायरूप शुभकार्य करने का उद्यम करता है। (1242)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-7, पृष्ठ-211)

* * *

यह संसाररूपी वन दुःखरूपी अजगरों से भरा हुआ है, यहाँ अज्ञानरूपी अन्धकार फैला हुआ है। इस वन में दुर्गतिरूपी भीलों की तरफ ले जानेवाला खोटा मार्ग है। ऐसे वन में सर्व ही संसारी प्राणी भ्रमण किया करते हैं। परन्तु चतुर मनुष्य इसी वन के मध्य में गुरु के वचनरूपी दीपक को, जो निर्मल ज्ञान के प्रकाश से चमक रहा है, पाकर के सच्चे मार्ग को ढूँढकर अविनाशी आनन्दमयी पद को पहुँच जाता है। (1243)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अनित्य पंचाशत, श्लोक-17)

* * *

स्त्री का विश्वास करना वह बाघ का, विष का, चोर का, अग्नि का, जल का, मदोन्मत्त हाथी का, काले सर्प का तथा शत्रु का विश्वास करने के बराबर है। (1244)

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-951)

* * *

अपने पदयोग्य मान करता है। राजविरुद्ध, लोकविरुद्ध, धर्मविरुद्ध मान नहीं करता है, वह भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की योग्यता सहित करता है। और देव, गुरु, धर्मादिक के निकट अष्ट प्रकार मद नहीं करता है, चतुर्विधसंघ से मद नहीं करता है, वहाँ निर्मद होता है। और अपने पद को थामने में मान करता है, वहाँ प्राण जाने पर भी मान नहीं तजता है, बिना प्रयोजन किसी का मानभंग नहीं करता है, किसी से बिना प्रयोजन अदेख सका भाव नहीं रखता है इत्यादि अप्रत्याख्यान मानभाव जानना। (1245)

(श्री दीपचन्दजी, भावदीपिका, पृष्ठ-64)

* * *

जो कोई कठिन भारी आपत्ति को पा करके अपने भावों में विकार नहीं आने देते, वे मानव इस लोक में धन्य हैं। क्योंकि उनका मन साधुवृत्ति में आ गया है। (1246)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-166)

* * *

हे महायश! हे मुने! तूने पूर्वोक्त सब रोगों को पूर्वभवों में तो परवश सहे, इस प्रकार ही फिर सहेगा; बहुत कहने से क्या? भावार्थ—यह जीव पराधीन होकर सब दुःख सहता है। यदि ज्ञानभावना करे और दुःख आने पर उससे चलायमान न हो, इस तरह स्ववश होकर सहे तो कर्म का नाश कर मुक्त हो जावे, इस प्रकार जानना चाहिए।

(1247)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड, गाथा-38)

* * *

जिस प्रकार पवन के लगने से अग्नि भभक उठती है, उसी प्रकार बारह भावनाओं का चिन्तवन करने से समतारूपी सुख प्रगट होता है। जब जीव आत्मस्वरूप को जानता है, तब ही जीव मोक्षसुख को प्राप्त करता है। (1248)

(श्री दौलतरामजी, छहढाला, ढाल-5, श्लोक-2)

* * *

श्रीगुरु गुणों का ही उपदेश करते हैं। अपने आत्मज्ञानमयी स्वभाव से वे शुद्ध तत्त्व का ही उपदेश करते हैं। श्रीगुरु आकाश के समान निर्लेप और निर्मोही और निर्बाध हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश होते ही यकायक अन्धकार का नाश हो जाता है, वैसे श्रीगुरु के वचनों की किरणावली के प्रकाश होते ही भव्य जीवों के अज्ञान अन्धकार का नाश हो जाता है। (1249) (श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-17)

* * *

जो स्वजन सम्यक्त्व ज्ञानी धर्मात्मा हैं, वे तो ऐसा विचारते हैं, जो इनका बड़ा भाग्य जो सर्व कल्याणकारिणी यों जिनेश्वरी दीक्षा हम सरीखे कायरजन को अलभ्य और उसकी नाना भाँति स्तुति करते हैं, और आपको धिक्कार मानते हैं, हमारा ऐसा भाग्य कब होयगा, जो हम भी इस दशा को प्राप्त होयेंगे। और हमारा भी बड़ा भाग्य है, जो हमारे कुल में मुनिपद के धारक पुरुष हुए... (कोई सम्यग्दृष्टि दीक्षित होता है, तब उसके स्वजन समकिति उपरोक्त विचार करते हैं।) (1250)

(श्री दीपचन्द्रजी, भावदीपिका, पृष्ठ-168)

* * *

हे वत्स! विषय-कषायों को छोड़कर, मन को आत्मा में स्थिर कर, ऐसा करने से चार गति का चूरा करके तू अतुल परमात्मपद को प्राप्त करेगा। (1251)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-198)

* * *

हे मूढ प्राणी! यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि इस संसार में जो वस्तुओं का समूह, वह पर्यायों से क्षण-क्षण में नाश होनेवाला है। इस बात को तू जानकर भी अजान हो रहा है, यह तेरा क्या आग्रह है? क्या तुझ पर कोई पिशाच चढ़ गया है, जिसकी औषधि ही नहीं है? (1252) (श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-2, श्लोक-14)

* * *

एक मनुष्य के पास उत्तम पात्र को दिये हुए दान से उत्पन्न पुण्य का समूह है और दूसरे मनुष्य के पास राज्यलक्ष्मी विद्यमान है, तथापि प्रथम मनुष्य की अपेक्षा से द्वितीय

मनुष्य दरिद्र ही है, क्योंकि उसके पास आगामी काल में फल देनेवाला कुछ भी बाकी नहीं है। (1253) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, दान अधिकार, श्लोक-20)

* * *

भयंकर लाल आँखोंवाला मदोन्मत्त और कोयल के कण्ठ जैसा काला और क्रोध से ग्रसित ऐसा सर्प ऊँचा फण करके सामने आता हो, उसे भी, जिस मनुष्य के पास आपके नामरूपी नागदमनी औषधि होवे तो वह मनुष्य निःशंकरूप से उसे उल्लंघ जाता है। ऐसा सर्प भी आपके भक्त को काट नहीं सकता। (1254)

(श्री मानतुंग आचार्य, भक्तामरस्तोत्र, श्लोक-41)

* * *

तृष्णा की आग से पीड़ित मन अतिशय करके जला करता है। सन्तोषरूपी जल के बिना उस जलन को शमन नहीं किया जा सकता। (1255)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-245)

* * *

प्रश्न—अवधीरणा (निन्दा, अवहेलना—अवज्ञा, उपेक्षा) कहाँ करना ?

उत्तर—दुष्ट पुरुष, परस्त्री और परधन की सदा उपेक्षा करना चाहिए—उनसे सदा दूर रहना चाहिए। (दुष्ट पुरुष, परस्त्री और पर के धन के परिचय की सदा अवहेलना करना चाहिए।) (1256) (श्रीमद् राजर्षि अमोघवर्ष, रत्नमाला, श्लोक-18)

* * *

जैनधर्म में तो ऐसी आम्नाय है कि—पहले बड़ा पाप छोड़ाकर, फिर छोटा पाप छोड़ाया जाता है। इसलिए मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादि से भी महान पाप जानकर पहले छोड़ाया है। इसलिए जो पाप के फल से डरते हों, तथा अपने आत्मा को दुःखसमुद्र में डुबाना न चाहते हों, वे जीव मिथ्यात्व-पाप को अवश्य छोड़ो। (1257)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-6, पृष्ठ-198)

* * *

परिग्रहवन्त सम्यग्दृष्टि भी अनुभव को किसी-किसी समय करता है, वह भी

धन्य है—मोक्ष का साधक है; जिस समय अनुभव करता है, उस समय सिद्ध समान अम्लान आत्मतत्त्व को अनुभव करता है, एकदेश स्वरूप अनुभव में स्वरूप अनुभव की जाति पहिचानी है। अनुभव पूज्य है—परम है—धर्म है—सार है—अपार है, उद्धार करता है, अविकार है, भवपार करता है, महिमा को धारण करता है, दोष को हरनेवाला है और उससे चिदानन्द का सुधार है। (1258) (श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-95)

* * *

क्षीण हो गया है मोह जिसका और शान्त हो गया है कलुष कषायरूप मैल जिसका, ऐसे समभावों में आरूढ़ हुए योगीश्वर को आश्रय करके हिरनी तो सिंह के बालक को अपने पुत्र की बुद्धि से स्पर्श करती है और प्यार करती है और गाय है, सो व्याघ्र के बच्चे को पुत्र की बुद्धि से प्यार करती है। मार्जारी हंस के बच्चे को स्नेह की दृष्टि से वशीभूत हो स्पर्शती है तथा मयूरी सर्प के बच्चे को प्यार करती है। इसी प्रकार अन्य प्राणी भी जन्म से जो बैर है, उसको मदरहित हो छोड़ देते हैं। यह साम्यभाव का ही प्रभाव है। (1259) (श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-24, श्लोक-26)

* * *

हे सरस्वती! जो तेरा तेज न दिन की अपेक्षा रखता है और न रात्रि की ही अपेक्षा रखता है, न अभ्यन्तर की अपेक्षा रखता है और न बाह्य की भी अपेक्षा रखता है; तथा न सन्ताप करता है और न जड़ता भी करता है; वह समस्त पदार्थों को प्रकाशित करनेवाले तेरे तेज की मैं स्तुति करता हूँ। (1260)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, श्रुतदेवता स्तुति, श्लोक-2)

* * *

पूर्वपरिणामयुक्त द्रव्य है, वह तो कारणभाव से वर्तता है तथा वही द्रव्य उत्तरपरिणाम से युक्त होता है, तब कार्य होता है—ऐसा तुम नियम से जानो। (1261)

(श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-230)

* * *

इस संसारचक्र में घूमते हुए इस जीव ने एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक ऐसा एक भी शरीर नहीं कि जो इसने धारण नहीं किया। इस संसार में ऐसा कोई सुख नहीं

जो इस जीव ने नहीं भोगा। ऐसी कोई गति नहीं जो इस गतिमान जीव ने धारण नहीं की। ऐसा कोई राजवैभव नहीं, जो इस जीव को परिचित नहीं, इस जीव ने भोगा नहीं। ऐसा कोई चेतन-अचेतन पदार्थ या क्षेत्र नहीं जो इस जीव को परिचित—अनुभूत नहीं है। (1262)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-248)

* * *

आचार्य कहते हैं कि—देखो..... जिसको नियम से मोक्ष होना है... और जो चार ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय—इनसे युक्त है, ऐसा तीर्थकर भी तपश्चरण करता है, इस प्रकार निश्चय से जानकर ज्ञानयुक्त होने पर भी तप करना योग्य है। (1263)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्षपाहुड़, गाथा-60)

* * *

जिस समय तपस्वी अन्तरात्मा को मोहवशात् राग और द्वेष उत्पन्न होता है, उसी समय उस तपस्वी को शुद्धात्मस्वरूप की भावना करनी चाहिए। ऐसा करने से राग-द्वेषादि क्षणभर में शान्त हो जाते हैं। (1264)

* * *

आत्महित-वांछक पण्डित का कर्तव्य है कि विपत्तियों के पड़ने पर भी जिस तरह मन में अत्यधिक विकार उत्पन्न न हो, उस तरह ही आचरण करना चाहिए। (1265)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-165)

* * *

अंग पर लगी हुई धूल, वही जिसे मन आभूषण है, शिलातल वही जिसे मन सुन्दर आसन है, रज और कंकरयुक्त पृथ्वी जिसे मन सुख मन सुखद शय्या है, सिंहादि क्रूर प्राणी जहाँ निवास करते हैं, ऐसे दुर्गम्य गिरि गुफा आदि स्थान जिसे मन गृह है, 'यह देह मेरा और मैं इस दस देह का' ऐसे मिथ्या विकल्प से रहित निर्मल है बुद्धि जिसकी तथा टूट गयी है अनादि अज्ञानरूप गाँठ जिसकी—ऐसे विज्ञानघन मोक्ष के परम पात्र निःस्पृह सत्पुरुष हमारे अन्तःकरण को पवित्र करें। (1266)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-259)

* * *

जो सुख वीतराग मुनि के प्रशमरूप विशुद्धतापूर्वक है, उसका अनन्तवाँ भाग भी इन्द्र को प्राप्त नहीं है। (1267) (श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-21, श्लोक-3)

* * *

दावानल से सुलगते वन में शीघ्र गमन करनेवाले अन्ध मनुष्य मर जाते हैं, इसी प्रकार दोनों पैर रहित लंगड़ा मनुष्य दावानल को देखता होने पर भी चलने में असमर्थ होने से जलकर मर जाता है। अग्नि का विश्वास न करनेवाले मनुष्य नेत्र और पैर संयुक्त होने पर भी उक्त दावानल में भस्म हो जाते हैं। इसीलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीनों की एकता को प्राप्त होते ही उनसे सिद्धि प्राप्त होती है; ऐसा निश्चित समझना चाहिए। (1268)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अधिकार-1, श्लोक-75)

* * *

ज्ञान का पिण्ड आत्मा ही हमारा लोक है, जिसमें मोक्ष का सुख मिलता है। जिसमें दोष और दुःख है, ऐसे स्वर्गादि अन्य लोक मेरा नहीं! नहीं! नहीं! सुगति प्रदाता पुण्य और दुःखदायक दुर्गति का पद प्रदाता पाप है, वे दोनों नाशवन्त हैं और मैं अविनाशी हूँ—मोक्षपुरी का बादशाह हूँ। ऐसा विचार करने से परलोक का भय नहीं सताता। ज्ञानी मनुष्य अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखता है, इसलिए निःशंक रहता है। (1269) (श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पद-51)

* * *

जैसे लोहे का संग करने से अग्नि भी बड़े-बड़े घन द्वारा पिटती है, उसी प्रकार दुष्टजनों के संग से भले पुरुषों के गुण भी नष्ट हो जाते हैं। (1270)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-148)

* * *

वीतराग अतीन्द्रिय सुख के स्वाद से रहित जीवों को उपभोग्य पंचेन्द्रिय विषय, अतीन्द्रिय आत्मस्वरूप से विपरीत पाँच इन्द्रियाँ, अशरीर आत्मपदार्थ से प्रतिपक्षभूत पाँच शरीर, मनोगत विकल्प-जाल रहित शुद्धजीवास्तिकाय से विपरीत मन, कर्म रहित

आत्मद्रव्य से प्रतिकूल आठ कर्म और अमूर्त आत्मस्वभाव से प्रतिपक्षभूत दूसरा भी जो कुछ मूर्त हो, वह सब पुद्गल जानो। (1271)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पंचास्तिकाय टीका, गाथा-82 का भावार्थ)

* * *

पराक्रम ही है अद्वितीय रस जिसके, ऐसा यह मनुष्य तब तक ही उद्धत होकर दौड़ता-कूदता है, जब तक कि कालरूपी सिंह की गर्जना का शब्द नहीं सुनता। अर्थात् तेरी मौत आ गयी है, ऐसा शब्द सुनते ही सब खेलकूद भूल जाता है। (1272)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-2, श्लोक-13)

* * *

जिस प्रकार सूर्य के द्वारा जगत प्रकाशमान हो उठता है, उसी प्रकार.... जिसके द्वारा जैन शासन प्रकाशमान हो उठता है, उसके दोनों चरणकमलों को धर्मात्मा अपने मस्तक पर धारण करते हैं। जिस प्रकार समुद्र रत्नों की उत्पत्ति का स्थान है, उसी प्रकार जिनशासन प्रभावना करनेवाला श्रीमान् पुरुष धर्म की उत्पत्ति का कारण है। आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि हर्षरूपी फूलों से व्याप्त मेरे मनरूपी रंगभूमि में जिनेन्द्र प्रणीत समीचीन धर्म की प्रभावना का अभिनयरूपी महा नट सदा नृत्य करता रहे। (1273)

(श्री गुणभद्राचार्य, महापुराण, भाग-2, षट्सप्ततिम पर्व, श्लोक-424-425-427)

* * *

दूसरा कोई कुमार्गगामी हो गया है तो भी उसे मना ही करना चाहिए, यह तो ठीक ही है, परन्तु विषयों के कुमार्ग में जानेवाले अपने मन को अतिशयरूप क्यों नहीं रोकना चाहिए—अवश्य रोकना चाहिए। (1274)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-175)

* * *

मेरा मरण नहीं तो मुझे डर किसका? मुझे व्याधि नहीं तो मुझे पीड़ा कैसी? मैं बालक नहीं, मैं वृद्ध नहीं, मैं युवा नहीं। यह सर्व अवस्थायें पुद्गल की हैं। (1275)

(श्री पूज्यपाद आचार्य, इष्टोपदेश, गाथा-29)

* * *

जहाँ अपने राज्यादि न्यायकार्य की सिद्धि के लिये माया करता है, पहले के ठगने के लिये माया नहीं करता है, और अपना धन, सम्पदा, प्राणादि रखने के लिये माया करता है और अपने धर्म रखने के लिये माया करता है, वह भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की योग्यता सहित करता है। पराया धन, प्राण, स्त्री, सम्पदादि हरने के लिये माया नहीं करता है। इत्यादि माया करता है, वह अप्रत्याख्यान-मायाभाव जानना। (1276)

(श्री दीपचन्दजी, भावदीपिका, पृष्ठ-65)

* * *

जो जीव तत्त्व की पढ़ी-सुनी बातें करके अपने को तत्त्वज्ञ मान बैठता है, वह तो बालक है; और जो अधिक बातें करने का छोड़कर अन्दर में सदा ही आत्म-अनुभूति के आनन्द का स्वाद लेता है, वह मुनिनायक है। (1277)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-47)

* * *

सांसारिक विषयों की अभिलाषा तथा कर्मोदय से उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकार के दुःख तथा कर्ममल का नाश करने में जो समर्थ है, वह भावतीर्थ समझना चाहिए अर्थात् भावतीर्थ के सेवन से सांसारिक अभिलाषा नष्ट होती है, कर्मजन्य दुःख का नाश होता है तथा कर्ममल का क्षय होता है। यह तीन गुण भावतीर्थ में है। यहाँ जिनेश्वर ने कहे हुए बारह अंगरूप श्रुतज्ञान को भावतीर्थ समझना। (1278)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, षट् आवश्यक अधिकार, गाथा-72)

* * *

जो पुरुष इन्द्रियसमूह को वश नहीं करके साक्षात् मोक्ष (कर्मरहित) होना चाहता है, वह दुर्बुद्धि अपने मस्तक की टक्कर लगाकर पर्वत को तोड़ना चाहता है। ऐसी अवस्था में उसका मस्तक ही टूटेगा, पर्वत तो किसी प्रकार फूटेगा ही नहीं। (1279)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-20 श्लोक-31)

* * *

श्री जिनेन्द्र ने चक्षुदर्शन को कहा है। निश्चय से ज्ञानचक्षु से आत्मा को देखना ही चक्षुदर्शन है, वही आँख है जो आत्मज्ञान का दर्शन करे। भेदविज्ञानपूर्वक आत्मज्ञान

का जो अभ्यास करना है, यही अभ्यास वह साधन है जिससे आत्मारूपी कमल कर्मों से छूटकर अपने स्वभाव में प्रफुल्लित हो जाता है। ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है। (1280)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-2, पृष्ठ-77)

* * *

तेरा आत्मा ज्ञानमय है, उसके भाव को जब तक नहीं देखा, तब तक चित्त बेचारा दग्ध और संकल्प-विकल्पसहित अज्ञानरूप वर्तता है। (1281)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-56)

* * *

जीवों के मनरूपी दैत्य का प्रभाव दुर्विचिन्त्य है, किसी से चिन्तवन में नहीं आ सकता। क्योंकि यह अपनी चंचलता के प्रभाव से दसों दिशाओं में दैत्यों के समूह में, इन्द्र के पूरों में, आकाश में तथा द्वीप समुद्रों में विद्याधर मनुष्य देव धरणीन्द्रादि के निवासस्थानों में तथा वातवलियोंसहित तीन लोकरूपी घर में सर्वत्र आधे क्षण में ही भ्रमण कर आता है। इसका रोकना अतिशय कठिन है। जो योगीश्वर इसे रोकते हैं, वे धन्य हैं। (1282)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-22, श्लोक-34)

* * *

जब शरीर कोई असाध्य रोग से अथवा वृद्धावस्था से असमर्थ हो जाये, देव-मनुष्यादिकृत कोई दुर्निवार उपसर्ग आ पड़े, कोई महा दुष्काल से धान्यादि भोज्य पदार्थ दुष्प्राप्य हो जाये अथवा धर्म का नाश करनेवाले कोई विशेष कारण आ मिलें, तब अपने शरीर को पक गये हुए पान के समान अथवा तेलरहित दीपक समान अपने आप विनाश सन्मुख जानकर, संन्यास धारण करे। (1283)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्धिउपाय, श्लोक-178)

* * *

बन्धन समान कोई दुःख नहीं और छूटने के समान कोई सुख नहीं। बन्धन से बँधे हुए पशु भी छूटना चाहते हैं और जब वे छूटते हैं, तब सुखी होते हैं। इस सामान्य बन्धन के अभाव से भी पशु सुखी होते हैं तो कर्म-बन्धन के अभाव से ज्ञानीजन परम

सुखी हों, उसमें क्या आश्चर्य है! (1284)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-5)

* * *

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य जीवों! यदि तुम जिनमत को प्रवर्ताना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय—इन दोनों नयों को मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ-व्यवहारमार्ग का नाश हो जायेगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा। (1285)

(श्री समयसार, गाथा-12 का उद्धृत श्लोक)

* * *

जो धैर्य धारण करनेवाला है, संसार-समुद्र को तिरनेवाला है, सर्व प्रकार के भयों का नाश करनेवाला है, महायोद्धा समान धर्म में उत्साही रहता है, विषय-वासनाओं को जला डालता है, आत्महित का चिन्तवन किया करता है, सुख-शान्ति की चाल चलता है, सद्गुणों के प्रकाश से जगमगाता है, आत्मस्वरूप में रुचि रखता है, सभी नयों का रहस्य जानता है, ऐसा क्षमाशील है कि सबका छोटा भाई बनकर रहता है अथवा उनकी अच्छी-बुरी बातें सहन करता है, हृदय की कुटिलता छोड़कर सरल चित्तवाला हुआ है, दुःख-सन्ताप के मार्ग में नहीं चलता, आत्मस्वरूप में विश्राम किया करता है, ऐसा महानुभव ज्ञानी कहलाता है। (1286)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, मोक्ष द्वार, पद-46)

* * *

जैसे ताराओं के समूह में चन्द्रमा अधिक है और मृगकुल अर्थात् पशुओं के समूह में मृगराज (सिंह) अधिक है, वैसे ही ऋषि (मुनि) और श्रावक इन दो प्रकार के धर्मों में सम्यक्त्व है, वह अधिक है। (1287)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड़, गाथा-144)

* * *

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, यदि इसकी सेवा की जाये तो यह उत्कृष्ट, निर्मल ज्ञान को देता है। जबकि शरीर ज्ञानरहित है, यदि इसकी सेवा की जाये तो वह घोर अज्ञान को ही देता है। इस जगत में यह बात सर्व स्थान में प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो होता है,

वही दिया जाता है। कोई भी दानी आकाश के फूल को कहीं भी किसी को भी नहीं दे सकता है। (1288) (श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-45)

* * *

निश्चयनयकर वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन परिणामरूप जो निजभावों का अभयदान निज जीव की रक्षा और व्यवहारनयकर परप्राणियों के प्राणों की रक्षारूप अभयदान, यह स्वदया—परदयास्वरूप अभयदान है, उसके करनेवाले के स्वर्ग-मोक्ष होता है, इसमें सन्देह नहीं है। इनमें से जो अच्छा मालूम पड़े, उसे करो। (1289)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2 श्लोक-127)

* * *

जिसे जीवन और धन की आशा है, उसके लिये कर्म विधातारूप बनता है, परन्तु जिस महाभाग्य को आशा का ही अभाव वर्तता है, उसे विधाता क्या कर सकता है? (1290)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-163)

* * *

यह आत्मा जिस प्रकार काम और अर्थ के लिये अविश्रान्त परिश्रम करता है, उस प्रकार यदि अपने स्वार्थ अर्थात् मोक्ष और मोक्षमार्ग में लालसारहित प्रवृत्ति करे तो क्या यह कर्मों से मुक्त न हो? अवश्य ही हो। (1291)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-21, श्लोक-27)

* * *

हे वत्स! बहुत पढ़ने से क्या है? तू ऐसी ज्ञानचिंगारी प्रगट करना सीख कि जो प्रज्वलित होते ही पुण्य और पाप को क्षणमात्र में नष्ट कर डाले। (1292)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुडदोहा, गाथा-87)

* * *

जिस श्रावक ने जहाँ-तहाँ दौड़नेवाले मन को वश किया है, उसने सन्तोषरूप अमृत को प्राप्त करके क्या सुख को प्राप्त नहीं किया? अर्थात् सन्तोष की प्राप्ति होने से उसने सर्व प्रकार के सुख को प्राप्त किया है, क्योंकि वास्तव में सन्तोष, वही सुख है और असन्तोष, वही दुःख है। (1293) (श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, गाथा-795)

* * *

गुरु महाराज बड़े गम्भीर हैं। गुरु ने अनन्त ज्ञान का भेद पा लिया है। गुरु महाराज प्रकाशनीय सम्यग्दर्शन का स्वरूप दिखाते हैं। गुरु ने अपने शब्दों में अमृतरस मिला दिया है। अर्थात् गुरु के आत्म-प्रतीति करानेवाले वचनों को सुनकर श्रोताओं के भीतर आनन्दरूपी अमृतरस का स्वाद आ जाता है। गुरु के वचन सर्व भय को दूर करनेवाले हैं तथा शान्तिमय हैं। (1294)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-1, पृष्ठ-16)

* * *

संसाररूपी घटीयन्त्र में एक पाटली समान एक विपत्ति दूर की जाये, उससे पहले तो दूसरी बहुत विपत्तियाँ सामने उपस्थित होती हैं। (1295)

(श्री पूज्यपाद आचार्य, इष्टापदेश, गाथा-12)

* * *

शास्त्रज्ञान का उत्तम फल वैराग्य है, ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है। उस शास्त्रज्ञान से जो कोई धन की चाहना करते हैं, वे तो अमृत पीकर विष की चाह करते हैं। (1296)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-308)

* * *

मुक्ति तो उस जीव की दासी है कि जो आत्मतत्त्व को एकचित्त से निःशंकरूप से जानता है और अन्य मिथ्यावाद सुनने में आकर्षक लगता है तो भी उससे वह भ्रमित नहीं होता या मदमाता (विषयासक्त) नहीं होता। (1297)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-8)

* * *

आनन्दमयी दृष्टि का रहना ही ज्ञानप्रकाश में रमण करना है। उस आत्मानन्द के भोग से आकुलता या दुःख के छिद्र विला जाते हैं। अर्थात् आत्मानन्द में मग्न होने से सर्व सांसारिक दुःख क्षय हो जाते हैं। वह आत्मानन्द बड़ी बलवान शक्ति है, उस बल के समान कोई बल नहीं है। जब आत्मानन्द में मग्न हुआ जाता है, तब ही ध्यान की अग्नि जलती है जो कर्मों के बन्धनों का जला देती है। (1298)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-2, पृष्ठ-17)

* * *

शुद्ध आत्मा के चिन्तवन में जो मुमुक्षुजन तत्पर रहते हैं, वे तीन लोक में प्रशंसापात्र हैं। आत्मचिन्तन में तल्लीन मनुष्य कदाचित् काला हो, कर्णहीन हो, कुद्रूप हो अथवा नकटा, बौना, कर्कशवाणी वाला, ठींगना, पंगु, ढूँठा, नेत्ररहित, गूँगा, लंगड़ा, निर्धन, अनपढ़, बहरा और कोढ़ इत्यादि रोगयुक्त हो तो भी निर्मल ज्ञानवाले ज्ञानीजन उसके शरीर की ओर न देखकर उसके अद्भुत अनुपम आत्मचिन्तनरूप पुरुषार्थ की ओर दृष्टि देकर उसे ही प्रशंसापात्र गिनते हैं, दूसरा मनुष्य सर्वांग सुन्दर रूपवाला, मधुर वाणीवाला, बहुत शास्त्रों का अभ्यासी, धनवान और निरोगी हो, तथापि वह यदि चिद्रूप-चिन्तन से रहित है, तो उसे कोई ज्ञानी कभी प्रशंसापात्र नहीं गिनते। (1299)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-2, गाथा-11)

* * *

हे मूढ़ प्राणी! अनेक प्रकार की असत्य कला, चतुराई, श्रृंगार आदि खोटी विद्याओं के कौतूहल से अपने आत्मा को ठग नहीं, परन्तु तुझे करनेयोग्य जो कुछ हितकर कार्य है, उसे कर। जगत की इन समस्त कलाओं का ज्ञान विनाशीक है। क्या तू इस बात को नहीं जानता? (1300)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-2, श्लोक-3)

* * *

जिस प्रकार रत्न-परीक्षक ठगाने के भय से परीक्षा करके रत्न को ग्रहण करता है, उसी प्रकार बुद्धिमान जीव परीक्षा करके धर्म को प्रयत्न से ग्रहण करता है।

कुल-परम्परा से चला आया दारिद्र तथा कुष्ठ-रोग आदि की भाँति कुल-परम्परा से चला आया हुआ अधर्म भी छोड़ना चाहिए। (1301)

(श्री नरेन्द्रसेन आचार्य, सिद्धान्तसार संग्रह, अध्याय-1, गाथा-16-24)

* * *

परम शुद्ध सम्यग्दर्शन उसे कहते हैं, जहाँ निर्मल स्वभाव से आत्मा को शुद्ध, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म से भिन्न श्रद्धान में लाया जावे तथा संसार से राग और द्वेष और मदों का जहाँ त्याग किया जावे। (1302)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-76)

* * *

अर्थ का भाव भासित हुए बिना वचनों का अभिप्राय नहीं पहिचाना जाता। स्वयं तो मान ले कि मैं 'जिनवचन अनुसार मानता हूँ', परन्तु भाव भासित हुए बिना अन्यथापना हो जाये। लोक में भी नौकर को किसी कार्य के लिये भेजते हैं, वहाँ वह नौकर यदि उस कार्य के भाव को जाने तो वह कार्य सुधारे, परन्तु यदि उस नौकर को उसका भाव न भासित हो तो किसी जगह वह चूक ही जाये। इसलिए भाव भासित होने के लिये हेय-उपादेय तत्त्वों की परीक्षा अवश्य करना चाहिए। (1303)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-7, पृष्ठ-263)

* * *

जिसने अशरीरी का सन्धान किया, वह सच्चा धनुर्धारी है और चित्त को एकाग्र कराके जिसने शिवतत्त्व को साधा, वह वास्तव में निश्चिन्त है। (1304)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुडदोहा, गाथा-121)

* * *

शरीर में, यह शरीर ही आत्मा है—इस प्रकार जानना काय की सन्तान अर्थात् आगामी परिपाटी का कारण है और अपने आत्मा में ही आत्मा है, ऐसा ज्ञान इस शरीर से अन्य शरीर होने के अभाव का कारण है। (1305)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-32, श्लोक-80)

* * *

यदि तृष्णारूपी रोग भोगों के भोगनेरूप औषधि सेवन से मिट जावे, तब तो भोग को चाहना, मिलाना और भोगना उचित है परन्तु जब भोगों के कारण तृष्णा का रोग और अधिक बढ़ जावे, तब भोगों की दवाई मिथ्या है। यह समझकर इस दवा का राग छोड़ देना चाहिए, और सच्ची दवा ढूँढ़नी चाहिए, जिससे तृष्णा का रोग मिट जावे। वह दवा एक शान्तरसमय निज आत्मा का ध्यान है, जिससे स्वाधीन आनन्द जितना मिलता जाता है, उतना-उतना ही विषयभोगों का राग घटता जाता है। स्वाधीन सुख के विलास से ही विषयभोगों की वाँछा मिट जाती है। अतएव इन्द्रिय सुख की आशा छोड़कर अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का उद्यम करना चाहिए। (1306)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-61 भावार्थ)

* * *

अपने ऊपर कोई आपत्ति आ पड़ने पर मनुष्य जिस प्रकार से दुःखी होता है, उसी प्रकार से दूसरे के ऊपर आ पड़ी हुई आपत्ति को अपनी आपत्ति समझकर दुःख का अनुभव करना, यह दयालुता है। (1307)

(श्री वादीभसिंह आचार्यसूरि, क्षत्रचूड़ामणि, सर्ग-4, श्लोक-6)

* * *

काम का नहीं सेवना कामभाव की शान्ति का बड़ा उपाय कहा गया है। क्योंकि कामसेवन से कामभाव की लगातार वृद्धि होती जाती है परन्तु कभी भी उसकी शान्ति नहीं होती है। (1308)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-114)

* * *

घोर संसार महार्णव का यह (परम तत्त्व) दैदीप्यमान नाव है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है, इसलिए मैं मोह को जीतकर निरन्तर परम तत्त्व को तत्त्वतः (—पारमार्थिक रीति से) भाता हूँ। (1309)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-144)

* * *

इन्द्रियों का उपवास अर्थात् उन्हें विषयों में न जाने देना तथा मन को अपने आत्मस्वरूप में जोड़ना, उसे मुनीन्द्रों ने उपवास कहा है। इसलिए जितेन्द्रिय पुरुष को आहार करते हुए भी उपवाससहित ही कहा है। (1310)

(श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-437)

* * *

अपने आत्मा के ज्ञान, ध्यान तथा अध्ययन से उत्पन्न होनेवाला सुख अमृत समान है। आत्मा से उत्पन्न होनेवाला यह ज्ञान ध्यानरूपी सुखामृत एक अपूर्व रसायन समान है। इस आत्मजन्य सुखामृतरूपी रसायन को छोड़कर, जो जीव इन्द्रियजन्य सुखों में लीन रहता है, वह बहिरात्मा है। (1311)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, रयणसार, गाथा-132)

* * *

जैसे कोई बलवान पुरुष जंगल में जाकर मधुछत्ता तोड़ता है, तो उसे बहुत मधुमक्खियाँ चिपट जाती हैं, परन्तु उसने कम्बल ओढ़ा हुआ होने से उसे उनके डंक

नहीं लग सकते। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव उदय की उपाधि रहने पर भी मोक्षमार्ग को साधता है, उसको ज्ञान का स्वाभाविक बख्तर (कवच) प्राप्त है, इसलिए आनन्द में रहता है—उपाधिजनित आकुलता व्याप्त नहीं होती, समाधि का काम देता है। (1312)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पद-35)

* * *

पापकर्म के उदय से मनुष्य बन्धु-बान्धवों के मध्य में रहते हुए भी दुःख भोगता है और पुण्यकर्म के उदय से शत्रु के घर में रहकर भी सुख भोगता है। जब पुरुष का भाग्योदय होता है तो वज्रपात भी फूल बन जाता है और भाग्य के अभाव में फूल भी वज्र से कठोर हो जाता है। (1313)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-352-353)

* * *

‘मुझे—ज्ञानवन्त को यह विषयाशारूप शत्रु कुछ भी नहीं कर सकता, ऐसा नहीं है।’ इस प्रकार के ज्ञानमद से उन्मत्त होकर इस आशारूपी शत्रु से जरा भी उपेक्षित रहना योग्य नहीं है। तीन लोक जिसने वश कर रखा है, ऐसे उस आशारूप शत्रु को अल्प गिनना योग्य नहीं है। तीन जगत का महाभयंकर और अद्वितीय शत्रु यही है। इसे तो सम्यक् प्रकार से विचार-विचारकर मूल से सर्वथा क्षीण करना चाहिए। देखो! अनन्त और अगाध समुद्र में रहनेवाली वडवाग्नि महान समुद्र को भी बाधा उपजाती है अर्थात् शोषण करती है, उसी प्रकार छोटी-सी विषयाशा आत्मा के अगाध ज्ञानसमुद्र को मलिन करती है, आवरण करती है। उससे तो निरन्तर सावधान रहना चाहिए। और जगत में भी देखने में आता है कि शत्रु ने जिसे दबा रखा है, उसे शान्ति कहाँ से होगी? (1314)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-230)

* * *

हे नाथ! एक नजर से देखते रहनेयोग्य आपका स्वरूप एक बार देखने के पश्चात् मनुष्य के नेत्र दूसरी किसी जगह सन्तोष नहीं पाते, क्योंकि चन्द्र के किरण जैसा उज्ज्वल क्षीरसागर का दूध जैसा जल पीने के पश्चात् समुद्र के खारे पानी को पीने की कौन इच्छा करे? कोई भी नहीं। (1315) (श्री मानतुंग आचार्य, भक्तामरस्तोत्र, श्लोक-11)

* * *

जैसे राजा का घात होने से प्रभाव रहित सेना स्वयं नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार मोहराजा का नाश होने से समस्त घातिकर्मों का नाश हो जाता है। (1316)

(श्री देवसेन आचार्य, तत्त्वसार, गाथा-65)

* * *

पाप को बाँधनेवाले भोगों से कौन ऐसा है जिसको तृप्ति हो सकती हो, चाहे वह देव हो या इन्द्र हो या चक्रवर्ती हो या राजा हो। (1317)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-310)

* * *

मुंड मुण्डावनेवालों में हे श्रेष्ठ मुंडका! तूने सिर तो मुंडा, परन्तु चित्त को नहीं मुंडा। जिसने चित्त का मुण्डन किया, उसने संसार का खण्डन किया। (1318)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-135)

* * *

वैद्य मन्त्र के गुणों द्वारा विष को दूर करता है, उसी प्रकार मैं भव दुःख के कारणरूप मन, वचन और काया के निमित्त से कषाय द्वारा उत्पन्न किये हुए समस्त पापों की विशेष निन्दा, आलोचना और गहर्णा द्वारा नाश करता हूँ। (1319)

(श्री अमितगति आचार्य, सामायिक पाठ, श्लोक-7)

* * *

अब श्री वीतराग सर्वज्ञदेव जिनेन्द्र का प्रकाश हुआ है। इस संसारवन में भ्रमण करते-करते अब मैंने श्री जिनेन्द्र को पा लिया है, जो मेरे परम उपकारी हैं। अब मैं एक क्षण भी उनका संग नहीं छोड़ूँगा। (1320)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-2, पृष्ठ-216)

* * *

कदाचित् सूर्य शीतल हो जाये, चन्द्रमा उष्ण हो जाये, गाय के सींग से दूध निकलने लग जाये, विष अमृत हो जाये, अमृत से विष-बेल उत्पन्न हो जाये, अंगार से श्वेतता आविर्भूत हो जाये, अंगार जल करके श्वेत बन जाये, अग्नि से जल प्रगट हो जाये, जल से अग्नि उत्पन्न हो जाये, और कदाचित् नीम से सुस्वाद रस भले ही प्रगट

हो जाये, परन्तु दुष्टबुद्धि दुर्जनों से कभी सज्जन पुरुषों को प्रशस्त वाक्य उपलब्ध नहीं हो सकता। (1321) (श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-442)

* * *

जैसे मद झरते हाथी को झूमता देखकर सब लोग दूर हट जाते हैं, उसी प्रकार धर्मी के अन्तर में निर्मल आत्मा को देखकर सब पाप दूर हट जाते हैं। (1322)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-81)

* * *

हे जिनेन्द्र! जो जीव समस्त वस्तुओं के विस्तार का विषय करनेवाले आपके अनन्त ज्ञान की स्तुति करता है, वह अपने को उस कूपमंडूक (कुँए में रहनेवाले मेंढक) समान प्रगट करता है, जो कुँए में रहने पर भी समुद्र के विस्तारादि बताता है।

(1323) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, ऋषभ स्तोत्र, श्लोक-4)

* * *

हे शून्य हृदय! तराजू के पलड़े की तरह बहुत अधिक पदार्थों को ग्रहण करते हुए यह जीव नीचे को अर्थात् नरक निगोद आदि गति को चला जाता है और जहाँ पदार्थों को त्याग दिया जाता है, तब भार से हल्का होकर ऊपर को अर्थात् स्वर्ग या मोक्ष को चला जाता है। इसलिए पापबन्ध का कारण परिग्रह को मन, वचन, काय तीनों से त्याग दे। (1324)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-92)

* * *

जो इन्द्रियों से प्राप्त होता है, वह सुख पर के सम्बन्धवाला, बाधासहित, विच्छिन्न, बन्ध का कारण और विषम है; इस प्रकार वह दुःख ही है। (1325)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार, गाथा-76)

* * *

जिसने सर्व शक्तियाँ समेटी हैं (—अपने में लीन की हैं), ऐसे पूर्ण आत्मा का आत्मा में धारण करना, वही छोड़नेयोग्य सब छोड़ा और ग्रहणयोग्य सब ग्रहण किया। (1326)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-236)

* * *

अन्तरंग दृष्टि से देखने पर कषायों को और कर्मों को परस्पर में निमित्त-नैमित्तिकभाव है परन्तु जीव और कर्मों को परस्पर में निमित्त-नैमित्तिकभाव नहीं है।
(1327) (श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, द्रव्यविशेष अधिकार, श्लोक-1069)

* * *

जिस प्रकार अंजुलि में से पानी क्रम-क्रम से घटता है, उसी प्रकार सूर्य उदय-अस्त होता है, और प्रतिदिन जिन्दगी कम होती जाती है। जिस प्रकार करवत खींचने से लकड़ी कटती है, उसी प्रकार काल शरीर को क्षण-क्षण में क्षीण करता है। ऐसा होने पर भी अज्ञानी जीव मोक्षमार्ग की शोध नहीं करता और लौकिक स्वार्थ के लिये अज्ञान का भार उठाता है, शरीर आदि परवस्तुओं में प्रेम करता है, मन, वचन, काया के योगों में अहंबुद्धि करता है और सांसारिक विषयभोगों से जरा भी विरक्त नहीं होता। (1328)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, बन्धद्वार, गाथा-26)

* * *

जो इन्द्रियों के विषयों के बिना ही अपने आत्मा में आत्मा से ही सेवन करने में आता है, उसको ही योगीश्वरों ने आध्यात्मिक सुख कहा है। (1329)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-20, श्लोक-24)

* * *

मोह से यह संसारभ्रमण है। वहाँ से जरा सा भी वह स्वरूप में आवे तो त्रैलोक्य पद का राज्य पावे और वह दुर्लभ भी नहीं है। जैसे मनुष्य पशु का स्वाँग धारण करे, इससे कहीं वह पशु नहीं होता परन्तु मनुष्य ही है। उसी प्रकार आत्मा चौरासी के स्वाँग करे तो भी वह चिदानन्द ही है। चिदानन्दपना दुर्लभ नहीं है। (1330)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-22)

* * *

जो कोई लाभ और कीर्ति के कारण परमात्मा के ध्यान को छोड़ देते हैं, वे ही मुनि लोहे के कीले के लिये अर्थात् कीले के समान असार इन्द्रिय सुख के निमित्त मुनिपद योग्य शरीररूपी देवस्थान को तथा आत्मदेव को भव के आताप से भस्म कर देते हैं। (1331)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-92)

* * *

जैसे अनेक बिच्छू एक साथ डंक मारकर प्राणियों को पीड़ित करते हैं, उसी प्रकार विकल्प आत्मा को पीड़ित करते हैं, इसीलिए वे विकल्प विद्यमान हैं, वहाँ तक सुख किस प्रकार हो ? अर्थात् जहाँ विकल्प हैं, वहाँ सुख नहीं है। (1332)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-16, श्लोक-10)

* * *

बाह्य दुःख बुद्धिमान पण्डित को मन में कष्ट नहीं पैदा करता है, किन्तु अन्य मूर्ख को ही सताता है। पवन के वेगों से रुई उड़ जाती है किन्तु सुमेरु पर्वत का शिखर कभी नहीं उड़ता है। (1333)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-306)

* * *

वास्तव में एक जीव हिंसा न करने पर भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र बनता है और दूसरा हिंसा करके भी हिंसा का फल भोगने को पात्र नहीं होता। (1334)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्धिउपाय, श्लोक-51)

* * *

यह सम्यग्दर्शन महारत्न समस्त लोक का आभूषण है और मोक्ष होने पर्यन्त आत्मा को कल्याण देनेवालों में चतुर है। (1335)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-6, श्लोक-53)

* * *

निर्जन श्मशान, वह ज्ञानी को महाराजा का राज्य है, एकान्त में आत्मभावना, वह उसकी पटरानी है, बड़े पर्वत वे तो उसके महल हैं। सम्यग्ज्ञान उसका श्रेष्ठ मन्त्री है, और सत्यचारित्र उसके राजकुमार हैं। (1336)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-75)

* * *

जैसे स्वप्न में अपने को नष्ट हुआ देख लेने से आत्मा नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार जागते हुए भी विनाश नहीं है, किन्तु दोनों जगह विनाश के भ्रम का अविशेष है। (1337)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-32, श्लोक-98)

* * *

जिनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि—पहले सम्यक्त्व होता है, पश्चात् व्रत होते हैं। अब, सम्यक्त्व तो स्व-पर का श्रद्धान होने से होता है तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से होता है, इसलिए प्रथम द्रव्यानुयोग अनुसार श्रद्धान द्वारा सम्यग्दृष्टि होता है और तत्पश्चात् चरणानुयोग अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती होता है। (1338)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-8, पृष्ठ-295)

* * *

यह अन्तरंग चक्षुदर्शन निर्मल सम्यग्दर्शन है। यह इष्ट जो सिद्धपद, उसका संयोग कराता है और अनिष्ट जो संसार उसका नाश करता है। इससे भय नाश हो जाता है और संसार का ही अन्त हो जाता है। इसी शुद्धस्वभाव के प्रभाव से कर्म गल जाते हैं।

(1339)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-1, पृष्ठ-164)

* * *

.....तत्त्वतः समस्त वस्तुमात्र को जानने से, अतत्त्व अभिनिवेश के संस्कार करनेवाला मोहोपचय क्षय प्राप्त होता ही है। इसलिए मोह का क्षय करने में, परम शब्दब्रह्म की उपासना का भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ़ किये गये परिणाम से सम्यक् प्रकार से अभ्यास करना, वह उपायान्तर है। (1340)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-86)

* * *

जो अन्य प्राणी, लोक मुझे छोटे ग्रह के समूहों से ग्रसित, घातित, दुर्भागी, भूत-पिशाच द्वारा पकड़ा हुआ, रोग द्वारा पीड़ित, अत्यन्त परीषहों से विकलता (मन्दता, शक्तिहीनता) तथा वृद्धावस्था प्राप्त, मृत्यु के निकट पहुँचा हुआ, विकृत (बेडोल) अवस्था प्राप्त, भ्रान्तिवाला जानते हैं, गिनते हैं (तो) मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ। यह स्मरण करनेयोग्य उत्तम प्रवचनरूप, शुद्धचिद्रूप मैं हूँ, ऐसा मुझे जानो। (1341)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-6, गाथा-1)

* * *

जैसे बिजली से भरपूर घर की दीवारों में खिड़की-दरवाजे होते हैं और उसमें से प्रकाश की किरणें बाहर फैलती हैं, उसी प्रकार करोड़ों सूर्य जैसा प्रभावान आत्मा इस

शरीर में रहा हुआ है, उसकी किरणों के फैलाव के लिये यह पाँच इन्द्रियोंरूपी खिड़कियाँ हैं। (1342) (श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-73)

* * *

देखो! यह अनन्त ज्ञान का धनी भूलकर दुःखी होता है। हँसी होने से मनुष्य शर्मिन्दा होता है, फिर से हँसी का कार्य नहीं करता। (परन्तु) इस जीव की अनादि काल से जगत में हँसी हो रही है, तथापि लज्जा धरता नहीं। बारम्बार वह की वही झूठी रीत को पकड़ता है। जिसकी बात करने से अनुपम आनन्द हो, ऐसा अपना पद है, उसे तो ग्रहण करता नहीं और परवस्तु की ओर देखते ही चौरासी का बन्दीखाना है, उसे बहुत रुचिपूर्वक सेवन करता है। (1343) (श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-23)

* * *

जो कहने योग्य ही था, वह अशेषरूप से कहा गया है, इतने से ही यदि कोई यहाँ चेतने—समझे तो। (बाकी तो) वाणी का अति विस्तार किया जावे तो भी निश्चेतन को (—नासमझ को, जड़ जैसे को) वास्तव में व्यामोह की (—मोह की) जाल अति दुस्तर है। (1344) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, कलश-14)

* * *

पूर्व काल में हजारों पाप करके तथा सैकड़ों जीवों को मारकर तिर्यच भी इस (नमस्कार) महामन्त्र को शुद्ध भावों से आराधन करके, स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं। उनकी कथा पुराणों में प्रसिद्ध है। (1345) (श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-38, श्लोक-46)

* * *

जैसे तुषों को चलाने से, उड़ाने से मनुष्य का कुछ भी द्रव्य नहीं जाता है, वैसे ही तपस्वी और शीलवान पुरुष विषयों को खल की तरह क्षेपते हैं, दूर फेंक देते हैं। (1346) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, शीलपाहुड, गाथा-24)

* * *

जो जीव के मन में अनर्थ के कारणभूत क्रोधादि कषायें किसी निमित्त के वश होकर उत्पन्न होने पर भी जल में की जानेवाली रेखा समान टिकती नहीं, वे शान्त

स्वभाववाले जीव निर्मल सम्यग्दृष्टि होते हैं। (1347)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, गाथा-162)

* * *

जो कोई मोक्ष के सुख देने में चतुर ऐसे रत्नत्रय को छोड़ करके भयानक और अचिन्त्य वेदना को पैदा करनेवाले भोग को एकान्त में छिपकर सेवन करता है, मैं ऐसा मानता हूँ कि वह जन्म, जरा, मरण को क्षय करनेवाले अमृत को छोड़कर शीघ्र ही प्राणों के घात करनेवाले हलाहल विष को पीता है। (1348)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-101)

* * *

जो यह जवान स्त्री अपनी सुन्दरतारूपी जल से भरी हुई नदी के समान मालूम होती है, यही वह स्त्री हजारों दुःखरूपी तरंगों से भरी हुई भयानक नर्क की वैतरणी नदी के समान है। (1349)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-120)

* * *

जब सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, तब जीव विचार करता है कि शरीररूप महल अलग है, कर्मरूप पलंग अलग है, मायारूपी शय्या अलग है, कल्पनारूपी चादर अलग है, यह निद्रावस्था मेरी—नहीं पूर्व काल में निद्रा में पड़ी हुई मेरी दूसरी ही पर्याय थी। अब वर्तमान का एक पल भी निद्रा में नहीं बिताऊँ। उदय का निःश्वास और विषय का स्वप्न—ये दोनों निद्रा के संयोग से दिखते थे। अब आत्मारूप दर्पण में मेरे समस्त गुण दिखने लगे। इस प्रकार आत्मा अचेतन भावों का त्यागी होकर ज्ञानदृष्टि से देखकर अपना स्वरूप सम्हालता है। (1350)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पद-15)

* * *

.....सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग में देवेन्द्र, लोकान्तिकदेव इत्यादि की विभूति पाकर विमान, परिवार इत्यादि सम्पदाओं को जीर्ण तृण समान गिनता हुआ पाँच महाविदेहों में जाकर देखता है। क्या देखता है? 'वह यह समवसरण है, वे यह वीतराग सर्वज्ञ भगवान हैं, वे यह भेदाभेदरत्नत्रय के आराधक गणधरदेवादि हैं'; 'जो पहले सुना था, उन्हें आज

प्रत्यक्ष देखा'—ऐसा समझकर धर्म में बुद्धि विशेष दृढ़ करके चौथे गुणस्थान के योग्य आत्मभावना को न छोड़कर, भोग भोगते हुए भी धर्मध्यान में काल निर्गमन करके स्वर्ग में से आकर तीर्थकरादि पद को प्राप्त करता है। (1351)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा-38 की टीका में से)

* * *

जैनशास्त्रों में अनेक उपदेश हैं, उसे जाने तो सही, परन्तु ग्रहण तो उसका ही करे कि जिससे अपना विकार दूर हो। अपने को जो विकार हो, उसका निषेध करनेवाले उपदेश को ग्रहण करे, परन्तु उसे पोषनेवाले उपदेश को न ग्रहण करे। वह उपदेश अन्य को कार्यकारी है, ऐसा जाने। यहाँ उदाहरण—जैसे शास्त्र में किसी जगह तो निश्चयपोषक उपदेश है तथा किसी जगह व्यवहारपोषक उपदेश है, वहाँ अपने को यदि व्यवहार की अधिकता हो तो निश्चयपोषक उपदेश को ग्रहण करके यथावत् प्रवर्ते तथा यदि अपने को निश्चय की अधिकता हो तो व्यवहारपोषक उपदेश को ग्रहण करके यथावत् प्रवर्ते। (1352)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-8, पृष्ठ-300)

* * *

सत्पुरुषों के द्वारा सूत्र में शिक्षित किया हुआ पुरुष शरीर, आहार, संसार, काम, और भोगादिक में तत्काल ही विरक्त हो जाता है। सत्पुरुषों की शिक्षा का ही फल ऐसा होता है, शरीरादिक में वैराग्य होने के कारण मोक्षमार्ग से च्युत नहीं होता। यह स्पष्टतया जाना। (1353)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-15, श्लोक-32)

* * *

संसार में रहनेवाले प्राणी को जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम, तप और शील आदि गुणों का रखनेवाला भी है, परन्तु यदि उसके मन में लोभ की आग जल रही है तो उसके पास से संक्लेशभाव नहीं हटता है। नाना प्रकार के रत्नों के समूह को और जिसका पार करना कठिन है, ऐसे जल को धारण करनेवाले समुद्र के बीच में रहा हुआ दावानल क्या सन्ताप को या क्षोभ को नहीं करता है? (1354)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-80)

* * *

जैसे कोई समझदार पुरुष जलते हुए घर में शयन करने की इच्छा करेगा ? उसी प्रकार क्या ज्ञानी पुरुष जन्म-मरण आदिरूप अग्नि द्वारा प्रज्वलित लोक में चिन्ता रहित होकर शयन करेगा ? ज्ञानी को संसार का बड़ा भय है। असावधान होकर ज्ञानी शयन नहीं करता। संसार परिभ्रमण से आत्मा की रक्षा करने के लिये ज्ञानी सदा सावधान रहता है। (1355) (श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-1445)

* * *

प्रशमभावयुक्त सम्यग्दृष्टि को दैवयोग से अनिच्छापूर्वक आरम्भादि क्रिया होती भी है, तथापि आभ्यन्तरशुद्धि की प्रसिद्धि होने से वह क्रिया उसे उस प्रशमगुण में बाधा पहुँचाने के लिये हेतु (निमित्त) नहीं है। (1356) (श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-429)

* * *

छह खण्ड का स्वामी चक्रवर्ती सम्राट भी इस पृथ्वी को और सर्व भोग्य पदार्थों को तृण के समान निःसार जानकर छोड़ देता है और निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि की दीक्षा धारण कर लेता है। (1357) (श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-136)

* * *

शान्त और बर्फ समान शीतल वही आत्मज्योति संसाररूपी भयानक ताप से निरन्तर सन्ताप प्राप्त प्राणी को यन्त्रधारागृह (फब्बारासहित का घर) समान आनन्ददायक है। (1358) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, एकत्व सप्तति, श्लोक-47)

* * *

हे प्राणी ! इस अशुचि शरीर से ममत्व करके तू अत्यन्त दुःखी हो रहा है, हाय ! ठगा रहा है, नष्ट हो रहा है। पराधीनताजन्य अपार भयंकर दुःख को अनुभव कर रहा है। परन्तु अब तो उसे अत्यन्त दुःख की खान और महा अपवित्र समझ, तो ही तेरा ज्ञान सत्य ज्ञान कहलायेगा। तथा उसके प्रति का अनादि ममत्व छोड़ना, वही वास्तविक महान साहस है। (1359) (श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-203)

* * *

जो सम्यग्ज्ञान अग्नि की भाँति कर्मरूपी वन को जलाता है, माता की भाँति दुःख से रक्षा करता है, गुरु की भाँति सत्य नीति को बताता है, स्वामी की भाँति पोषण करता है, तत्त्व-अतत्त्व को प्रगट करने में चतुर है, उस स्पष्ट, पवित्र तथा निर्मल सम्यग्ज्ञान को मनुष्य ज्ञानदान द्वारा प्राप्त करता है। (1360)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-494)

* * *

मैं जवान हूँ, बूढ़ा हूँ, रूपवान हूँ, शूरवीर हूँ, पण्डित हूँ, सबमें श्रेष्ठ हूँ, दिगम्बर हूँ, बौद्धमत का आचार्य हूँ और मैं श्वेताम्बर हूँ, इत्यादि सब शरीर के भेदों को मूर्ख अपने मानता है। ये भेद जीव के नहीं हैं। (1361)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-82)

* * *

एक ही भाव की उससे उत्कृष्टभाव की अपेक्षा से किसी जगह निन्दा की हो तथा किसी जगह उससे हीनभाव की अपेक्षा से प्रशंसा की हो, वहाँ विरोध नहीं समझना, जैसे कि किसी शुभक्रिया की जहाँ निन्दा की हो, वहाँ तो उससे उच्च शुभक्रिया और शुद्धभाव की अपेक्षा है, ऐसा समझना, तथा जहाँ प्रशंसा की हो वहाँ, उससे नीची क्रिया और अशुभक्रिया की अपेक्षा समझना। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना। (1362)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-8, पृष्ठ-297)

* * *

जैसे रेशम का कीड़ा अपने ही मुख से तारों को निकालकर अपने को ही उसमें आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार हिताहित में विचारशून्य होकर यह गृहस्थजन भी अनेक प्रकार के आरम्भों से पाप-उपार्जन करके अपने को शीघ्र ही पापजाल में फँसा लेते हैं। (1363)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-4, श्लोक-14)

* * *

अपना सहज आस्वादी होकर परप्रेम मिटाकर चेतनाप्रकाश के विलासरूप अतीन्द्रियभोग भोग! क्या झूठे ही सूने जड़ में स्वपना मानता है! तथा पर को कहता है कि 'यह हमको दुःख देता है', परन्तु उसमें दुःख देने की शक्ति नहीं है। दूसरे के सिर

पर झूठा आरोप देता है, परन्तु तेरी हरामजादी को देखता नहीं! अचेतन को नचाता फिरता है। लज्जा भी नहीं आती। मुर्दे से सगाई की, अब हम उसके साथ विवाह सम्बन्ध करेंगे; तो ऐसी बात लोक में भी निन्द्य है। तुम तो अनन्त ज्ञान के धारक चिदानन्द हो, जड़ के साथ स्वपना मानने की अनादि की झूठी विटम्बना मिटाओ!

(1364)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-66)

* * *

केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्त सुखस्वरूप जो, वह उत्कृष्ट तेज है, उसे जानने से दूसरा क्या नहीं ज्ञात हुआ ? उसे देख लेने पर दूसरा क्या नहीं देखने में आया ? और उसे सुनकर दूसरा क्या नहीं सुनने में आया ? अर्थात् एकमात्र उसे जान लेने से सब ही ज्ञात हो गया है, उसे देख लेने पर सब ही देखने में आ गया है और उसे सुन लेने पर सब ही सुन लिया है। (1365)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, एकत्व सप्तति, श्लोक-20)

* * *

जिनेन्द्र भगवन्तों ने जो भोग कहा है, वह सर्व दोषों से रहित शुद्ध आत्मभोग है। जहाँ आत्मा के अनुभव में सन्तोष हो, वही शुद्ध आत्मभोग है, ऐसा भोगी संसार मार्ग के कारण भोगों से विरक्त होता है। (1366)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-490)

* * *

नारायण व इन्द्र रुद्र अन्य ज्ञानी पुरुष श्री तीर्थकर परमदेव मुनिश्वरों के समूह तथा अन्य भी भव्यजीव परम निरंजन में मन रखकर सब ही मोक्ष को ही ध्याते हैं। यह मन विषयकषायों में जो जाता है, उसको विमुख करके अपने स्वरूप में स्थिर अर्थात् निर्वाण का साधनेवाला करते हैं। (1367)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-8)

* * *

हे भव्य ! पूर्व काल में ऐसे बहुत से सत्पुरुष हो गये हैं कि जिनके वचन में सत्य, बुद्धि में शास्त्र, हृदय में दया, भुजा में शौर्य निरन्तर बस रहे थे। और याचक समूह को

तृप्त होने तक अस्खलितरूप से जो दान बरसा रहे थे, तथा जो कल्याणमार्ग के सतत् अनुगामी थे और ऐसे महद् गुणवान होने पर भी उनमें अहंकार का लेश भी संकर्ष नहीं था। उन महान पुरुषों की अपेक्षा इस कलिकाल में जिनमें उनमें का लेश भी गुण नहीं होने पर भी अपने को गुणी मनवाकर अति उद्धतता को प्राप्त कर रहे हैं, यह आश्चर्य है!

(1368)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-218)

* * *

आचार्य महाराज यहाँ उपदेश करते हैं कि हे दुर्बुद्धि आत्मा! गुरुजनों की साक्षीपूर्वक अर्थात् गुरुजनों के निकट रहकर तू अपने वैराग्य को निर्मल कर और संसार-देह-भोगों से लेशमात्र भी राग मत कर, तथा चित्तरूपी दैत्य (राक्षस) जो कि स्वेच्छा से प्रवर्तता है, उसे वश में कर और उत्कृष्ट बुद्धि को (विवेकिता को) अंगीकार कर। क्योंकि ये गुण गुरुजनों की सेवा करने से ही प्राप्त होते हैं। (1369)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-15, श्लोक-3)

* * *

विषयभोगों की पूर्णता होने पर भी महान पुरुषों की लोलुपता उनमें नहीं होती है। अन्य मिथ्यादृष्टि जीवों की उनमें लोलुपता होती ही है, उससे उन्हें किंचित् भी शान्ति नहीं मिलती है। (1370)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-135)

* * *

जैसे घी स्वभाव से शीतलता उत्पन्न करनेवाला होने पर भी गर्म घी से जल जाते हैं, उसी प्रकार चारित्र स्वभाव से मोक्ष करनेवाला होने पर भी सरागचारित्र से बन्ध होता है। जैसे शीतल घी शीतलता उत्पन्न करता है, उसी प्रकार वीतरागचारित्र साक्षात् मोक्ष का कारण है। (1371)

(श्री प्रवचनसार, गाथा-11 का भावार्थ)

* * *

व्रतों द्वारा देवपद प्राप्त करना अच्छा है, परन्तु अरे! अव्रतों द्वारा नरकपद प्राप्त करना अच्छा नहीं। जैसे छाया और ताप में बैठकर (मित्र की) राह देखनेवाले दोनों (पुरुषों) में बड़ा अन्तर है, उसी प्रकार (व्रत और अव्रत का आचरण करनेवाले दोनों

पुरुषों में बड़ा अन्तर है)। (1372)

(श्री पूज्यपादस्वामी, इष्टोपदेश, गाथा-3)

* * *

मुनिराज ऐसी भावना करते हैं कि मैं कर्म से पीड़ित हूँ, कर्मोदय से मुझमें कोई दोष उत्पन्न हुआ है, सो उस दोष को अभी कोई प्रगट करे और मुझे आत्मानुभव में स्थापित करके स्वस्थ करे, वही मेरा अकृत्रिम मित्र (हितैषी) है।

पुनः ऐसी भावना करते हैं कि जो कोई अपने पुण्य का क्षय करके मेरे दोष को कहता है, उससे यदि मैं रोष करूँ तो इस जगत में मेरे समान नीच और पापी कौन है ? (1373)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-19, श्लोक-14-15)

* * *

जो सुख अपने आत्मा में ही स्थित है, जो कर्मों के उदय से प्राप्त नहीं होता अथवा जो कर्मों के नाश से प्रगट होता है, जो अविनाशी है और जो मल रहित निर्मल है। जिस सुख की विद्वान लोग सदा इच्छा किया करते हैं तथा जो स्थिरभाव करनेवाले आत्मा के द्वारा सहज ही में प्राप्त होनेयोग्य है, ऐसा सुख अपने पास होते हुए तू जो अन्त में रसरहित है और नाशवन्त है, ऐसे बाहरी इन्द्रियजनित सुख को प्राप्त करने के लिये क्यों खेद उठाता है ? रे मूर्ख ! महादेवजी के मन्दिर में खाने को नैवेद्य मिलते हुए भिक्षा के लिये मत भ्रमण कर। (1374)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-74)

* * *

सोना-चाँदी जो पहाड़ों की मिट्टी है, उसे अपनी सम्पत्ति कहता है, शुभक्रिया को अमृत मानता है और ज्ञान को जहर जानता है। अपने आत्मरूप का ग्रहण करता नहीं, शरीर आदि को आत्मा मानता है, सातावेदनीय जनित लौकिक सुख में आनन्द मानता है और असाता के उदय को आफत कहता है। क्रोध की तलवार पकड़ रखी है, मान की मदिरा पीकर बैठा है। मन में माया की वक्रता है और लोभ के चक्कर में पड़ा हुआ है। इस प्रकार अचेतन की संगति से चिद्रूप आत्मा सत्य से पराङ्मुख होकर व्यर्थ में ही फँस गया है। (1375)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, मोक्ष द्वार, पद-28)

* * *

जहाँ कषाय, विषय और आहार का त्याग किया जाता है, उसे उपवास जानना, बाकी को लंघन कहते हैं। (1376) (श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह....)

* * *

इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ दिखाई देता है, जानने में आता है और अनुभव किया जाता है, वह सब आत्मा से बाह्य, नाशवान तथा चेतना रहित है। (1377)
(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, अजीव अधिकार, गाथा-44)

* * *

जहाँ आत्मा का उपयोग श्रुतज्ञान में रमण करे, जिनेन्द्रकथित शब्दों को कहे और पढ़े और मनन करे, जब मुनि शास्त्र पदों के अनुसार अपने चारित्र के स्वभाव को बनावे, तब ही ज्ञानदान कर रहे हैं, अर्थात् आपको आपसे शास्त्रदान देना और स्वसंवेदनज्ञान का अपने में प्रकाश करना या वीतरागचारित्रमयी स्वभाव की ओर झुकना, यही सच्चा ज्ञानदान है। (1378) (श्री तारणस्वामी, ममल पाहुड, भाग-1, पृष्ठ-76)

* * *

मनुष्य अन्य के अनुरोध से (प्रार्थना से) अन्य के लिये अति निन्दनीय असत्य कहकर नरकपुरी को चला जाता है, जैसे वसु राजा अनिन्द्य आचरणवाला और गुणी था, परन्तु अपने सहाध्यायी गुरुपुत्र (पर्वत) के लिये झूठी साक्षी देने से नरक को गया। यह जगत प्रसिद्ध वार्ता है, (इसकी कथा पुराणों में प्रसिद्ध है), इस कारण पर के लिये भी झूठ बोलना नरक को ले जाता है। (1379)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-9, श्लोक-41)

* * *

हे जीव! जो इन सबों से मोक्ष उत्तम ही नहीं होता तो श्री जिनेश्वरदेव धर्म, अर्थ, काम इन तीनों को छोड़कर मोक्ष में क्यों जाते? इसलिए जाते हैं कि मोक्ष सबसे उत्कृष्ट है। (1380) (श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-4)

* * *

श्री सर्वज्ञदेव ने सर्व उपदेश का मूल यह बताया है कि यदि एक बार स्वसंवेदन

रस का आस्वादी हो तो ऐसे आनन्द में मग्न हो कि फिर पर की ओर कभी भी दृष्टि न दे। स्वरूपसमाधि, वह सन्तों का चिह्न है, जो प्राप्त होने से रागादि विकार नहीं होते, जैसे आकाश में फूल नहीं होते, उसी प्रकार। (1381)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-38)

* * *

यह जीव रत्नत्रयरूप दिव्य नाव द्वारा संसार से तिरता है—पार पाता है, इसलिए यह जीव ही रत्नत्रय से युक्त होता हुआ उत्तम तीर्थ है। (1382)

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-191)

* * *

जो पुरुष स्वतन्त्रता से वर्तनवाले एकमात्र अपने चित्त को जीतने के लिये समर्थ नहीं, उस मूर्ख को ध्यान की चर्चा करने से क्या लोक में लज्जा भी नहीं आती? अपने चित्त को तो जीत सकता नहीं और लोक में ध्यान की चर्चा-वार्ता करता है कि मैं ध्यान करता हूँ, वह बड़ा निर्लज्ज है। (1383)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-22, श्लोक-24)

* * *

शरीररूपी काँचली से जिसका ज्ञानरूपी शरीर ढँका हुआ है, वह बहिरात्मा आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता; इसलिए बहुत लम्बे काल तक वह संसार में भ्रमण करता है। (1384)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-68)

* * *

आशारूप खान निधियों से भी अतिशय अगाध है। और वह इतनी अधिक गहन और विशाल है कि जो त्रैलोक्य की समस्त विभूति से भी भरना असम्भव है। मात्र एक आत्मगौरव आत्ममहत्तारूप धन द्वारा सहज में वह भरती है कि जो हजारों प्रकार की तृष्णारूप दुःखद व्याकुलता को शमन करने में एक अद्वितीय अमोघ औषध है। (1385)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-156)

* * *

जैसे अनन्त आकाश में एक नक्षत्र उसी तरह तीन लोक जिसके केवलज्ञान में

प्रतिबिम्बित हुए दर्पण में मुख की तरह भासता है, वह परमात्मा अनादि है। (1386)
(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-38)

* * *

परम शुद्ध जिसका स्वरूप है, ऐसा आत्मा, सो ही परम आत्मा का अपना शुद्ध स्वरूप है, ऐसा समझकर धर्मध्यान का उद्योग जहाँ किया जाता है, उसे आरम्भत्याग प्रतिमा जानना चाहिए। (1387) (श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-329)

* * *

विवेकी पुरुष अपनी बुद्धि अनुसार जिसमें अपना हित समझते हैं, वह थोड़ा या बहुत उपदेश ग्रहण करते हैं परन्तु 'मुझे यह कार्यकारी है, यह कार्यकारी नहीं' इतना ज्ञान तो अवश्य चाहिए। अब कार्य तो इतना है कि यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान द्वारा रागादिक घटाना, वह कार्य स्वयं को जैसे सधे, वही उपदेश का प्रयोजन ग्रहण करे, विशेष ज्ञान न हो तो भी प्रयोजन को तो भूले नहीं, यह सावधानता तो अवश्य चाहिए, जिसमें अपने हित की हानि हो, वैसा उपदेश का अर्थ समझना योग्य नहीं है। इस प्रकार स्याद्वाददृष्टि सहित जैनशास्त्रों का अभ्यास करने से अपना कल्याण होता है। (1388)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-8, पृष्ठ-303)

* * *

जो ज्ञान का सामर्थ्य है, वह तीव्र तप का भी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि ऐसा है कि अज्ञानी अनेक कष्टों को सहकर तीव्र तप को करता हुआ करोड़ों भवों में जितने कर्मों का क्षय करता है, वह आत्मभावनासहित ज्ञानी मुनि उतने कर्मों का अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर देता है, यह ज्ञान का सामर्थ्य है। (1389)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्षपाहुड़, गाथा-53)

* * *

भूतकाल में जो महात्मा योगीश्वर मोक्ष-ऐश्वर्य को प्राप्त हुए, वर्तमान में पाते हैं और भविष्य में प्राप्त करेंगे, वह सर्व परम आनन्द के धामरूप एक निज शुद्ध चिद्रूप को सम्यक् प्रकार से सर्व प्रयत्न से आराधकर उपलब्ध करके ही प्राप्त हुए हैं, पाते हैं और प्राप्त करेंगे। (1390) (श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-2, गाथा-16)

* * *

अपने को सर्व भय से रहित करना अभयदान है। जिसका सर्व सांसारिक भय नाश हो जाता है, वही भव्य है। आत्मा अभय है, वह अविनाशी अमूर्तिक है, उसको किसी के द्वारा नाश होने का और बिगड़ने का भय नहीं है। इस अभयस्वरूप आत्मा में रमण करना, सो ही सर्व भयों को नाश कर देना है। आत्मा में रमण करने से भय नोकषाय का परिणमन मिट जाता है। वही अभयदान है। (1391)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-1, पृष्ठ-76)

* * *

शस्त्रकर्म, लेखनकर्म, कृषिकर्म, विद्याकला, शिल्पकर्म, व्यापारकर्म—इन छह प्रकार के आजीविका के साधनों के द्वारा शरीर, धन और पुत्र के लाभ के लिये जिस तरह का परिश्रम तू करता है, यदि संयम के लिये एक बार भी वैसा परिश्रम करे तो क्या निर्दोष अनन्त सुख को नहीं भोग सकेगा? अवश्य तू भोग सकेगा। (1392)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-66)

* * *

जिन्होंने गुरु के समीप में न तो शास्त्र सुना है और न उसे हृदय में धारण भी किया है, उसे प्रायः करके न तो कान है और न हृदय भी है, ऐसा मैं समझता हूँ। (1393)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, उपासक संस्कार, श्लोक-21)

* * *

वस्तुस्वरूप के जाननेवाले विद्वानों ने कालकूट (हलाहल) विष और विषयों में मेरुपर्वत और सरसों के समान अन्तर कहा है अर्थात् कालकूट विष तो सरसों के समान छोटा है और विषयविष सुमेरुपर्वत के समान है। (1394)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-22, श्लोक-19)

* * *

अज्ञानभाव रखना चोरी है क्योंकि वह ज्ञानमयी आत्मा के स्वभाव को छिपा रहा है, उसकी निधि को लोप कर रहा है, इसलिए अज्ञान और मिथ्यात्वरूप चोरी को छोड़ना चाहिए। विषयों के सुख की लम्पटता को मिटाना चाहिए। (1395)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-351)

* * *

यह जिनागम सर्व प्राणियों का रक्षण करनेवाला है, उसका जिन जीवों ने आश्रय लिया है, वे अनन्त संसार सागर को उल्लंघनकर मुक्त हुए हैं। ऐसा यह जिनशासन सदा ही वृद्धिगत हो। इस जिनशासन को मैं नमस्कार करता हूँ। (1396)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, प्रत्याख्यान अधिकार, गाथा-11)

* * *

जैनधर्म में प्रतिज्ञा न लेने का दण्ड तो है नहीं। जैनधर्म में तो ऐसा उपदेश है कि पहले तत्त्वज्ञानी हो, पश्चात् जिसका त्याग करे, उसके दोष पहिचाने; त्याग करने से जो गुण होते हैं, उन्हें जाने और अपने परिणामों का विचार करे, वर्तमान परिणामों के ही भरोसे प्रतिज्ञा न कर बैठे, परन्तु भविष्य में उसका निर्वाह होता जाने तो प्रतिज्ञा करे। और शरीर की शक्ति तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादिक का भी विचार करे। इस प्रकार विचार करने के पश्चात् प्रतिज्ञा करना योग्य है, वह भी ऐसी प्रतिज्ञा करना कि जिससे प्रतिज्ञा के प्रति निरादरभाव न हो, परन्तु चढ़ता भाव हो, ऐसी जैनधर्म की आम्नाय है। (1397)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-7, पृष्ठ-243)

* * *

जिसके प्रताप से मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल पाँचों ही ज्ञानों की सिद्धि हो सके, मिथ्याज्ञान व मिथ्यात्वभाव नाश को प्राप्त हो जाये, ऐसे सरल शुद्ध मार्ग पर चलना, वह ईर्यापथ गमन या ईर्यासमिति कहलाता है। जहाँ आत्मा को परमात्मरूप जानके स्वानुभव किया जाता है, यही स्वानुभव ही ईर्यासमिति है। (1398)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-619)

* * *

जैसे हंस दूध और पानी के विशेष को (अन्तर को) जानता है, उसी प्रकार जो जीव ज्ञान के कारण विवेकवाला (भेदज्ञानवाला) होने से पर के और अपने विशेष को जानता है, वह (जैसे हंस मिले हुए दूध-जल को भिन्न करके ग्रहण करता है, उसी प्रकार) अचल चैतन्यधातु में सदा आरूढ़ होता हुआ (अर्थात् उसका आश्रय करता हुआ) मात्र जानता ही है, कुछ भी करता नहीं (अर्थात् ज्ञाता ही रहता है, कर्ता नहीं होता)। (1399)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-59)

* * *

हे स्वामी! मुझे कोई ऐसा अपूर्व उपदेश प्रदान करो कि जिससे मिथ्याबुद्धि एकदम टूट जाये, और मन भी अस्तगत हो जाये। दूसरे किसी देवों का मुझे क्या काम है? (1400)

(श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुडदोहा, गाथा-183)

* * *

द्रव्य स्वयं ही अपनी अनन्त शक्तिरूप सम्पदा से परिपूर्ण होने से स्वयं ही छह कारकरूप होकर अपना कार्य उत्पन्न करने को समर्थ है; उसे बाह्य सामग्री कुछ सहायता नहीं कर सकती। इसलिए केवलज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक आत्मा को बाह्य सामग्री की अपेक्षा रखकर परतन्त्र होना निरर्थक है। शुद्धोपयोग में लीन आत्मा स्वयं ही छह कारकरूप होकर केवलज्ञान प्राप्त करता है। (1401)

(श्री प्रवचनसार, गाथा-16 के भावार्थ में से)

* * *

आत्मा रत्न के समान है, अनादि काल का अज्ञानरूपी पाताल में पड़ा है, सो रागादि मल के छोड़ने से शीघ्र ही निर्मल हो जाता है। हे बच्चे! आत्मा उन भव्य जीवों का निर्मल होता है, और प्रत्यक्ष उनको आत्मा का दर्शन होता है। परमकला जो आत्मा की अनुभूति, वही हुई निश्चयदृष्टि, उससे आत्मस्वरूप का अवलोकन होता है। आत्मा स्वसंवेदनज्ञान करके ही ग्रहण करनेयोग्य है। जिसका मन विषय से चंचल न हो, उसी को आत्मा का दर्शन होता है। (1402)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-156)

* * *

जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को संकोचता है, उसी प्रकार जो संयमी मुनि इन्द्रियों के सेनासमूह को संवररूप करता है अर्थात् संकोचता या वशीभूत करता है, वही मुनि दोषरूपी कर्दम से भरे इस लोक में विचरता हुआ भी दोषों से लिस नहीं होता। भावार्थ—जल में कमल की तरह अलिस रहता है। (1403)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-20, श्लोक-37)

* * *

जो सम्यग्दृष्टि है, वह पुत्र-कलत्र आदि सर्व परद्रव्यों तथा परद्रव्यों के भावों में

गर्व नहीं करता। जो परद्रव्यों से अपने को बड़ा माने तो उसे सम्यक्त्व कैसा? उपशम भावों को चिन्तवन करता है। अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी तीव्र राग-द्वेष परिणामों के अभाव से उपशमभावों की निरन्तर भावना रखता है तथा अपने आत्मा को तृण समान हल्का मानता है, क्योंकि अपना स्वरूप तो अनन्त ज्ञानादिरूप है, इसलिए जब तक उसकी प्राप्ति न हो, तब तक वह अपने को तृण समान मानता है, किन्हीं पदार्थों में गर्व नहीं करता। (1404) (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-313)

* * *

कोई ऐसा समझे कि जिस प्रकार पके आम्रफल में रस, जाली, गुठली और छाल, इस प्रकार चार अंश हैं, उसी प्रकार पदार्थ में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, ये चार अंश हैं,—ऐसा नहीं है। इस प्रकार है कि जिस प्रकार आम्रफल है और उसके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण उससे अभिन्न हैं; उसी प्रकार जीवपदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, उससे अभिन्न हैं और आत्मसत्ता अपने स्वचतुष्टय से सदा अखण्डित है। (1405)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, साध्य-साधक द्वार, पद-44)

* * *

मोह का क्षय करने के लिये प्रवण (ढलती) बुद्धिवाले बुधजन इस जगत में आगम में कहे हुए अनन्त गुणों में से किन्हीं गुणों द्वारा—कि जो गुण अन्य के साथ योग रहित होने से असाधारणपना धारण करके विशेषपने को प्राप्त हैं, उनके द्वारा—अनन्त द्रव्यसन्तति में स्व-पर के विवेक को प्राप्त करो। (1406)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-90)

* * *

जहाँ तक मण्डप वहाँ तक ही बेल की बढ़वारी है और जब मण्डप का अभाव हो, तब बेल स्थिर होके आगे नहीं फैलती, लेकिन बेल में विस्तार—शक्ति का अभाव नहीं कह सकते; इसी तरह सर्वव्यापक ज्ञान केवली का है, जिसके ज्ञान में सब पदार्थ झलकते हैं, वही ज्ञान आत्मा का परमस्वभाव है। ऐसा जिसका ज्ञान है, वही शुद्धात्मा उपादेय है। यह ज्ञानानन्दरूप आत्माराम है, वही महामुनियों के चित्त का विश्राम (ठहरने की जगह) है। (1407) (श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-47)

* * *

इस संसाररूप तीव्र भय से भयभीत होनेवाले जीवों को यह अहिंसा ही एक परम औषधि है। क्योंकि यह सबका भय दूर करती है तथा स्वर्ग जाने के लिये अहिंसा ही मार्ग में अतिशय या पुष्टिकारक पाथेयस्वरूप (भोजनादि की सामग्री) है। (1408)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-8, श्लोक-49)

* * *

सम्यग्ज्ञानमयी मोह या आत्मा के अनुभव का राग हितकारी व प्रशस्त मोह है और संसार से छुड़ानेवाला है। यदि शरीर के मोह में लिप्त हो जाये तो इस शरीर के मोह से अनन्त संसार में रुलता है। (1409) (श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-376)

* * *

समस्त लोक का सार निःसार है, ऐसा समझकर तथा संसार अनन्त अपार है, ऐसा जानकर लोक के अग्र शिखर पर निवास करना, वही सुखकारक और निरुपद्रव है, ऐसा प्रमाद छोड़कर चिन्तन करो अर्थात् मोक्षस्थान ही इस लोक में सार तथा पूर्ण निरुपम सुख का स्थान है, ऐसा समझकर उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिए। (1410)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, लोकानुप्रेक्षा, गाथा-28)

* * *

सदैव जीव ऐसा करो कि जिससे आत्मा आत्मा का द्रोही न हो। जिनागम में कहा है कि अपने अवलोकन से शुद्ध-उपयोग होता है, पर का वियोग होता है, सहज पहिचान में आवे, तीन लोक का नाथ स्वयं है। विख्यात निज अनुराग द्वारा वीतरागभाव को धारण करो; यह दाव पाये हो, फिर से ऐसा उपाय मिलनेवाला नहीं है, इसलिए जिससे भवफंद मिटे, ऐसा भाव धारण करो! इससे मानस्तम्भ को मिटाकर, मायाजाल को जलाकर, क्रोध-अग्नि बुझाकर, लोभ-लहरियों को मिटाकर तथा विषय-भावना को न भाकर, इस चिदानन्दरायपद को देखो! देखो! स्वयं अपने को खोजो! पर वेदन की उच्छेदना करके, सहजभाव धारण करके, अन्तर्वेदी होकर और आनन्दधारा को निहारकर निश्चयरूप परमात्मा को देखो! (1411)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभव प्रकाश, पृष्ठ-58)

* * *

आत्मा साक्षात् परमात्मारूप है, ज्ञानलक्षण से विभूषित है, उसकी अगम्य और नित्य भूमि में परद्रव्य का प्रवेश नहीं। इसलिए मेरा धन अनुपम, स्वयंसिद्ध, अपरम्पार और अक्षय है, उसे चोर किस प्रकार ले सकता है? दूसरे मनुष्यों को पहुँचने का उसमें स्थान ही नहीं है। जब ऐसा चिन्तवन किया जाता है, तब चोर-भय नहीं रहता। ज्ञानी अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं, इसलिए निःशंक रहते हैं। (1412)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पद-55)

* * *

प्राणी संसाररूप वन में परिभ्रमण करता हुआ इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती की सब सम्पत्तियों को तो सुखपूर्वक पा लेता है, परन्तु इस प्रकार से वह समस्त दुःखों को नष्ट करनेवाले पवित्र सम्यग्दर्शन को नहीं प्राप्त कर पाता है। (1413)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-154)

* * *

हे भव्य जीवों! इस जगत में जो कुछ अधोलोक में भवनवासी देवों की, मध्यलोक में मनुष्यों की और ऊर्ध्वलोक में देवों की सामर्थ्य विस्मय उत्पन्न करने का कारण है, सो सब ही सामर्थ्य निश्चय करके इस एक आत्मा ही में है। इस कारण हम उपदेश करते हैं कि निश्चलचित्त होकर, तुम एक आत्मा ही को निरन्तर भजो। (1414)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-21, श्लोक-18)

* * *

कारण कि इस लोक में एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ समस्त सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, इसलिए जहाँ वस्तुभेद है अर्थात् भिन्न वस्तुएँ हैं, वहाँ कर्ताकर्मघटना नहीं होती—ऐसा मुनिजन और लौकिकजन तत्त्व को (वस्तु के यथार्थ स्वरूप को) अकर्ता देखो (—कोई किसी का कर्ता नहीं, परद्रव्य पर का अकर्ता ही है—ऐसा श्रद्धा में लाओ)। (1415)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-201)

* * *

प्राणियों के जिस दोष को तीव्र मिथ्यात्वरूप शत्रु करता है, उसे यहाँ न सिंह

करता है, न सर्प करता है, न हाथी करता है, न राजा करता है और न अतिशय क्रोध को प्राप्त हुआ बलवान शत्रु भी करता है। (तात्पर्य यह है कि प्राणियों का सबसे अधिक अहित करनेवाला एक यह मिथ्यात्व ही है।) (1416)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-141)

* * *

अभेदविवक्षा से तो वस्तु का स्वभाव है, वही धर्म है अर्थात् जीव का चैतन्यस्वभाव है, वही उसका धर्म है; भेदविवक्षा से उत्तमक्षमादि दशलक्षण तथा रत्नत्रयादिक हैं, वे धर्म हैं। निश्चय से अपने चैतन्य की रक्षा करना अर्थात् विभावपरिणतिरूप न परिणमना, वह धर्म है तथा व्यवहार से परजीवों को विभावरूप दुःख—क्लेशरूप न करना अर्थात् उसके ही भेदरूप अन्य जीवों को प्राणान्त न करना, वह भी धर्म है। (1417)

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-476)

* * *

जिसके केवल देह में रहने से इन्द्रिय गाँव रहता है, और जिसके परभव में चले जाने पर उज्जड़ निश्चय से हो जाता है, वह परमात्मा है। (1418)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-44)

* * *

रुद्र (महादेव) के कण्ठ में कालकूट विष रहता है, वह विष महादेवजी को कुछ भी असर नहीं कर सका, कालकूट को पचा सके, ऐसे महादेवजी भी स्त्रियों की माया में फँसकर योगक्षेम हार गये, इसलिए निश्चय होता है कि स्त्री, यही सर्व विषम विषों से भी भयंकर विष है। (1419) (श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-135)

* * *

इसलोक और परलोक—दोनों लोकों में उत्तम फल की देनेवाली सज्जनों की संगति प्राणियों की विषय-तृष्णा को नष्ट करती है, गर्व को शान्त करती है, सम्यग्ज्ञान को प्रगट करती है, नीति को उत्पन्न करती है, विपत्ति को हरती है और सम्पत्ति को संचित करती है अथवा जो सज्जन की संगति प्राणियों के समस्त दुःखों को नष्ट करने में समर्थ है, वह क्या निर्दोष फल को उत्पन्न नहीं करती? अर्थात् सज्जन की संगति समस्त

ही प्रकार के उत्तम फल को उत्पन्न करती है। (1420)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-460)

* * *

अज्ञान के कारण मृगजल में जल की बुद्धि होनी से हिरण उसे पीने के लिये दौड़ते हैं; अज्ञान के कारण अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी में सर्प का अध्यास होने से लोग (भय से) भाग जाते हैं और (उसी प्रकार) अज्ञान के कारण यह जीव पवन से तरंगवाले समुद्र की भाँति विकल्पों के समूह करता होने से, यद्यपि वह शुद्ध ज्ञानमय है, तथापि आकुल होता हुआ अपने आप कर्ता होता है। (1421)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-58)

* * *

जैसे रोग की प्रतिक्रिया करता हुआ कोई रोगी पुरुष उस रोग अवस्था में रोग के पद को नहीं चाहता अर्थात् सरोग अवस्था को नहीं चाहता तो फिर दूसरी बार रोग उत्पन्न होने की इच्छा के विषय में तो कहना ही क्या? अर्थात् फिर से रोग की उत्पत्ति को तो वह चाहनेवाला ही नहीं है। इसी प्रकार जब:—

भावकर्मों द्वारा पीड़ित होता कर्मजन्य क्रियाओं को करनेवाला ज्ञानी किसी भी कर्मपद की इच्छा नहीं करता तो फिर वह इन्द्रियों के विषयों का अभिलाषी है, ऐसा किस न्याय से कहा जा सकता है? (1422)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-272-272)

* * *

सिद्ध भगवान का स्वभाव तारणतरण है, वे अपने जिस शुद्ध भावों के द्वारा संसार से पार हुए हैं, वही स्वभाव दूसरों को भी तारने में समर्थ है। दूसरे उसी स्वभाव को पाकर संसार से पार हो जाते हैं। वे अपने शुद्ध स्वभाव से इसका उपदेश दे रहे हैं कि शुद्धोपयोग की दृष्टि ही हितकारी है। इसी दृष्टि में परमानन्द का सहयोग है। इस शुद्धोपयोगरूपी निर्मल उपदेश को जो अपने में अंकित करते हैं, उनके कर्म गल जाते हैं। (1423)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-496)

* * *

जैसे किसी का जन्म हुआ, जन्म से ही आँख के ऊपर चमड़ी का लपेटा चला आया, अन्दर आँख का प्रकाश जैसा का तैसा है, परन्तु बाह्य चर्म के आवरण से अपने को दिखता नहीं। जब कोई वैद्य मिला, तब उसने कहा कि अन्दर प्रकाश ज्योतिरूप आँख अच्छी है, उसने यत्न से चमड़ी का लपेटा दूर किया, तब उसे अपना शरीर स्वयं ही दिखाई दिया तथा दूसरों को भी देखने लगा; इसी प्रकार ज्ञान-दर्शन नयन अनादि काल से मुदित हुए चले आ रहे हैं, इसलिए स्वयं ने स्वरूप को नहीं देखा। जब श्रीगुरुरूप वैद्य मिले, तब ज्ञानावरण को दूर करने का उपाय बताते ही उसके श्रद्धान से (आवरण) दूर हुआ, तब अपना अखण्ड ज्योतिस्वरूप पद स्वयं ने देखा, तब वह अनन्त सुखी हुआ। (1424) (श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-25)

* * *

यह शरीर निश्चय से नाश होनेवाला है, सर्व सम्पत्तियाँ वियोग के सन्मुख हैं, स्त्रियाँ सदा ही सुखकारी व हितकारी व सभ्यता से व्यवहार करनेवाली नहीं हैं, अपने कुटुम्बी या पुत्र अपने मतलब से विनय करनेवाले हैं, मरण को देनेवाले और शरणरहित बहुत गहरे दुःखों से भी जिसका तिरना कठिन है, ऐसे इस साररहित संसार में सिवाय मोक्ष के दूसरा कोई पद सुख का देनेवाला नहीं है। (1425)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-107)

* * *

अति तीव्र काम की दाह से भी थोड़े ही काल तक पीड़ा रहती है परन्तु ब्रह्मचर्य को खण्डित कर देने से करोड़ों जन्मों में कष्ट सहने पड़ते हैं। (1426)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-112)

* * *

नव निधि, चौदह रत्न, घोड़ा, मत्त उत्तम हाथी, चतुरंगिणी सेना आदि सामग्रियाँ भी चक्रवर्ती को शरणरूप नहीं हैं। उसका अपार वैभव उसे मृत्यु से नहीं बचा सकता।

जन्म, जरा, मरण, रोग और भय से अपना आत्मा ही अपनी रक्षा करता है। कर्म का बन्ध, उदय और सत्ता से भिन्न अपना आत्मा ही इस संसार में शरणरूप है। कर्मों का क्षय करके जन्म-जरा-मरणादि के दुःखों से अपना आत्मा ही अपने को बचाता

हैं। (1427)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, बारसाणुवेक्खा, गाथा-10-11)

* * *

जो मनुष्य शोभायमान यौवन की पवित्र शोभा से सम्पन्न ऐसी स्त्रियों के हृदय में चिरकाल तक निवास करता है, वह सौभाग्यादि गुण और आनन्द के स्थानभूत पुण्ययुक्त होता है। अर्थात् जिसे उत्तम स्त्रियाँ चाहती हैं, वह पुण्यात्मा पुरुष है। परन्तु अभ्यन्तर नेत्र से ज्ञानमय ज्योति को शरीर से भिन्न देखनेवाले जिन साधुओं के हृदय में स्त्रियाँ कभी भी निवास नहीं करतीं, उन पुण्यशाली मुनियों को पूर्वोक्त (स्त्रियों के हृदय में रहनेवाले) पुण्यात्मा पुरुष भी नमस्कार करते हैं। (1428)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, ब्रह्मचर्य रक्षावर्ति, श्लोक-20)

* * *

जिनके पास बड़ी कठिनता से प्राप्त करनेयोग्य धन—शास्त्रज्ञान, चारित्र और शमभाव है, वे ही मानव धनवान कहे गये हैं। बाकी मानव धनवान होकर भी निर्धनी हैं। (1429)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-309)

* * *

आत्मा अपने आत्मा की ही उपासना करके परमात्मा हो जाता है; जैसे बाँस का वृक्ष स्वयं को स्वयं ही मथकर—रगड़कर अग्निरूप हो जाता है उसी प्रकार। (1430)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-98)

* * *

चिदानन्द हंस परमेश्वर तुम ही हो, स्थिर होकर सन्देह त्यागो। अपना चैतन्यस्वरूप अनुभव, पर के अनादि योग में भी आत्मा जैसा का तैसा है, पर में अत्यन्त गुप्त हुआ है। तथापि देखने का स्वभाव गया नहीं—ज्ञानभाव गया नहीं। (1431)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-82)

* * *

जिन प्रशान्त आत्मा मुनि महाराजाओं के विन्ध्याचल पर्वत नगर हैं, पर्वत की गुफायें वसतिका (गृह) हैं, पर्वत की शिला शय्या समान है, चन्द्रमा की किरणें दीपकवत् हैं, मृग सहचारी है, सर्वभूतमैत्री (दया) कुलीन स्त्री है, पीने का जल विज्ञान

और तप उत्तम भोजन है, वे ही धन्य हैं। ऐसे मुनिराज हमको संसाररूप कर्दम से निकलने के मार्ग का उपदेश देनेवाले हों। (1432)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-5, श्लोक-21)

* * *

जो कर्म अज्ञानी लक्ष्य कोटि भवों द्वारा खिपाता है, वे कर्म ज्ञानी तीन प्रकार के (मन-वचन-काया से) गुप्त होने के कारण उच्छ्वासमात्र से खिपाता है। (1433)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार, गाथा-238)

* * *

जो सब संसारी जीवों की रात है, उस रात में परम तपस्वी जागता है, और जिसमें सब संसारी जीव जाग रहे हैं, उस दशा को योगी रात मानकर योग-निद्रा में सोता है। (1434)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-47)

* * *

अहो! चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मा, सूर्य के, चन्द्र के, कल्पवृक्ष के, चिन्तामणिरत्न के, उत्तम कामधेनु के, देवलोक के, विद्वान के, तथा वासुदेव के अखण्डित गर्व को चकचूर करता हुआ विजयवन्त—अखण्ड प्रतापवन्त वर्तता है। (1435)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-17, श्लोक-12)

* * *

जो अज्ञानी जीव है, वह इन्द्रादि उच्च पद की अभिलाषा करता है, परन्तु जो सदा समतारस के रसिया हैं, वे संसार सम्बन्धी किसी वस्तु को नहीं इच्छते। (1436)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, साध्यसाधक द्वार, पद-10)

* * *

जिसके द्वारा सुख उपजे और दुःख विनशे, उस कार्य का नाम प्रयोजन है। उस प्रयोजन की जिससे सिद्धि हो, वही अपना इष्ट है। अब इस अवसर में हमको वीतराग विशेष ज्ञान का होना, वही प्रयोजन है, क्योंकि उससे निराकुल सत्य सुख की प्राप्ति होती है, सर्व आकुलतारूप दुःख का नाश होता है। और उस प्रयोजन की सिद्धि श्री अरिहन्तादिक द्वारा होती है। (1437)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-1, पृष्ठ-7)

* * *

यह आत्मा अपने ही द्वारा अपने संसार को करता है और अपने द्वारा आप ही अपने लिये मोक्ष करता है, इस प्रकार आप ही अपना शत्रु है और आप ही अपना गुरु है, यह प्रकटतया जानो; पर तो बाह्य निमित्तमात्र है। (1438)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-32, श्लोक-81)

* * *

उत्कृष्ट वैराग्य पाने पर भी मुनिराज औदासीन्य वृत्ति से शरीर का पालन करके चिरकालपर्यन्त तप करते हैं, वह मात्र ज्ञान की ही महिमा है। (1439)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-116)

* * *

ज्ञान मनुष्यों के लिये क्या-क्या नहीं करता? वह अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करता है, आत्मा में स्वानुभूतिरूप प्रकाश को उद्भूत करता है, परिणामों में शान्ति लाता है, क्रोध का विनाश करता है, धर्मभाव को विस्तारता है और पापों का विनाश करता है। (1440)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-189)

* * *

कोई प्राणी विष खाये तो उसकी वेदना से वह एक ही जन्म में कष्ट से मरता है, परन्तु जिन प्राणियों ने इन्द्रिय के भोगरूपी विष का पान किया है, वे प्राणी इस संसारवन में बारम्बार भ्रमा करते हैं—बारम्बार मरते हैं। (1441)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, शीलपाहुड, गाथा-22)

* * *

इस लोक में आग से जलनेवालों की तो शान्ति हो जाती है, परन्तु जो कामवासना की आग से जलते रहते हैं, उनकी शान्ति भव-भव में भी नहीं होती। (1442)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-92)

* * *

देव, नर, नारकी और तिर्यच के शरीर जड़ हैं; उसमें चेतन का अंश भी नहीं है। भ्रम से उसे शृंगारता है और खान-पान-अर्क-रसादि लगानेरूप अनेक यत्न करता है, झूठ में ही आनन्द मानकर हर्षित होता है। मरे हुए के साथ जीवित की सगाई करने से

कार्य को कैसे सुधारे ?

जैसे श्वान हड्डी को चबाता है और उससे अपने गाल, गला और जबड़े में से रक्त उतरता है, उसे मानो कि भला स्वाद है। उसी प्रकार मूढ़ स्वयं दुःख में सुख की कल्पना करता है, परफन्द में सुखकन्द—सुख मानता है। (1443)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-35)

* * *

जो मन अज्ञान से बिगड़ा हुआ है, (पीड़ित है), वह तो निजस्वरूप से छूट जाता है, और जो मन विज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान से वासित है, वह अपने अन्तरंग में प्रभु भगवान परमात्मा को देखता है, यह विधि है, इस कारण अज्ञान को दूर करना चाहिए। (1444)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-32, श्लोक-51)

* * *

मात्र क्रिया देखने से सम्यग्दृष्टि को विषयों में वीतरागता असिद्ध नहीं है, क्योंकि दारिद्र्य और मरणादि को नहीं चाहनेवाले लोगों को भी दारिद्र्य तथा मरणादि की प्राप्ति होती है। (1445)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-270)

* * *

जिनेश्वरदेव ने कहा दर्शन है सो गुण में और दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीन रत्न में सार है, उत्तम है, और मोक्षमन्दिर के चढ़ने को प्रथम पैड़ी है, सो आचार्य कहते हैं—हे भव्य जीव! इसको अन्तरंग भाव से धारण करो, बाह्य क्रियादिक से धारण किया सो परमार्थ नहीं, अन्तरंग की रुचि से धारण करना मोक्ष का कारण है। (1446)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, दर्शनपाहुड़, गाथा-21)

* * *

भाव में ही धर्म रहता है। भाव में ही अपने आत्मा का स्वभाव झलकता है। भाव से ही भावों की शुद्धि होती है, इस कारण निश्चय शुद्ध अणुव्रत आत्मा के शुद्ध स्वभाव में ही ही है। (1447)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-366)

* * *

जो ज्ञान बिना दुःख के भाया जाता है, वह उपसर्गादि दुःख आ पड़ने पर नाश पाता है, इसलिए मुनि को अपनी शक्ति अनुसार कायक्लेशादिरूप दुःखों से आत्मा की शरीरादि से भिन्न भावना भाना चाहिए। (1448)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-102)

* * *

मैं इस प्रकार के संसार में बसता हूँ कि जो संसार अशरण है, अशुभ है, अनित्य है, दुःखमय है और अनात्मरूप (पररूप) है और उससे विपरीत ऐसा मोक्ष का स्वरूप है। (मोक्ष उससे विपरीत स्वरूपवाला है।) इस प्रकार सामायिक में स्थित जीवों को विचार करना चाहिए। (1449)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-104)

* * *

जो इन्द्रियादि का विजय होकर उपयोग मात्र आत्मा को ध्याता है, वह कर्मों द्वारा रंजित नहीं होता; उसे प्राण किस प्रकार अनुसरे ? (उसे प्राणों का सम्बन्ध नहीं होता)। (1450)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार, गाथा-151)

* * *

हमारे हृदय में महामोहजन्य भ्रम था, इसलिए हमने जीवों पर दया नहीं की। हमने स्वयं पाप किये, दूसरों को पाप का उपदेश दिया और किसी को पाप करते देखा तो उसका समर्थन किया। मन, वचन, काया की प्रवृत्ति के निजत्व में मग्न होकर कर्मबन्ध किया और भ्रमजाल में भटककर हम पापी कहलाये, परन्तु ज्ञान का उदय होने से हमारी ऐसी अवस्था हो गयी, जैसी सूर्य का उदय होने से प्रभात की होती है। (1451)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, सर्वविशुद्धि द्वार, पद-91)

* * *

अरहन्तादि का स्वरूप वीतराग-विज्ञानमय है, उस द्वारा ही अर्हतादिक स्तुति योग्य महान हुए हैं। क्योंकि जीवतत्त्व से तो सर्व जीव समान हैं, परन्तु रागादि विकार द्वारा और ज्ञान की हीनता द्वारा तो जीव निन्दा-योग्य होते हैं तथा रागादि की हीनता द्वारा और ज्ञान की विशेषता द्वारा स्तुति-योग्य होते हैं। अब अर्हत-सिद्ध को तो सम्पूर्ण

रागादिक की हीतना और ज्ञान की विशेषता होने से सम्पूर्ण वीतरागविज्ञानभाव सम्भव है और आचार्य, उपाध्याय और साधु को एकदेश रागादिक की हीनता तथा ज्ञान की विशेषता से एकदेश वीतरागविज्ञानभाव सम्भव है, इसलिए वे अर्हतादिक स्तुतियोग्य महान जानना। (1452) (श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-1, पृष्ठ-5)

* * *

शरीर में जो आत्मबुद्धि है, वह बन्धु, धन इत्यादि की कल्पना उत्पन्न कराती है, तथा इस कल्पना से ही जगत अपनी सम्पदा मानता हुआ ठगा गया है। शरीर में ऐसा जो भाव है कि—‘यह मैं आत्मा ही हूँ’ ऐसा भाव संसार की स्थिति का बीज है, इस कारण बाह्य में नष्ट हो गया है इन्द्रियों का विक्षेप जिसके, ऐसा पुरुष उस भावरूप संसार के बीज को छोड़कर अन्तरंग में प्रवेश करो, ऐसा उपदेश है। (1453)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-32, श्लोक-21-22)

* * *

सुख के अर्थ की हुई हिंसा दुःख की परिपाटी करती है, मंगलार्थ की हुई हिंसा अमंगल करती है, तथा जीवनार्थ की हुई हिंसा मृत्यु को प्राप्त करती है। इस बात को निश्चय जानना। (1454) (श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-8, श्लोक-22)

* * *

जिसके वश में पाँचों इन्द्रियाँ हैं और जिसका मन दुष्ट या दोषी नहीं है, जिसका आत्मा धर्म में रत है, उसका जीवन सफल है। (1455)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-85)

* * *

जैसे किसी का पुत्र घर में है और बाजार में किसी ने उसको पूछा, आपका पुत्र है? तब वह कहता है कि मेरे पुत्र है, अभाव नहीं कहता। व्यवहार में भी यह रीति है कि विद्यमान को अविद्यमान नहीं कहते। परन्तु हे चिदानन्द! तेरा तो आश्चर्य आता है कि दर्शन-ज्ञान शक्ति विद्यमान होने पर भी अविद्यमान रखी है। (1456)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-22)

* * *

इस संसार में जितने भी विधि-विधान हैं, वे सब ज्ञान के बिना कभी भी कल्याणकारी नहीं होते अर्थात् समझ-बूझकर करने पर ही वे सब व्यवहार हितकारी होते हैं। इसलिए अपने अहित से बचने के इच्छुक और हित के अभिलाषी पुरुष ज्ञान का ही आश्रय लेते हैं। (1457) (श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-192)

* * *

यह जिनवचन है, सो औषध है। वह कैसा औषध है? विषय जो इन्द्रिय के विष, उनसे माना सुख, उसका विरेचन अर्थात् दूर करनेवाले हैं और कैसा है?— अमृतभूत अर्थात् अमृत सरीखा है, इससे जरा-मरणरूप रोग का हरनेवाला है, और सर्व दुःखों का क्षय करनेवाला है। (1458) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, दर्शनपाहुड़, गाथा-17)

* * *

चक्रवर्ती तप करने के लिए सुदर्शन चक्र का त्याग करते हैं, उसमें सज्जनों को कुछ आश्चर्य नहीं लगता। क्योंकि वह तप साधुओं को अविनाशी अनुपम मोक्ष सम्पत्ति को प्रदान करता है। परन्तु परम आश्चर्य तो यह होता है कि जो कोई साधु तप को छोड़कर इन्द्रिय-विषयों को ग्रहण करता है, जो यह महान भयानक संसार-समुद्र में अनेक दुःखों को देता है। यह बात बहुत आश्चर्यकारी है। (1459)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-97)

* * *

इस संसार में सुख तो दो दिन का है, फिर तो दुःखों की परिपाटी है; इसलिए हे हृदय! मैं तुझको शिक्षा देता हूँ कि तेरे चित्त को तू वाड कर, अर्थात् मर्यादा में रख, और सच्चे मार्ग में जोड़। (1460) (श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड़ दोहा, गाथा-106)

* * *

जहाँ आत्मा अपने स्वभाव में है अथवा आत्मा परमात्मा का ध्यान कर रहा है या परमपद जो मोक्ष है, उसका मनन करता है, उसी के अहिंसाव्रत महाव्रत होता है। (1461)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-375)

* * *

दही के मंथन से घी की सत्ता साधी जाती है, औषधियों की क्रिया में रस की सत्ता है, शास्त्रों में जहाँ-तहाँ सत्ता का ही कथन है, ज्ञान का सूर्य सत्ता में है, अमृत का पुंज सत्ता में है। सत्ता को छुपाना, वह सायंकालीन अन्धकार समान है और सत्ता को मुख्य करना, वह प्रातःकालीन सूर्य का उदय करने समान है। सत्ता का स्वरूप ही मोक्ष है, सत्ता का भूलना, वही जन्म-मरण आदि दोषरूप संसार है, अपनी आत्मसत्ता का उल्लंघन करने से चार गति में भटकना पड़ता है। जो आत्मसत्ता के अनुभव में विराजमान है, वही भला मनुष्य है और जो आत्मसत्ता छोड़कर अन्य की सत्ता का ग्रहण करता है, वही चोर है। (1462) (श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, मोक्ष द्वार, पद-23)

* * *

अविवेकी मानव स्त्री के संसर्ग को सुख कहते हैं किन्तु विचार किया जावे तो यह ही दुःखों के बड़े भारी बीज हैं। (1463)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-90)

* * *

धर्म गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बान्धव है, हितू है और धर्म ही बिना कारण अनर्थों का प्रीतिपूर्वक रक्षा करनेवाला है। इस प्राणी को धर्म के अतिरिक्त और कोई शरण नहीं है। (1464) (श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-3, श्लोक-11)

* * *

परम गुरु ऐसा उपदेश करते हैं, जो ज्ञानस्वभाव सहित तथा आनन्दमयी होता है, उसमें केवलज्ञान का कारण ऐसा ज्ञानमयी अंकुर दीख पड़ता है, वही आनन्दमयी और ज्ञान स्वभावमयी भेदविज्ञान है। (1465) (श्री तारणस्वामी, उपदेश-शुद्धसार, श्लोक-18)

* * *

जैसे कोई नट बैल का स्वाँग लाया हो और अपना स्वरूप भूल गया, वह पूछने लगे कि—‘मैं नर की पर्याय कब प्राप्त करूँगा?’ वह झूठ ही पूछता है। स्वयं नर ही है, भूल से यह रीति (भ्रमणा) हुई है। उसी प्रकार चिदानन्द स्वयं भूला है, पर में अपने को जानता है, अपने से अपनी भूल मिटे। सदा उपयोग धारक आनन्दरूप आप स्वयं ही

बना है। यत्न (पुरुषार्थ) बिना निजनिहाल का (अपने स्वरूप का निहालना) कार्य नहीं होता। निजश्रद्धा आने पर निज अवलोकन होता है। (1466)

(श्री दीपचन्दजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-8)

* * *

(नव रसों के पारमार्थिक स्थानः—) आत्मा को ज्ञानगुण से विभूषित करने का विचार, वह शृंगाररस है, कर्म-निर्जरा का उद्यम, वह वीररस है, अपने ही जैसे सर्व जीवों को समझना, वह करुणा रस है; मन में आत्म-अनुभव का उत्साह, वह हास्यरस है; आठ कर्मों का नाश करना, वह रौद्र रस है; शरीर की अशुचि का विचार करना, वह वीभत्सरस है; जन्म-मरण आदि का दुःख चिन्तवन करना, वह भयानकरस है; आत्मा की अनन्त शक्ति का चिन्तवन करना, वह असद्भुतरस है; दृढ़ वैराग्य धारण करना, वह शान्तरस है। जब हृदय में सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, तब इस प्रकार नव रस का विलास प्रकाशित होता है। (1467)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, सर्वविशुद्धि द्वार, पद-135)

* * *

जो कोई किसी मनुष्य को मर जाने के बदले में नगर, पर्वत तथा सुवर्ण रत्न, धन-धान्यादिक से भरी हुई समुद्रपर्यन्त की पृथ्वी का दान करे तो भी अपने जीवन को त्याग करने में उसकी इच्छा नहीं होगी। भावार्थ—मनुष्यों को जीवन इतना प्यारा है कि मरने के लिये जो कोई समस्त पृथ्वी का दान दे तो भी मरना नहीं चाहता। इस कारण एक जीव को बचाने में जो पुण्य होता है, वह समस्त पृथ्वी के दान से भी अधिक होता है। (1468)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-8, श्लोक-35)

* * *

आत्मा को ज्ञान और सुखरूप से परिणमने में इन्द्रियादि पर निमित्तों की आवश्यकता नहीं। क्योंकि स्व-परप्रकाशकपना जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है, ऐसा ज्ञान और अनाकुलता जिसका लक्षण है, ऐसा सुख आत्मा का स्वभाव ही है। (1469)

(श्री प्रवचनसार, गाथा-19 का भावार्थ)

* * *

हे योगी ! इस संसाररूपी वन में जिन बड़े भयानक नाना प्रकार के कर्मरूपी तीव्र शत्रुओं के द्वारा अनादिकाल से तूने असहनीय दुःख को पाया है, ऐसा कोई कष्ट बाकी रहा नहीं जो तूने न पाया हो। उन कर्मरूपी शत्रुओं को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूपी आत्मध्यान की तलवार से जड़-मूल से नाश करके मोक्ष के महान नगर में जाकर पापरहित आनन्द से भरे हुए तथा सर्व बाधारहित राज्य को प्राप्त कर। (1470)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-83)

* * *

प्राथमिक अवस्था में जिसे आत्मदर्शन हुआ है, ऐसे अन्तरात्मा को जगत् उन्मत्त जैसा ज्ञात होता है, और बाद में आत्मस्वरूप के अभ्यास में परिपक्व बुद्धिवाले अन्तरात्मा को यह जगत काष्ठ पाषाण जैसा भासित होता है। (1471)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-80)

* * *

यह प्रत्यक्ष अचल पर्वतों की श्रेणी कदाचित् चलायमान भी हो जाये तो आश्चर्य नहीं, किन्तु साम्यभाव में प्रतिष्ठित मुनि का चित्त उपसर्गों से कदापि नहीं चलता, ऐसा लीन हो जाता है। (1472)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-24, श्लोक-30)

* * *

स्वरूप का अनुभव, वह शिवपद स्वरूप का अनुभव है। त्रिभुवनसार अनुभव अनन्त कल्याणरूप है, अनुभव महिमा भण्डार है, अनुभव अतुलबोध फल है, अनुभव स्वरस रस है, अनुभव स्वसंवेदन है, अनुभव तृप्तिभाव है, अनुभव अखण्डपद सर्वस्व है, अनुभव रसास्वाद है। अनुभव विमलरूप है, अनुभव अचल ज्योतिरूप को प्रगटकरण है, अनुभव अनुभव के रस में अनन्तगुणा रस है, पंच परमगुरु अनुभव से हुए और होंगे। सकल सन्त-महन्त-भगवन्त अनुभव के साथ जुड़ेंगे, इसलिए जो गुणवन्त हैं, वे अनुभव को करो। सकल जीवराशि स्वरूप को अनुभवो ! इस अनुभवपंथ को निर्ग्रन्थ साध-साधकर भगवान हुए। (1473)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-95)

* * *

मोक्ष का मार्ग अमर अविनाशी आत्मा का स्वभाव है, यही अविनाशी मुक्ति के

शुद्ध ज्ञान के प्रकाश का सहकारी है, यही शुद्ध ज्ञान का साधन है, इस विमल साधन से कर्म विला जाते हैं। (1474) (श्री तारणस्वामी, उपदेश-शुद्धसार, श्लोक-507)

* * *

जैसे दुर्जन के प्रति किया गया उपकार व्यर्थ जाता है, उसी प्रकार हे जीव! तू इस शरीर को मिलाकर, तेल मर्दन कर और इसे सुमिष्ट आहार दे—यह सब निरर्थक जानेवाला है अर्थात् यह शरीर तेरे ऊपर कुछ उपकार करनेवाला नहीं है, इसलिए तू इसकी ममता छोड़। (1475) (श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-18)

* * *

जिसमें (जिस खड्डे में) छिपे हुए भयंकर क्रोधादि सर्प दिख नहीं सकते, ऐसा जो मिथ्यात्वरूपी घोर अन्धकारवाला मायारूपी महान खड्डा, उससे डरते रहनायोग्य है। (1476) (श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-221)

* * *

यह ज्ञानरूपी धन ऐसा विलक्षण है कि जिसे चोर तो चोर नहीं सकते, भाई-बन्धु भाग नहीं पड़ा सकते, मरण के पश्चात् पुत्र आदि ले नहीं सकते, राजा छीन नहीं सकता और दूसरे लोग आँखों द्वारा देख नहीं सकते। तीन लोक में यह ज्ञान पूज्य है। यह ज्ञानधन जिसके पास हो, उन लोगों को धन्य समझा जाता है। (1477)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषित रत्न सन्दोह, श्लोक-186)

* * *

बुद्धिमान लोग अपने इच्छारूपी रोगों का शमन करते हैं, उनसे हटाकर अपनी आत्मा को आत्मस्वरूप की ओर लगाते हैं, वह ही परम तत्त्व है। यह बात ब्रह्मज्ञानी सन्तों ने कही है। (1478) (श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, गाथा-83)

* * *

(हे जिनेन्द्र!) दैवयोग से मैं स्वर्ग में होऊँ, इस मनुष्यलोक में होऊँ, विद्याधर के स्थान में होऊँ, ज्योतिष्कदेवों के लोक में होऊँ, नागेन्द्र के नगर में होऊँ, नरकों के निवास में होऊँ, जिनपति के भवन में होऊँ या अन्य किसी भी स्थान में होऊँ, (परन्तु)

मुझे कर्म का उद्भव न हो, बारम्बार आपके पदपंकज की भक्ति हो। (1479)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-28)

* * *

कभी बढ़ जाने से अथवा कभी घट जाने से, अथवा किसी समय नहीं दिखने से, वह इन्द्रियज्ञान मृगी के रोग के वेग समान मूर्च्छित है। (1480)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-284)

* * *

अन्तरंग में आत्मा के वास्तविक स्वरूप को देखकर और बाह्य में शरीरादि पर भावों को देखकर दोनों के—आत्मा और शरीरादिक के—भेदविज्ञान से तथा उसके अभ्यास से अच्युत अर्थात् मुक्त हुआ जाता है। (1481)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-79)

* * *

जो (वस्तुस्वरूप को) न्यूनता रहित, अधिकता रहित, विपरीतता बिना—विपरीतता रहित और सन्देह रहित जैसा है, वैसा जानता है, उसे गणधर या श्रुतकेवली सम्यग्ज्ञान कहते हैं। (1482)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-42)

* * *

यदि ऐसा पूछा जाये कि देवगति प्राप्त देवेन्द्रों को तो बहुत सुख होता है, तो फिर देवगति के सभी जीवों को दुःख सहन करनेवाला कैसे बताया है ? तो इसका समाधान यह है कि देवेन्द्रों को इन्द्रिय-विषयों से उत्पन्न जो सुख होता है, वह दाह उत्पन्न करनेवाली तृष्णा देनेवाला है, उसे वास्तव में दुःख समझना चाहिए। (1483)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, अधिकार-3, गाथा-34)

* * *

निश्चय और व्यवहार—इन दो नयों को विषय के भेद से परस्पर विरोध है; इस विरोध को नाश करनेवाला, 'स्यात्' पद से चिह्नित जो जिन भगवान का वचन (वाणी), उसमें जो पुरुष रमते हैं (—प्रचुर प्रीतिसहित अभ्यास करते हैं), वे पुरुष अपने आप (अन्य कारण बिना) मिथ्यात्व कर्म के उदय का वमन करके इस अतिशयरूप परमज्योति

को प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को तुरन्त देखते ही हैं। (1484)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-4)

* * *

इस लोक में पुण्यहीन मनुष्य के हाथ में रखा पदार्थ भी नष्ट हो जाता है और भाग्यशाली के दूर से आकर रत्न हाथ में आ जाता है। (1485)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-372)

* * *

गुरु के चरणयुगल द्वारा मुक्ति-पदवी प्राप्त करने के लिये जो निर्ग्रन्थता मुझे दी गयी है, उसके निमित्त से उत्पन्न हुए आनन्द के प्रभाव से मेरा मन इन्द्रियविषयजनित सुख को दुःखरूप ही मानता है। ठीक है—प्राप्त हुई खली, तब तक ही स्वादिष्ट लगती है, जब तक अतिशय मीठी, तृप्त करनेवाली सफेद मिश्री प्राप्त नहीं होती। (1486)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, परमार्थ विंशति, श्लोक-16)

* * *

उद्धत ज्ञान (—किसी का दबाया दबता नहीं, ऐसा उन्नत ज्ञान) जिसका लक्षण है, ऐसे शुद्धनय में रहकर अर्थात् शुद्धनय का आश्रय करके जो सदा एकाग्रपने का ही अभ्यास करते हैं, वे निरन्तर रागादि से रहित चित्तवाले वर्तते हुए, बन्धरहित ऐसे समय के सार को (अर्थात् अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को) देखते हैं—अनुभव करते हैं। (1487)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-120)

* * *

प्रथम अवस्था में भव्य जीवों को पंच परमेष्ठी ध्यानेयोग्य हैं, उनके आत्मा का स्तवन, गुणों की स्तुति, वचन से उनकी अनेक तरह की स्तुति करनी, और मन से उनके नाम के अक्षर तथा उनका रूपादिक ध्यानेयोग्य है, तो भी पूर्वोक्त निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति के समय केवलज्ञानादि अनन्त गुणरूप परिणत जो निज शुद्धात्मा, वही आराधनेयोग्य है, अन्य नहीं। तात्पर्य यह है कि ध्यान करनेयोग्य या तो निज आत्मा है, या पंच परमेष्ठी है, अन्य नहीं। प्रथम अवस्था में तो पंच परमेष्ठी का ध्यान करनायोग्य है, और निर्विकल्पदशा में निजस्वरूप ही ध्यानेयोग्य है, निजरूप ही उपादेय है। (1488)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-31)

* * *

क्रिया की भूमि पर मोह महाराजा का निवास है, क्रिया अज्ञानभावरूप राक्षस का नगर है, क्रिया कर्म और शरीर आदि पुद्गलों की मूर्ति है, क्रिया साक्षात् मायारूप शक्कर लपेटी हुई छुरी है, क्रिया के जंजाल में आत्मा फँस गया है, क्रिया की आड़ ज्ञान-सूर्य के प्रकाश को छिपा देती है। श्रीगुरु कहते हैं कि क्रिया से जीव कर्म का कर्ता होता है, निश्चयस्वरूप से देखो तो क्रिया सदैव दुःखदायक है। (1489)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, सर्वविशुद्धि द्वार, पद-97)

* * *

मतिज्ञान और सुख आदि से होते समय इन्द्रियाँ तो मात्र बाह्य हेतु हैं परन्तु उपादानकारण नहीं; क्योंकि उपादानकारण तो आत्मा ही होता है, इसलिए वह इन्द्रियज्ञान—सुखादि में इन्द्रियाँ तो अहेतु बराबर ही है। देखो! मृतक अवस्था में इन्द्रियाँ रहने पर भी इन्द्रियज्ञान या सुख होता ही नहीं। (1490)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-351 का भावार्थ)

* * *

हे आत्मन्! तू आत्मा के प्रयोजन का आश्रय कर अर्थात् और प्रयोजनों को छोड़कर केवल आत्मा के प्रयोजन का ही आश्रय कर तथा मोहरूपी वन को छोड़, विवेक अर्थात् भेदज्ञान को मित्र बना। संसार देह के भोगों से वैराग्य का सेवन कर, और परमार्थ से जो शरीर और आत्मा में भेद है, उसका निश्चय से चिन्तन कर और धर्मध्यानरूपी अमृत के समुद्र के मध्य में परम अवगाहन (स्नान) करके अनन्त सुख स्वभावसहित मुक्ति के मुखकमल को देख। (1491)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-42, श्लोक-2)

* * *

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि थोड़े ही प्रयत्न से शुद्ध भावों के द्वारा और सन्त पुरुषों के द्वारा समभाव प्राप्त कर लिया जाता है। (1492)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-71)

* * *

यदि इस दुर्गन्ध से भरे हुए तथा मलिन शरीर से सुख को करनेवाली स्वर्ग और मोक्ष की सम्पत्तियाँ प्राप्त की जाती हैं, तब क्या हानि होती है? यदि निन्दनीय निर्माल्य

के द्वारा सुखदाई रत्न मिल जाये, तब जगत की मर्यादा को जाननेवाले किस पुरुष से लाभ न माना जायेगा ? (1493) (श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-18)

* * *

हिंसादि पाँच अव्रतों को छोड़कर अहिंसादि व्रतों में निष्ठावान रहना अर्थात् उनका दृढ़ता से पालन करना; पश्चात् आत्मा के परम वीतराग पद को प्राप्त करके उन व्रतों को भी तजना। (1494) (श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-84)

* * *

कर्म में (कर्मकाण्ड में) ज्ञान का प्रकाशित होना नहीं होने से समस्त ही कर्म से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती; ज्ञान में ही ज्ञान का प्रकाशित होना होने से केवल (एक) ज्ञान से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है, इसलिए ज्ञानशून्य बहुत जीव, पुष्कल (बहुत प्रकार के) कर्म करने से भी इस ज्ञानपद को प्राप्त नहीं करते और इस ज्ञानपद को नहीं प्राप्त करते हुए वे कर्मों से मुक्त नहीं होते, इसलिए कर्म से मुक्त होने के इच्छुक को केवल (एक) ज्ञान के अवलम्बन से नियत ही ऐसा यह एक पद प्राप्त करनेयोग्य है। (1495)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-205)

* * *

जो कठिनता से नाश करनेयोग्य बड़े कठोर कर्मरूपी पर्वतों को चूर्ण करने में किसी से हटाया न जा सके, ऐसा वज्र है, जो कठिनता से पार होनेयोग्य ऐसे संसार समुद्र से पार ले जाने में सर्व जीवों के लिये एकरूप सामान्य जहाज है, जो सर्व शरीरधारी प्राणियों की रक्षा करने में पिता के समान सदा माना गया है, वह सर्वज्ञ भगवान से कहा हुआ धर्म हमें संसार से हमेशा रक्षित करे। (1496)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-13)

* * *

जो करने को समर्थ हो सो तो करिये, और जो करने को समर्थ नहीं हो तो श्रद्धा करिये, इसलिए केवली भगवान ने श्रद्धान करनेवाले के सम्यक्त्व कहा है। (1497)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, दर्शनपाहुड, गाथा-22)

* * *

शत्रु, माता-पिता, स्त्रियाँ, भाई, पुत्र और स्वजन (ये सब) मेरे शरीर का अपकार-उपकार करते हैं, मेरे चेतन आत्मा का नहीं। मेरे चेतन आत्मा से यह अचेतन शरीर वास्तव में भिन्न है, इसीलिए उन शत्रुओं पर द्वेष और स्वजनादि में राग करना, मेरे लिये कैसे उचित हो सकता है? क्योंकि वे मेरे आत्मा को कोई उपकार तथा अपकार नहीं करते। (1498) (श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, संवर अधिकार, गाथा-12-13)

* * *

जैसे जेल में पड़ा हुआ व्यक्ति बन्धन के कारणों को सुनकर डर जाता है और हताश हो जाता है परन्तु यदि उसे मुक्ति का उपाय बताया जाता है तो उसे आश्वासन मिलता है और वह आशान्वित हो मुक्ति का प्रयास करता है, इसी तरह अनादि कर्मबन्धबद्ध प्राणी प्रथम ही बन्ध के कारणों को सुनकर डर न जाये और मोक्ष के कारणों को सुनकर आश्वासन को प्राप्त हो, इस उद्देश्य से मोक्षमार्ग का निर्देश सर्वप्रथम किया है। (1499)

(आचार्य अकलंकदेव, तत्त्वार्थवार्तिक, भाग-1, पृष्ठ-266)

* * *

हे जिनवाणी माता! महामुनि जब पहले तुम्हारा अवलम्बन लेते हैं, तब ही वे मोक्षपद का आश्रय लेते हैं। ठीक है—अन्धकार से व्याप्त घर में दीपक का आश्रय लेकर ही मनुष्य इच्छित वस्तु प्राप्त करता है। (1500)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, श्रुतदेवता स्तुति, श्लोक-12)

* * *

इस मनुष्यजन्म का फल धर्म की प्राप्ति है। वह निर्मल धर्म यदि मेरे पास है तो फिर मुझे आपत्ति के विषय में भी क्या चिन्ता है तथा मृत्यु से भी क्या डर है? अर्थात् वह धर्म होने पर न तो आपत्ति की चिन्ता रहती है और न तो मरण का डर रहता है।

(1501)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, एकत्वभावना, श्लोक-11)

* * *

व्यवहारनयकर विकल्पसहित अवस्था में तत्त्व के विचार के समय आप और पर का जानपना ज्ञान कहा है, और निश्चयनयकर वीतराग निर्विकल्प समाधिसमय

पदार्थों का जानपना मुख्य नहीं लिया है। केवल स्वसंवेदनज्ञान ही निश्चयसम्यग्ज्ञान है। व्यवहारसम्यग्ज्ञान तो परम्परा से मोक्ष का कारण है और निश्चयसम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्ष का कारण है। (1502) (श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-29)

* * *

हे वत्स! थोड़े काल में जिसका क्षय हो जाता है, ऐसे बहुत अक्षरों को तुझे क्या करना है? मुनि तो जब अनक्षर (शब्दातीत-इन्द्रियातीत) होते हैं, तब मोक्ष को प्राप्त करते हैं। (1503) (श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-124)

* * *

इन्द्रियों के विषयों में तृष्णा रखनेवाले को भीषण अन्तर्दाह होता दिखाई देता है, क्योंकि उस अन्तर्दाह के बिना उन जीवों को विषयों में रति कैसे हो सकती है? (1504) (श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-255)

* * *

जो विषयसुख से विरक्त है, शुद्ध तत्त्व में अनुरक्त है, तप में लीन जिनका चित्त है, शास्त्रसमूह में जो मत्त है (अतिशय प्रीतिवन्त है), गुणरूपी मणियों के समुदाय से युक्त है और सर्व संकल्पों से मुक्त है, वे मुक्ति सुन्दरी के वल्लभ क्यों न होंगे? (अवश्य होते ही हैं।) (1505) (श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-115)

* * *

इन्द्रियों के भोगों से होनेवाला सुख, सुख-सा दिखता है, परन्तु वह सच्चा सुख नहीं है। वह तो कर्मों का विशेष बन्ध करानेवाला है तथा दुःखों को देने में एक पण्डित है अर्थात् महान दुःखदायक है। (1506) (श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-77)

* * *

आत्मा में लगे हुए कर्मों के आवरण को योगी एक क्षणमात्र में उखाड़ देते हैं, जैसे तीव्र गति से चलनेवाली महान बलवान पवन सूर्य पर लगे हुए मेघसमूह को क्षणमात्र में भगा देती है। (1507)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, चूलिका अधिकार, गाथा-9)

* * *

अन्तरंग जल्पयुक्त जो विकल्प जाल है, वह आत्मा के दुःख का मूल कारण है। विकल्प जाल का नाश होने पर हितकारी परमपद की प्राप्ति होती है—ऐसा प्रतिपादन किया है। (1508) (श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र-गाथा-85)

* * *

हे जीव! जब तक वृद्धावस्था न आवे, जब तक रोगरूप अग्नि शरीररूपी तेरी झोंपड़ी को न जलाये, जब तक इन्द्रियों का बल न घटे, तब तक में तेरा आत्महित कर ले। (1509) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड, गाथा-132)

* * *

जिसके चित्त में ज्ञान का विस्फुरण हुआ नहीं और जो कर्म के हेतु को ही (पुण्य-पाप को ही) करता है, वह मुनि सकल शास्त्रों को जानता हो तो भी सुख को नहीं प्राप्त करता। (1510) (मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-24)

* * *

जो कोई शुद्ध भाव करके पात्रों को शुद्ध आहारदान अर्थात् आत्मज्ञान देता है, सो स्वाभाविक आत्मज्ञान का आहार पात्र को देकर उसका सांसारिक दुःख नाश कर देता है। (1511) (श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-286)

* * *

जो पाप है, उसको जो पाप जानता है, यह तो सब कोई जानता है। परन्तु जो पुण्य को भी पाप कहता है, ऐसा पण्डित कोई विरला ही होता है। (1512) (श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-71)

* * *

मधु का एक-एक कण चूँकि असंख्यात जीवों के घात से उत्पन्न होता है, इसलिए विद्वान मनुष्य उसे कैसे खाता है? अर्थात् उसे विवेकी मनुष्य कभी नहीं खाता है। सात गाँवों के भस्म होने पर मनुष्य को जो सर्वथा पाप होता है, वही पाप मधु (शहद) के एक कण के खाने पर होता है—ऐसा आगम में कहा गया है। (1513)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-550-551)

* * *

हे मूढ़ प्राणी! इस संसार में तेरे सन्मुख जो कुछ सुख वा दुःख है, उन दोनों को ज्ञानरूपी तुला में (तराजू में) चढ़ाकर तौलेगा तो सुख से दुःख ही अनन्त गुणा दिख पड़ेगा, क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है। (1514)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-2, श्लोक-12)

* * *

आत्मा को जानने के लिये अर्थात् ईश्वर की खोज करने के लिये कोई तो त्यागी बन गये हैं, कोई दूसरे क्षेत्र में यात्रा आदि के लिये जाते हैं, कोई प्रतिमा बनाकर नमस्कार, पूजन करते हैं। कोई डोली में बैठकर पर्वत पर चढ़ते हैं, कोई कहते हैं कि ईश्वर आकाश में है और कोई कहते हैं कि पाताल में है, परन्तु अपना प्रभु दूर देश में नहीं—अपने में ही है, वह अपने को भलीभाँति अनुभव में आता है। (1515)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, बन्ध द्वार, पद-48)

* * *

सामायिक के समय में कृषि आदि आरम्भसहित सभी अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह होते ही नहीं, इसलिए उस समय गृहस्थ, वस्त्र ओढ़ा हुआ (उपसर्गग्रस्त) मुनि समान मुनिभाव को प्राप्त करता है। (1516)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-102)

* * *

सुन! आज एक अपूर्व शिक्षा भरी बात तुझे कहते हैं कि तुझसे अपमानित हुए वे कषायें मात्सर्यता को प्राप्त कर कर्मोदयवशात् अपना अनादि आकार बदलकर अभी भी तेरे जैसे तपस्वी, तेरे जैसे ज्ञानी, और तेरे जैसे विरति आदि गुणी पुरुषों के प्रति सूक्ष्म अदेशक (अन्य का उत्कर्ष नहीं सहन होना, उस) भावरूप से अपना काम कर रही हैं, जो अति दुर्जय है, उसका विचार विचारकर तू क्षीण कर। जो महान दोष कोई विरल पुरुष ही छोड़ सके हैं। (1517) (श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-215)

* * *

यह अज्ञानी प्राणी, 'अमुक मर गये, अमुक मरण-सन्मुख हैं और अमुक निश्चित मरेंगे ही'—ऐसे हमेशा दूसरे के विषय में तो गिनती किया करता है परन्तु शरीर, धन,

स्त्री आदि वैभव में महामोह से पकड़ा हुआ मूर्ख मनुष्य अपने समीप आयी हुई मृत्यु को देखता भी नहीं। (1518) (श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-388)

* * *

उन ज्ञानी को पूर्व में बँधे हुए समस्त प्रत्यय मिट्टी के ढेले समान हैं और वे (मात्र) कार्मणशरीर के साथ बँधे हुए हैं। (1519)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-169)

* * *

द्रव्यानुयोगरूपी दीपक जीव और अजीव सुतत्त्वों को, पुण्य तथा पाप को और बन्ध तथा मोक्ष को भावश्रुतज्ञान का प्रकाश हो, इस प्रकार से विस्तारपूर्वक निरूपण करता है—प्रगट करता है। (1520)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-46)

* * *

उसी एक जन्म के नाश करनेवाले हलाहल विष को खा लेना अच्छा है, परन्तु अनन्त जन्मों में दुःख देनेवाले भोगरूपी विष को भोगना ठीक नहीं है। (1521)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-76)

* * *

संसार में सम्पूर्ण कर्मों का उदय समय-समय में वास्तव में तो आत्मा को दुर्वार वज्रघात की भाँति चूर्ण कर डालता है। (1522)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-246)

* * *

वे ही महापुरुष इस परमात्मप्रकाश ग्रन्थ के अभ्यास करने के योग्य जानो, जो चतुर्गतिरूप संसार के दुःखों से डर गये हैं, और मोक्ष पद को चाहते हैं। (1523)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-207)

* * *

जिस संसार में अनेक उपायों से पालन पोषण करके बढ़ाई हुई भी यह अपनी देह भी अपनी नहीं होती है, वहाँ अपने-अपने पूर्व में बाँधे हुए कर्मों के वश पड़े हुए

पुत्र, स्त्री, मित्र, पुत्री, दामाद और पिता आदिक बिल्कुल भिन्न पदार्थ किन जीवों के अपने प्रगटपने हो सकते हैं? ऐसा जान करके बुद्धिमान मानव को सदा अपनी बुद्धि अपने आत्मा में स्थिर करना उचित है। (1524)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-12)

* * *

इस शरीर में आत्मा की भावना अन्य शरीर ग्रहणरूप भवान्तर प्राप्ति का बीज है और आत्मा में ही आत्मा की भावना, वह शरीर के सर्वथा त्यागरूप मुक्ति का बीज है। (1525)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-74)

* * *

विष भला, विषधर—सर्प भी भला, अग्नि और वनवास का सेवन भी भला, परन्तु जिनधर्म से विमुख ऐसे मिथ्यात्वियों का सहवास भला नहीं है। (1526)

(मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-20)

* * *

जो आक्षेप करके कथा को नहीं कहता है—किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य करके प्रवचन नहीं करता है। जो ईर्ष्या को नहीं करता है, अपनी प्रशंसा नहीं करता है, दूसरों की हँसी नहीं करता है—निन्दा नहीं करता है, दूसरों के रहस्यों को नहीं कहता है, क्रोध को नष्ट करता है, शान्ति को स्थिर करता है और प्रीति से च्युत नहीं होता है—उसे स्थिर रखता है, उस निराभिमानी मनुष्य को विद्वान पुरुष सज्जन कहते हैं। (1527)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-452)

* * *

चक्षु को आत्महितकारी पदार्थों को ही देखना चाहिए, जिससे ऐसे ज्ञान की प्राप्ति हो, जिससे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद पा सके, जिससे शुद्ध सम्यग्दर्शन की अनुमोदना की जावे। यदि शरीर के रागवर्धक पदार्थों को देखा जायेगा तो दर्शनावरण का बन्ध होगा। (1528)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-362)

* * *

जिस प्रकार खेत में पड़ा हुआ बीज खारे जल के त्याग से और मीठे जल के योग से मधुर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तत्त्व श्रवण के योग से तत्त्व वार्ता सुनने के प्रभाव से उत्तम ध्यान उत्पन्न होता है। (1529)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, मोक्ष अधिकार, गाथा-50)

* * *

जो पुरुष इस जिनभाषित ज्ञानरूप जल को प्राप्त करके अपने निर्मल भले प्रकार विशुद्धभाव संयुक्त होते हैं, वे पुरुष तीन भुवन के चूड़ामणि और शिवालय अर्थात् मोक्ष मन्दिर में रहनेवाले सिद्ध परमेष्ठी होते हैं। (1530)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, चारित्रपाहुड, गाथा-41)

* * *

जिनके हृदय में गणधर जैसा स्व-पर का विवेक प्रगट हुआ है, जो आत्मानुभव से आनन्दित होकर मिथ्यात्व को नष्ट करते हैं। सच्चे स्वाधीन सुख को सुख मानते हैं, अपने ज्ञानादि गुणों की अविचल श्रद्धा करते हैं, अपने सम्यग्दर्शनादि स्वभाव को अपने में ही धारण करते हैं, जो अनादि के मिले हुए जीव और अजीव का पृथक्करण, जैसे कतकफल कीचड़ से पानी का पृथक्करण करता है, उसी प्रकार करते हैं। जो आत्मबल बढ़ाने में प्रयत्न करते हैं और ज्ञान का प्रकाश करते हैं, वे ही सम्यग्दृष्टि संसार समुद्र से पार होते हैं। (1531)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, मंगलाचरण, पद-8)

* * *

जो इस भव में पुत्र है, वह अन्य भव में पिता होता है। जो इस भव में माता है, वह अन्य भव में पुत्री होती है। इस प्रकार पुत्र-माता-पिता-बहिन-कन्या-स्त्री इनमें परस्पर से परस्पर की उत्पत्ति देखी जाती है। ज्यादा क्या कहें, यह जीव मरकर स्वयं अपना पुत्र उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार इन संसारी जीवों की सदा दुःखमय इस संसार परम्परा को धिक्कार है। (1532)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-258)

* * *

सम्यग्दृष्टि को सर्व प्रकार के भोगों में प्रत्यक्ष रोग की भाँति उपेक्षा होती है,

क्योंकि उस सम्यक्त्वरूप अवस्था का विषयों में अवश्य उपेक्षा होना, ऐसा स्वतःसिद्ध स्वभाव है। (1533) (श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-261)

* * *

जब यह मरण के सन्मुख होता हुआ जीव इस शरीर को छोड़कर दूसरे में जाता है, तब जिनेन्द्रकथित धर्म को छोड़कर कोई दूसरा रक्षक नहीं है। (1534) (श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-65)

* * *

चिदानन्द ! तुम इन्द्रियरूप पाँच चोर को पोषते हो और जानते हो कि यह हमको सुख देते हैं, (परन्तु) वे तो अन्तर के गुणरत्न को चोर लेते हैं, उसकी तुम्हें खबर नहीं। अब तुम ज्ञानखडग सम्हालो, चोरों को ऐसा रोको कि फिर बल न पकड़े। विषयकषाय जीतकर निज रीति की राह में आओ, और तुम शिवपुरी को पहुँचकर राज्य करो। तुम राजा, दर्शन ज्ञान वजीर—राज्य के स्तम्भ, गुण वह बस्ती, अनन्त शक्ति राजधानी का विलास करो। अभेद राज्य राजना तुम्हारा पद है, अचेतन, अपावन, अस्थिर से क्या स्नेह करते हो ? (1535) (श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-41)

* * *

चित्त में पूर्व के करोड़ों भवों में संचित हुई पापकर्मरूपी धूल के सम्बन्ध से प्रगट होते मिथ्यात्व आदिरूप मल को नष्ट करनेवाली जो विवेकबुद्धि उत्पन्न होती है, वही वास्तव में सज्जन पुरुषों का स्नान है। उससे भिन्न जो जलकृत स्नान है, वह प्राणी समूह को पीड़ाजनक होने से पाप उत्पन्न करनेवाला है। उससे न तो धर्म सम्भव है और न स्वभाव से अपवित्र शरीर की पवित्रता भी सम्भव है। (1536)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, स्नानाष्टक, श्लोक-3)

* * *

राग-द्वेष युक्त भावों से की गयी प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों बन्धन का कारण होते हैं, जबकि तत्त्वज्ञानपूर्वक की गयी प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों निर्जरा और मोक्ष का कारण होते हैं। (1537) (श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-180)

* * *

जो पर में अनुकम्पा है, सो आप ही में अनुकम्पा है, इसलिए पर का बुरा करना विचारे, तब अपने कषायभाव से अपना बुरा स्वयमेव हुआ। पर का बुरा न विचारे, तब अपने कषायभाव न हुए, तब अपनी अनुकम्पा ही हुई। (1538)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, दर्शनपाहुड, गाथा-2 के भावार्थ में से)

* * *

ज्ञानी तो जिसमें से भेद दूर होते हैं, ऐसा भावश्रुतज्ञान जिसका स्वरूप है, ऐसे शुद्धात्मज्ञान के सद्भाव के कारण, पर से अत्यन्त विरक्त होने से प्रकृतिस्वभाव को (—कर्म के उदय के स्वभाव को) स्वयमेव छोड़ता है, इसलिए उदय में आये हुए अमधुर या मधुर कर्मफल को ज्ञातापने के कारण केवल जानता ही है, परन्तु ज्ञान होने से (—ज्ञान हो तब) परद्रव्य को 'मैं'—पने अनुभव करने की अयोग्यता होने से (वह कर्मफल को) वेदता नहीं। इसलिए, ज्ञानी प्रकृतिस्वभाव से विरक्त होने से अवेदक ही है। (1539)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-318)

* * *

सम्यग्दर्शन की जो किरण प्रगट होती है और मोक्ष के मार्ग में चलता है, वह धीरे-धीरे कर्मों का नाश करता हुआ परमात्मा बनता है। जिसके चित्त में ऐसे सम्यग्दर्शन की किरण का उदय हुआ है, उसका ही नाम साधक है, जैसे कि जिस घर में दीपक सुलगाया जाता है, उसी घर में उजाला होता है। (1540)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, साध्य-साधक द्वार, पद-39-40)

* * *

पुरुषों को प्रथम तो समस्त प्रयोजनों का सिद्ध करनेवाला निरन्तर मौन ही अवलम्बन करना हितकारी है और यही वचन कहना ही पड़े तो ऐसा कहना चाहिए, जो सबको प्यारा हो, सत्य हो और समस्त जनों का हित करनेवाला हो। (1541)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-9, श्लोक-6)

* * *

जैसे तृण और लकड़ियों से अग्नि तृप्त नहीं होती, चौदह-चौदह हजार नदियों से सहित गंगा, सिन्धु आदि महानदियों के जल से लवण समुद्र तृप्त नहीं होता, उसी प्रकार

यह आत्मा भी इच्छित सुखों के कारण ऐसे आहार, स्त्री, वस्त्र इत्यादि पदार्थों से तृप्त नहीं होता। (1542) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, बृहद् प्रत्याख्यान, गाथा-67)

* * *

हे जिनेन्द्र ! संसाररूप समुद्र में पड़ते प्राणी का रक्षण आपका धर्म ही करता है; दूसरों का धर्म तो भील के धर्म (धनुष्य) समान अन्य जीवों को मारने का ही कारण होता है। (1543) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, ऋषभस्तोत्र, श्लोक-40)

* * *

केवलज्ञानादि अनन्तगुणमयी आत्मा को छोड़कर दूसरी वस्तु ज्ञानियों के मन में नहीं रुचती, उसका दृष्टान्त यह है कि जिसने मरकतमणि जान लिया, उसको काँच के टुकड़ों की क्या जरूरत है ? उस तरह जिसका चित्त आत्मा में लग गया, उसके दूसरे पदार्थों की वांछा नहीं रहती। (1544)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-78)

* * *

मुझे इष्ट पदार्थों का वियोग न हो जाये तथा अनिष्ट पदार्थों का संयोग न हो जाये, ऐसे प्रकार से इस जन्म में आक्रन्द करने को इस आलोकभय कहते हैं, तथा न जाने यह धन स्थिर रहेगा या नहीं, देवयोग से कदाचित् दारिद्र्यता प्राप्त न हो जाये—इत्यादिक मानसिक व्यथारूप चिन्ता मिथ्यादृष्टियों को जलाने के लिये सदा ही सुलगती रहती है। (1545)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-507)

* * *

जिस भव्य ने अपने आत्मा को कलंक रहित (निर्दोष) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नों का पिटारा बनाया है, उसे तीन लोक में स्वयंवर विधान से पतिरूप से वरने की इच्छा रखनेवाली स्त्री की भाँति सर्व अर्थों की सिद्धि अर्थात् धर्म—अर्थादि चार पुरुषार्थ की सिद्धि प्राप्त होती है। (1546)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-149)

* * *

जगत में आश्चर्यकारी ऐसी बहुत-सी बातें हैं, अथवा हुआ करती हैं परन्तु उन बातों से हमको जरा भी आश्चर्य भासित नहीं होता। वास्तव्य में उसमें कुछ आश्चर्य भी नहीं है। कारण को पाकर वस्तु का जो परिणमन होनेवाला है, वह हुआ ही करता है, उसमें क्या आश्चर्य? परन्तु यह दो ही कौतुहल हमको अति आश्चर्य प्राप्त कराते हैं— एक तो अतिशय दुर्लभ अमृत को पीकर उसे वमन कर डालनेवाले और दूसरे संयमरूप निधि को पाकर उसे उल्लसित चित्त से छोड़नेवाले। ये दोनों प्रकार के जीव वास्तव में भाग्यहीन हैं। (1547) (श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-168)

* * *

हे जीव ! अपनी प्रशंसा का हमेशा त्याग करो। अपनी प्रशंसा द्वारा अपने यश का विनाश न करो। अपनी प्रशंसा करनेवाला पुरुष लोक में तृणवत् तुच्छता पाता है।

(गाथा-364)

जैसे फिटकरी द्वारा दूध फट जाता है, उसी प्रकार विद्यमान गुण भी अपने मुख से कहने से नाश पाते हैं। जिसमें कोई दोष न हो परन्तु अपने मुख से अपनी प्रशंसा करना, वही सबसे बड़ा दोष है। अपने मुख से अपनी बड़ाई करने के समान बड़ा दोष कोई नहीं है।

(गाथा-365)

अपनी प्रशंसा नहीं करने से अपने विद्यमान गुण नाश नहीं हो जाते। जैसे अपनी प्रशंसा नहीं करने से ऐसे सूर्य का तेज जगत में प्रसिद्ध है।

(गाथा-366)

आत्म-प्रशंसा करने से, जो गुण अपने में नहीं, वे प्रगट नहीं हो जाते। जैसे स्त्री की भाँति शृंगार हावभाव विलास विभ्रम करता हुआ नपुंसक, नपुंसक ही है। स्त्री की भाँति आचरण करने से स्त्री नहीं हो सकता; नपुंसक ही रहता है।

(गाथा-367)

सज्जन पुरुषों का ऐसा स्वभाव है कि उनके विद्यमान गुण की कोई प्रशंसा करे, तब वे सज्जन पुरुष लज्जा पाते हैं। तो स्वयं ही अपनी प्रशंसा कैसे करे? न ही करे।

(गाथा-368)

गुणरहित पुरुष भी यदि सज्जनों के मध्य में अपनी प्रशंसा नहीं करता तो सज्जनों के मध्य में वह गुणवान गिना जाता है। क्योंकि अपनी प्रशंसा न करना, वही प्रगट गुण है।

(गाथा-369)

वचन द्वारा अपने गुणों का वर्णन करना, वही अपने गुण का विनाश है, तथा वचन द्वारा तो अपने गुण न कहे परन्तु आचरण द्वारा अपने गुण कहना, उसे गुणों का प्रगट करना जानना। (गाथा-370)

जो पुरुष सज्जनों में अपने गुण वचन द्वारा कहता नहीं परन्तु आचरण द्वारा कहता है, वह पुरुष इस जगत में पुरुषों में मुख्य बनता है। (गाथा-371)

गुणवान पुरुषों के मध्य में गुणवान पुरुष अपने गुण वचन द्वारा कहता है तो वह लघु हो जाता है और अपने गुण वचन द्वारा जो कहता नहीं, वह निर्गुण हो तो भी गुणवान बनता है। (गाथा-372)

गुणसहित पुरुष गुणवन्त पुरुषों के मध्य आचरण द्वारा गुण प्रसिद्ध करता हुआ शोभित होता है। वचन द्वारा अपनी बड़ाई करता हुआ शोभित नहीं होता। (1548)
(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-364-373)

* * *

जिनेश्वर के आगम में जिसकी बुद्धि अनुरक्त हुई है तथा संसार से जन्म-जरा-मरण आदि महा भय उत्पन्न होता है, ऐसा जो मन में चिन्तन करता है, इसलिए जिसे संसार का भय उत्पन्न हुआ है, ऐसे मुनियों को गर्भवास से अत्यन्त भय लगता है। (1549)
(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, अणगार भावना अधिकार, गाथा-40)

* * *

इस जीव को उत्तम धर्म के प्रसाद से अग्नि भी शीतल पानी हो जाती है; सर्प है, वह उत्तम रत्नमाला हो जाती है तथा देव है, वह भी किंकर—दास बन जाता है। (1550)
(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-432)

* * *

मैं परजीवों को दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ इत्यादि तथा बँधता हूँ, मुक्त करता हूँ इत्यादि जो यह अध्यवसान है, वह सब ही, परभाव का पर में व्यापार नहीं होने के कारण अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं होने से, 'मैं आकाश के फूल को चुनता हूँ'—ऐसे अध्यवसान की भाँति मिथ्यारूप है, केवल अपने अनर्थ के लिये ही है (अर्थात् मात्र अपने को ही नुकसान का कारण होता है, पर को तो कुछ कर नहीं

सकता।) (1551)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-266)

* * *

धर्मात्मा प्राणी को जहरीला सर्प हार बन जाता है, तलवार सुन्दर फूलों की माला बन जाती है, जहर भी उत्तम औषधि बन जाता है, शत्रु प्रेम करने लगता है और देव प्रसन्नचित्त होकर आज्ञाकारी हो जाता है। बहुत क्या कहना? जिसके पास धर्म होता है, उसके ऊपर आकाश भी निरन्तर रत्नों की वर्षा करता है। (1552)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-191)

* * *

यदि वास्तव में दुःख अच्छा नहीं लगता है तथा यदि सुख प्यारा लगता है तो संसार को जीतनेवाले जिनेन्द्रों के सच्चे धर्म को पालन करो। (1553)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-70)

* * *

जब जो लोकव्यवहार में सुख कहा जाता है, वास्तव में वह सुखाभासरूप सुख, दुःख ही है तो फिर जो लोक में रूढ़िवश भी दुःख कहा जाता है, उसके विषय में निर्णय होने में क्या कहना चाहिए? (1554)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-253)

* * *

जो मोक्ष के अभिलाषी और संवर के अर्थी हैं, उन्हें समस्त अचेतन पदार्थ-समूह त्यागनेयोग्य है, और अपने में स्थित चेतन सदा सेवनयोग्य है। (1555)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, संवर अधिकार, गाथा-61)

* * *

जो आगे देखता हुआ मार्ग में (ध्येय की ओर) चला जाता है, उसके पैर में कदाचित् काँटा लग जाये तो लगे, उसमें उसका दोष नहीं है। (पूर्वकृत कोई अशुभ उदय आ पड़े, उसमें वर्तमान आराधना का दोष नहीं है।) (1556)

(मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-47)

* * *

वह मूर्ख ग्रन्थ रचना करता है, धर्म की चर्चा करता है, शुभ-अशुभ क्रिया को जानता है, योग्य व्यवहार रखता है, सन्तोष को सम्हालता है, अरहन्त भगवान की भक्ति करता है, अच्छा उपदेश देता है, दिये बिना लेता नहीं, बाह्य परिग्रह छोड़कर नग्न घूमता है, अज्ञानरस में उन्मत्त होकर बालतप करता है, वह मूर्ख ऐसी क्रियायें करता है परन्तु आत्मसत्ता और अनात्मसत्ता का भेद नहीं जानता। (1557)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पद-9)

* * *

यदि कुलाचल पर्वतों के सहित सात द्वीप की पृथ्वी भी दान कर दी जाये तो भी एक प्राणी को मारने का पाप दूर नहीं हो सकता है। भावार्थ—समस्त दानों में अभयदान प्रधान है। क्योंकि एक प्राणी के घात से हुआ पाप सात द्वीप और कुलाचलों सहित पृथ्वी दान करने से भी दूर नहीं होता। (1558)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-8, श्लोक-34)

* * *

इस लोक में स्वाधीन सुख है, वही सुख है। पराधीन सुख, सुख नहीं है। ऐसा भले प्रकार जानते हुए मनुष्य क्यों इन्द्रियसुख में मोह करते हैं? (1559)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-303)

* * *

जिसमें समस्त प्रकार के विचार करने की सामर्थ्य है, तथा जिसका पाना दुर्लभ है—ऐसे मनुष्यजन्म को पाकर भी जो अपना हित नहीं करते, वे अपने घात करने के लिये, विषवृक्ष को बढ़ाते हैं। (1560) (श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-2, श्लोक-29)

* * *

दान से नियम करके पाँच इन्द्रियों के भोग प्राप्त होते हैं, और तप से इन्द्रपद मिलता है, तथा वीतरागस्वसंवेदनज्ञान से जन्म-जरा-मरण से रहित जो मोक्षपद, वह मिलता है। (1561)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-72)

* * *

आत्मस्वरूप में ही आत्मबुद्धिवाला अन्तरात्मा शरीर की गति को—शरीर के

विनाश को आत्मा से भिन्न मानता है और मरण के अवसर को एक वस्त्र को छोड़कर दूसरे वस्त्र का ग्रहण करने की भाँति समझकर अपने को निर्भय मानता है। (1562)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-77)

* * *

हे भव्य! ईंधन के योग से अग्नि प्रज्वलित होती है और ईंधन के बिना अपने आप बुझ जाती है परन्तु अनादि मोहाग्नि तो इतने प्रबल है कि वह परिग्रहादि ईंधन की प्राप्ति में तृष्णारूप ज्वाला से अतिशय भभकती है और उसकी अप्राप्ति में प्राप्त करने की व्याकुलता से प्रज्वलित होती है। इस प्रकार अति प्रबल ऐसी मोहाग्नि दोनों प्रकार से जीव को जलाती है, इसलिए मोहाग्नि जैसा इस जगत में दूसरी कोई भयंकर अग्नि नहीं है। (1563)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-56)

* * *

जो मनुष्य सन्तोष से रहित है, उसको चक्रवर्ती, नारायण और बलदेव की विभूति से भी तृप्ति नहीं होती है, और जब तक तृप्ति (सन्तोष) नहीं होती है, तब तक सुख की सम्भावना नहीं है। इस बात को भले प्रकार जान करके विद्वान मनुष्य उस लोभरूप पिशाच के वश में नहीं होते हैं। (1564)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-79)

* * *

नराधिपतियों के अनेकविध महा वैभवों को सुनकर तथा देखकर, हे जड़मति! तू यहाँ व्यर्थ क्लेश क्यों पाता है! वे वैभव वास्तव में पुण्य से प्राप्त होते हैं। वह (पुण्योपार्जन की) शक्ति जिननाथ के पादपद्मयुगल की पूजा में है; यदि तुझे उस जिनपादपद्म की भक्ति हो तो वह बहुविध भोग तुझे (अपने आप) होंगे। (1565)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-29)

* * *

आचार्य महाराज कहते हैं कि इस कामस्वरूपी विष को मैं कालकूट (हलाहल) विष से भी महाविष मानता हूँ, क्योंकि पहला जो कालकूट विष है, वह तो उपाय करने से मिट जाता है, परन्तु दूसरा जो कामरूपी विष है, वह उपाय रहित है अर्थात् ईलाज

करने से भी नहीं मिटता है। (1566)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-11, श्लोक-21)

* * *

शिष्य प्रश्न करता है कि हे स्वामी ! राग-द्वेष परिणामों का मुख्य कारण क्या है ? पौद्गलिक कर्म है ? या इन्द्रियों के भोग हैं ? या धन है ? या घर के लोग हैं ? या घर है ? वह आप कहो। वहाँ श्रीगुरु समाधान करते हैं कि छहों द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में सदा निजाश्रित परिणमन करते हैं, कोई द्रव्य किसी द्रव्य की परिणति को कभी भी प्रेरक नहीं होता; इसलिए राग-द्वेष का मूल कारण मोह-मिथ्यात्व का मदिरापान है। (1567)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, सर्वविशुद्धि द्वार, पद-61)

* * *

जो दुर्जन मनुष्य मेरे दोष प्रसिद्ध करके सुखी होता होओ तो होओ, यदि धन का अभिलाषी मनुष्य मेरा सर्वस्व ग्रहण करके सुखी होता हो तो होओ, यदि शत्रु मेरा जीवन ग्रहण करके सुखी होता हो तो होओ, यदि दूसरा कोई मेरा स्थान लेकर सुखी होता हो तो होओ और जो मध्यस्थ है—राग-द्वेष रहित है—वे ऐसे ही मध्यस्थ बने रहें। यहाँ पूरा जगत अतिशय सुख का अनुभव करो। मेरे निमित्त से किसी भी संसारी प्राणी को किसी भी प्रकार से दुःख न होओ, ऐसा मैं उच्च स्वर से कहता हूँ। (1568)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-85)

* * *

बाह्य परिग्रह का त्याग भावों की विशुद्धि के लिये किया जाता है, परन्तु अभ्यन्तर परिग्रह रागादिक हैं, उनसे युक्त के बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है। (1569)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड, गाथा-3)

* * *

उत्तम विवेकवान पुरुष तो इस शरीर को रुधिरादि महानिंद्य और अत्यन्त ग्लानियुक्त पदार्थों का भरा हुआ एक कोथला समझते हैं, परन्तु उसमें रति नहीं पाते। गन्दी और प्रतिपल मात्र दुःख की ही जन्मदाता ऐसी काया का मोह विवेकवान उत्तम पुरुष नहीं करते। (1570)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-201)

* * *

अनेक प्रकार शारीरिक और मानसिक कष्टों को देनेवाले इस भयानक संसार में भ्रमण करते हुए जिस सम्यग्ज्ञान नाम के महान रत्न को कभी नहीं पाया था, तूने अब सम्यग्दर्शनसहित उसे पा लिया है, फिर तू पाँचों इन्द्रियों के विषयों में लुब्ध होकर प्रमाद और आलस्य न कर। (1571) (श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-13-14)

* * *

हे जीव! जहाँ तेरी इच्छा हो, उसी देश में जा, और जो इच्छा लगे, वही कर, परन्तु जब तक मन की शुद्धि नहीं है, तब तक किसी तरह मोक्ष नहीं हो सकता। (1572)
(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-70)

* * *

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है, ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं; तू परजीवों को आयुकर्म तो देता नहीं तो (हे भाई!) तूने उनका जीवन (जीवत्व) किस प्रकार किया?

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है, ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं; परजीव तुझे आयुकर्म तो देता नहीं, तो (हे भाई!) उन्होंने तेरा जीवन कैसे किया? (1573)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-251-252)

* * *

मिथ्याज्ञानसहित आत्मा के द्वारा ऐसा कर्मों का बन्ध होता है कि एकेन्द्रियादि पर्यायों में अनन्त जन्म धारण करना पड़ता है। परन्तु जब सम्यग्ज्ञानमयी आत्मा हो जाता है, तब मन, वचन, काया की गुप्ति के उत्तम लाभ से सर्व कर्म क्षय हो जाते हैं। (1574)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-583)

* * *

मैं निरोग बन जाऊँ, मुझे कभी भी वेदना न होओ, इस प्रकार की मूर्च्छा ही—ममत्व ही अथवा बारम्बार चिन्तवन करना, वह वेदनाभय कहलाता है। (1575)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-525)

* * *

संसार में उत्पन्न हुई अपनी ज्वालाओं के समूह से लोक को भस्म कर देनेवाली अग्नि में प्रवेश करना अच्छा है, जिसमें बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही हैं तथा जो मगर और

घड़ियाल आदि हिंसक जल-जन्तुओं से भय को उत्पन्न करनेवाला है, ऐसे समुद्र के जल में प्रवेश करना अच्छा है अथवा जहाँ नाना प्रकार के बाणों (शस्त्रों) के द्वारा अनेक शूरवीर मारे जा रहे हों, ऐसे शत्रुओं से भयानक युद्ध में भी प्रवेश करना अच्छा है, परन्तु सैकड़ों भवों में अनन्त दुःख को उत्पन्न करनेवाले स्त्रीसुख के मध्य में प्रवेश करना अच्छा नहीं है। (तात्पर्य यह कि स्त्रीजन्य सुख उपर्युक्त ज्वाजल्यमान अग्नि आदि से भी भयानक है।) (1576) (श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-118)

* * *

गणधरादिक देव, प्रतिकाररहित ऐसे (जिसे दूर करने का कोई उपाय देखने में न आवे ऐसे) उपसर्ग आ पड़ने पर, दुष्काल पड़ने पर, वृद्धावस्था आने पर, और रोग होने पर, धर्म के लिये (धर्म की आराधना के लिये) शरीर का त्याग करना, उसे संल्लेखना कहते हैं। (1577) (श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-122)

* * *

उत्तम धर्मसहित जीव को तीक्ष्ण खड्ग भी फूल की माला बन जाती है, जीता न जाये ऐसा दुर्जय शत्रु भी सुख करनेवाला स्वजन अर्थात् मित्र बन जाता है तथा हलाहल जहर है, वह भी अमृतरूप परिणम जाता है; अधिक क्या कहें?—महान आपदा भी सम्पदा बन जाती है। (1578) (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-433)

* * *

वृक्ष के टूँठ में जिसे पुरुष की भ्रान्ति उत्पन्न हुई हो, ऐसे मनुष्य को जैसी विपरीत या विविध चेष्टा होती है, वैसी शरीरादि में आत्म-विभ्रम के कारण पहले मेरी चेष्टा थी। (1579) (श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-21)

* * *

जहाँ आत्मभाव (भव्य जीवों को) मोक्ष देता है, वहाँ स्वर्ग कितना दूर है? (कुछ दूर नहीं अर्थात् नजदीक है)। जो (मनुष्य) भार को दो कोस तक शीघ्र ले जाता है, वह (मनुष्य) उस भार को आधे कोस ले जाने में क्या थक जायेगा—खिन्न होगा? (नहीं, खिन्न नहीं होगा)। (1580) (श्री पूज्यपादस्वामी, इष्टोपदेश, गाथा-4)

* * *

सर्व अशुचि के मूलरूप इस शरीर को यह जीव जब पूज्यपद को प्राप्त कराता है तब शरीर आत्मा को चाण्डालादि नीच कुल में जन्म कराकर अस्पृश्य करता है। धिक्कार है ऐसे कृतघ्न शरीर को! (1581) (श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-209)

* * *

जैसे कोई मूर्ख मनुष्य राख के लिये अति मूल्यवान चन्दन को जला डालता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव विषयों के लोभ से मनुष्यभव को नष्ट करता है।

जैसे कोई मूर्ख मनुष्य रत्नद्वीप में जाकर भी वहाँ के रत्नों को छोड़कर लकड़ियों का भार लेकर आवे, उसी प्रकार मनुष्यभवरूपी रत्नद्वीप में आकर भी अज्ञानी जीव धर्मरत्नों को छोड़कर भोगों की अभिलाषा करता है।

जैसे नन्दनवन में जाकर भी कोई मूर्ख मनुष्य अमृत को छोड़कर विष पीवे, उसी प्रकार मनुष्यभवरूपी नन्दनवन में आकर भी अज्ञानी जीव धर्म—अमृत को छोड़कर भोग की अभिलाषारूप जहर पीता है। (1582)

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-1828-29-30)

* * *

प्राणों के नाश को (लोग) मरण कहते हैं, इस आत्मा के प्राण तो निश्चय से ज्ञान है। वह (ज्ञान) स्वयमेव शाश्वत् होने से उसका कदापि नाश नहीं होता, इसलिए आत्मा का मरण बिल्कुल नहीं होता। इसलिए (ऐसा जानने से) ज्ञानी को मरण का भय कहाँ से होगा? वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है। (1583)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, श्लोक-159)

* * *

हे त्रिलोकीनाथ! जो आपकी आराधना से निश्चय से मेरी दृढ़ स्थिति हो गयी है तो फिर मुझे अतिशय बलवान संसाररूप शत्रु से भी भय क्यों होगा? अर्थात् नहीं होगा। ठीक है—अमृतवर्षा से हर्ष उत्पन्न करनेवाले ऐसे उत्तम फब्बारायुक्त गृह को प्राप्त हुए पुरुष को क्या ग्रीष्म ऋतु में मध्याह्नकालीन सूर्य का अत्यन्त तीक्ष्ण सन्ताप भी क्या दुःखी कर सकता है?—नहीं कर सकता। (1584)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, आलोचना अधिकार, श्लोक-3)

* * *

काम, क्रोध तथा मोह ये तीनों ही इस जीव के महान बैरी हैं, जब तक इन शत्रुओं से मनुष्य पराजित है, तब तक मानवों को सुख किस तरह हो सकता है ? (1585)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, गाथा-26)

* * *

जो दुर्बुद्धि दुर्जन निरन्तर स्वयं ही दोषों में स्थित रहता है और दूसरे भी तीनों लोक के प्राणियों को उक्त दोषों में स्थित समझता है—अपने समान दूसरों को भी दुष्ट मानता है तथा जो घृणित कार्य को करता है और श्रवणकटुवचन को बोलता है, उस दुर्जन मनुष्य से सज्जन मनुष्य धनुष पर चढ़ाये हुए बाण के समान डरते हैं। (1586)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-434)

* * *

जिस मानव ने मेरे आत्मा के रूप को देखा ही नहीं है, वह न मेरा शत्रु है, न मित्र है और जिसने प्रत्यक्ष मेरे आत्मा को देख लिया है, वह महान मानव भी न मेरा शत्रु हो सकता है, न मित्र। (1587)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-32, श्लोक-33)

* * *

जैसे स्नेह के (चिकनाई तेल के) सम्बन्ध होने से तिल घानी में पेले जाते हैं, उसी तरह जो पंचेन्द्रिय के विषयों में आसक्त हैं—मोहित हैं, वे नाश को प्राप्त होते हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। इस विषय में कहा भी है, वे ही धन्य हैं, वे ही सज्जन हैं, और वे ही जीव इस जीवलोक में जीते हैं, जो जवान अवस्थारूपी बड़े भारी तालाब में पड़े हुए विषयरस में नहीं डूबते, लीलामात्र में ही तैर जाते हैं, वे ही प्रशंसायोग्य हैं। (1588)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-116-117)

* * *

जिस प्रकार नाव में बैठे हुए किसी मनुष्य को नाव की गति के संस्कारवश, पदार्थ विपरीत स्वरूप से समझ में आते हैं (अर्थात् स्वयं गति में होने पर भी स्थिर हों, ऐसा समझ में आता है और वृक्ष, पर्वत इत्यादि स्थिर होने पर भी गति में हों, ऐसा समझ में आता है), इसी प्रकार जीव को मिथ्यादर्शन के उदयवश नौ पदार्थ विपरीत स्वरूप से समझ में आते हैं। (1589)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पंचास्तिकाय टीका, गाथा-107)

* * *

सम्यग्दृष्टि को परपदार्थों में स्वामित्वभाव नहीं होता, इसलिए वह भयवान होने पर भी निर्भय है। जैसे चक्षुइन्द्रिय रूपी पदार्थों को देखने पर भी देखती नहीं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को पर में स्वपने के अभाव से इष्टानिष्ट कल्पनापूर्वक परपदार्थ इष्टानिष्ट नहीं लगते और इसलिए उन्हें भय नहीं है। (1590)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, गाथा-2, गाथा-500)

* * *

बराबर निहारो ! इस शरीरमन्दिर में यह चेतनदीपक शाश्वत है। मन्दिर तो छूटता है परन्तु शाश्वत् रत्नदीपक जैसा का तैसा रहता है। व्यवहार में तुम अनेक स्वाँग नट की भाँति धारण करते हो, परन्तु नट तो जैसा का तैसा रहता है। (1591)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-41)

* * *

आसन लगाकर ध्यान करते हैं, इन्द्रियों का दमन करते हैं, शरीर के साथ अपने आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं गिनता, धन-सम्पत्ति का त्याग करता है, शरीर पर राख लगाता है, प्राणायाम आदि योग साधन करता है, संसार और भोगों से विरक्त रहता है, मौन धारण करता है, कषायों को मन्द करता है, वध-बन्धन सहन करके दुःखी नहीं होता, वह मूर्ख ऐसी क्रियाएँ करता है परन्तु आत्मसत्ता और अनात्मसत्ता का भेद नहीं जानता। (1592)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पद-10)

* * *

लोक में जो दुर्बुद्धि मनुष्य मरण को प्राप्त हुए मनुष्य के लिये शोक करता है, वह अपने परिश्रम का विचार न करके मानो आकाश को मुट्टियों से आहत करता है अथवा (तेल के निमित्त) बालू के समूह को पीलता है। (1593)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-730)

* * *

हे भव्य जीव ! यदि तू आत्मा का हित करना चाहता है तो निम्न काम कर:—इस भयानक संसार के दुःखों से भय कर, जिनशासन में प्रेम कर और पूर्व किये हुए पाप का शोक कर। (1594)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-268)

* * *

निःशंक वन्दना करो, निन्दा करो, प्रतिक्रमणादि करो, लेकिन जिसके जब तक अशुद्ध परिणाम है, उसके नियम से संयम नहीं हो सकता, क्योंकि उसके मन की शुद्धता नहीं है। जिसका मन शुद्ध नहीं, उसके संयम कहाँ से हो सकता है? (1595)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-66)

* * *

आर्य पुरुषों ने तराजू में एक ओर तो समस्त पापों को रखा और एक ओर असत्य से उत्पन्न हुए पाप को रखकर तौला तो दोनों समान हुए। भावार्थ—असत्य अकेला ही समस्त पापों के बराबर है। (1596) (श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-9, श्लोक-33)

* * *

जिनभगवान सम्यग्दर्शन को मोक्षरूपी वृक्ष का बीज तथा मिथ्यादर्शन को संसाररूपी वृक्ष का बीज बताते हैं, इसलिए वह सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर मोक्षाभिलाषी विद्वानों को उसके संरक्षण आदि के विषय में महान प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि पापकर्म से आछन्न होकर बहुत (—चौरासी लाख) योनियों के समूह से जटिल इस संसार में परिभ्रमण करनेवाला प्राणी दीर्घ काल बीतने पर भी हितकारक उस सम्यग्दर्शन को कहाँ प्राप्त कर सकता है? अर्थात् प्राप्त नहीं कर सकता। (1597)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, देशव्रतोद्योतन, श्लोक-3)

* * *

उत्पत्ति, स्थिति और लय की परिपाटी को समझनेवाले गुणीजन का शोक तो स्वयं नष्ट हो जाता है। मध्यम बुद्धिमान का शोक आँख में से दो-चार आँसू झराने से शान्त होता है, परन्तु जघन्य मतिमान का शोक तो मरण के साथ ही जाता है। (1598)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, गाथा-732)

* * *

जो स्वयं ही ज्ञान होने के कारण विश्व को (—सर्व पदार्थों को) सामान्य-विशेषरूप से जानने के स्वभाववाला है, ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य अनादिकाल से अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्तते ऐसे कर्ममल द्वारा लिप्त—व्याप्त हुआ—होने से ही, बन्ध-अवस्था में सर्व प्रकार से सम्पूर्ण ऐसे अपने अर्थात् सर्व प्रकार से सर्व

ज्ञेयों को जाननेवाले ऐसे अपने को नहीं जानता हुआ, इस प्रकार प्रत्यक्ष अज्ञानभाव से (-अज्ञानदशा में) वर्तता है, इसलिए यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है। इसलिए स्वयं बन्धस्वरूप होने से कर्म का निषेध किया गया है। (1599)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-160)

* * *

यह जगत में इन्द्रजाल तथा केल के स्तम्भ समान केवल निःसार है, यह क्या तू नहीं जानता ? नहीं सुना ? अथवा प्रत्यक्ष नहीं दिखता ? हे जीव ! आसजनों के मरण के पीछे शोक करना, वह निर्जन अरण्य में शोर मचाने के समान व्यर्थ है। जो उत्पन्न हुआ है, वह मरेगा ही। मरण के समय उसे कौन बचा सकता है ? तथापि मूर्ख मनुष्य सम्बन्धीजनों के मरण के पीछे शोक करते हैं, यही अनादि कालीन मोह की गहलता है।

(1600)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-184)

* * *

जिनकी धर्मध्यानरूप अग्नि में संशय, विमोह और विभ्रम, ये तीनों वृक्ष जल गये हैं, जिनकी सुदृष्टि के समक्ष उदयरूपी कुत्ते भौंकते-भौंकते भाग जाते हैं, वे ज्ञानरूपी हाथी पर बैठे हुए हैं, इसलिए कर्मरूपी धूल उन तक नहीं पहुँचती। जिनके विचार में शास्त्रज्ञान की लहरें उठती हैं, जो सिद्धान्त में प्रवीण हैं, जो आध्यात्मिक विद्या के पारगामी हैं, वे ही मोक्षमार्गी हैं—वे ही पवित्र हैं, सदा आत्म-अनुभव का रस दृढ़ करते हैं और आत्म-अनुभव का ही पाठ पढ़ते हैं। (1601)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, मोक्ष द्वार, पद-21)

* * *

जो अज्ञानी जीव इन्द्रियों के इच्छारूपी रोगों का उपाय ही निश्चय से करता रहता है और उसी को सुख मानता है, इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या हो सकती है ? (1602)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, गाथा-82)

* * *

जो विषयजन्य दोष देवों को दुःख देते हैं, उनके रहने पर साधारण मनुष्य कैसे सुख प्राप्त कर सकते हैं ? नहीं प्राप्त कर सकते। ठीक है—जिस सिंह के द्वारा झरते हुए

मद से मलिन गण्डस्थलवाले अर्थात् मदोन्मत्त हाथी भी कष्ट को प्राप्त होता है, वह पैरों के नीचे पड़े हुए मृग को छोड़ेगा क्या ? अर्थात् नहीं छोड़ेगा । (1603)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-4)

* * *

जो कोई निर्जन स्थान में मेरा निवास हो, सदा दिशा समूह ही मेरा वस्त्र बन जाये, अर्थात् जो मेरे पास कुछ भी परिग्रह न रहे, सन्तोष ही मेरा उन्नत धन हो जाये, क्षमा ही मेरी प्यारी स्त्री बन जाये, एकमात्र तप ही मेरा व्यापार बन जाये, सब ही प्राणियों के साथ मैत्रीभाव हो जाये तथा यदि मैं सदा एकमात्र तत्त्वविचार से उत्पन्न होनेवाले सुख का अनुभव करने लगूँ, तो फिर अतिशय शान्ति को प्राप्त हुए मेरे पास क्या नहीं है ? सब ही है । ऐसी अवस्था में मुझे दूसरों का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता । (1604)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, यतिभावनाष्टक, श्लोक-4)

* * *

स्याद्वाद द्वारा प्रदीप्त किया गया लसलसता (जगमगाट करता) जिसका तेज है और जिसमें शुद्धस्वभावरूप महिमा है, ऐसा यह प्रकाश जहाँ मुझमें उदय पाया है, वहाँ बन्ध-मोक्ष के मार्ग में पड़नेवाले अन्य भावों से मुझे क्या प्रयोजन है ? नित्य जिसका उदय रहता है, ऐसा केवल यह (अनन्त चतुष्टयरूप) स्वभाव ही मुझे स्फुरायमान हो । (1605)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, श्लोक-269)

* * *

ज्ञान पुरुष को होता है और पुरुष ही विनय संयुक्त हो सो ज्ञान को प्राप्त करता है, जब ज्ञान को प्राप्त करता है, तब उस ज्ञान द्वारा ही मोक्षमार्ग का लक्ष्य जो 'परमात्मा का स्वरूप' उसको लक्षता—देखता—ध्यान करता हुआ, उस लक्ष्य को प्राप्त करता है । (1606)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, बोधपाहुड, गाथा-22)

* * *

जैसे रोगी को सच्चिकण घृतादि अल्प भी कुपथ्य सेवनमात्र रोग की ही अभिवृद्धि करता है, परन्तु वह कुपथ्य वर्जित कर योग्य औषधि का सेवन करे तो रोग उपशान्त को

प्राप्त होता है। इसी प्रकार हे भव्य! अल्प भी विषयाभिलाषपना अनर्थकारक भयंकर व्याकुलतारूप रोग की वृद्धि करता है। परन्तु वह विषयाभिलाषापनेरूप कुपथ्य को छोड़कर निर्ग्रन्थ पुरुषों के पवित्र वचनामृतरूप परमौषध को तथारूप प्रकार से तू ग्रहण करे तो वह अनादि आकुलतारूप रोग उपशान्त पाता है। (1607)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-191)

* * *

रूप में लीन हुए पतंगा-जीव दीपक में जलकर मर जाते हैं, शब्द विषय में लीन हिरण व्याघ्र के बाणों से मारे जाते हैं, हाथी स्पर्श विषय के कारण गड्ढे में पड़कर बाँधे जाते हैं, सुगन्ध की लोलुपता से भँवरा काँटों में या कमल में दबकर प्राण छोड़ देते हैं और रस के लोभी मच्छ धीवर के जाल में पड़कर मारे जाते हैं। एक-एक विषय-कषायकर आसक्त हुए जीव नाश को प्राप्त होते हैं, तो पंचेन्द्रिय का (पंच इन्द्रिय विषयों में आसक्त जीव का) कहना ही क्या है? ऐसा जानकर विवेकी जीव विषयों में क्या प्रीति करते हैं? कभी नहीं करते। (1608)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, श्लोक-112)

* * *

व्रत, तप, क्रिया जहाँ देखी जाती है तथा शास्त्रों का भी पूर्ण ज्ञान है और वह अनेक अप्रिय कष्ट भी सहता है, परन्तु यदि गारवपना भावों में है तो उसका वास निगोद में होता है। (1609)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-168)

* * *

लोगों के संसर्ग से वचन की प्रवृत्ति होती है; वचन की प्रवृत्ति से मन की व्यग्रता होती है, उससे चित्त में विविध प्रकार के विकल्प उठने लगते हैं; इसलिए योगियों को लौकिक जनों के संसर्ग का त्याग करना चाहिए। (1610)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-72)

* * *

हे योगी! काल पाकर जैसा-जैसा मोह गलता है—कम होता जाता है, तैसा-तैसा यह जीव सम्यग्दर्शन को पाता है (जैसे-जैसे विपरीत मान्यता घटती जाती है,

वैसे-वैसे आत्मा की ओर रुचि बढ़ती जाती है। फिर निश्चय से अपने स्वरूप को जानता है। (1611) (श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-85)

* * *

सत्पुरुषों की पवित्र वाणी जिसके कानों में प्राप्त होकर हृदय में प्रकाशमान नहीं हुई, वह रंक अन्धा ही है, क्योंकि सत्पुरुषों की वाणी मनुष्य के हृदयनेत्र को खोल देती है। सो जिसके हृदय में सत्पुरुषों की वाणी ने प्रवेश नहीं किया, वास्तव में वह अन्धा ही है। (1612) (श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-15, श्लोक-13)

* * *

जहाँ दुःख नहीं, सुख नहीं, पीड़ा नहीं, बाधा नहीं, मरण नहीं, जन्म नहीं, वहाँ ही निर्वाण है (अर्थात् दुःख आदि रहित परमतत्त्व में ही निर्वाण है)। (1613) (श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, टीका-179)

* * *

प्राणियों का जितना उग्र अहित संसार में इन्द्रियविषयरूपी शत्रु करते हैं, उतना अहित मदोन्मत्त हाथी, माँस लोलुपी सिंह, भयंकर राहु, क्रोधायमान राजा, अति तीक्ष्ण विष, अतिक्रुद्ध यमराज, प्रज्वलित अग्नि और भयंकर शेषनाग आदि भी नहीं करते। अर्थात् हाथी आदि एक ही भव में दुःख देते हैं अथवा अनिष्ट करते हैं, परन्तु भोगे हुए इन्द्रियविषय भव-भव में दुःख देनेवाले हैं। (1614)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-2)

* * *

हे साधु! जिन्होंने देशेन्यून कोटिपूर्व तक चारित्र का पालन किया है, ऐसे मुनि भी मरण के समय पूर्व जन्म के किये हुए पाप के तीव्र उदय से रत्नत्रय से च्युत होते हैं, इसलिए तूने भले रत्नत्रय का आज तक निरतिचार पालन किया है, तथापि आगे मरण समय में तीव्र पापोदय से रत्नत्रय से भ्रष्ट होने की सम्भावना है, ऐसा जान। (इसलिए मरण समय अत्यन्त सावधान रहना।) (1615)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, बृहद् प्रत्याख्यान अधिकार, गाथा-80)

* * *

विद्यमान वस्तु को अविद्यमान क्यों करते हो ? विद्यमान वस्तु अविद्यमान होती नहीं। पूर्व में भूल से विद्यमान को अविद्यमान माना था, (इसलिए) उसका अनादि दुःखरूप फल पाया था। अब शरीर को आत्मा क्यों माने ? वह तो रक्त से, वीर्य से, सप्त धातु का बना हुआ, जड़, विजातीय, नाशवान और पर है। वह (शरीर) मेरी चेतना नहीं। (1616)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-13)

* * *

जिसमें जरा भी धुँआ नहीं, जो पवन के झपट्टे से बुझ नहीं जाता, जो एक क्षण में कर्मरूपी पतंगियों को जला डालता है, जिसमें बत्ती का ढँक्कन नहीं और जिसमें घी, तेल इत्यादि आवश्यक नहीं, जो मोहरूपी अन्धकार को मिटाता है, जिसमें किंचित् भी आँच नहीं तथा न राग की लालिमा है, जिसमें समता, समाधि और योग प्रकाशित हो रहे हैं, उस ज्ञान की अखण्ड ज्योति स्वयंसिद्ध आत्मा में स्फुरित हुई है—शरीर में नहीं। (1617)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पद-38)

* * *

जिनके हाथ, नाक आदि अवयव कटे हों तथा जो विरूप हों और जो दरिद्री तथा रोगी हों और कुल-जात्यादि से हीन हों, उनका भूषण सत्य वचन बोलना ही है। अर्थात् यही उनकी शोभा करनेवाला है। क्योंकि जो उक्त समस्त बातों से हीन हो और सत्य वचन बोलता हो, उसकी सब कोई प्रशंसा करते हैं। (1618)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-9, श्लोक-30)

* * *

भूख-प्यास इत्यादि द्वारा जो कुछ भी दुःख होता है, वह सब शरीराश्रित है, निश्चय से वह (दुःख) मुझे नहीं है, क्योंकि मैं स्वभाव से बाधारहित हूँ। (1619)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, निश्चय पंचाशत, श्लोक-24)

* * *

जो जीव भलीभाँति संयत हो, वह (जीव) भी लौकिक संग से (लौकिक जन के संग से) असंयत ही होता है, क्योंकि अग्नि की संगति में रहे हुए पानी की भाँति उसे विकार अवश्यंभावी है। इसलिए लौकिक संग सर्वथा निषेध्य ही है। (1620)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-268)

* * *

संयम से संयुक्त और ध्यान के योग्य इस प्रकार जो मोक्षमार्ग, उसका लक्ष्य अर्थात् लक्षणेयोग्य—जाननेयोग्य निशाना जो अपना निज स्वरूप, वह ज्ञान द्वारा पाया जाता है, इसलिए इस प्रकार के लक्ष्य को जानने के लिये ज्ञान को जानना। (1621)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, बोधपाहुड़, गाथा-20)

* * *

जैसे अग्नि काष्ठ को भस्म करे उसके अभाव में उल्टी निर्मलरूप प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार निर्मल ज्ञानरूप अग्नि देहादिरूप काष्ठ को भस्म करके उल्टी उस देहादि के अभाव में अत्यन्त निर्मलरूप से प्रकाशित होती है। यतिपुरुष का आचरण सर्वथा आनन्द और आश्चर्य का स्थान होता है। (1622)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-264)

* * *

प्राणियों का संसार ही एक उत्कृष्ट शत्रु है तथा रत्नत्रय ही एक उत्कृष्ट मित्र है। उसके सिवाय दूसरे कोई शत्रु अथवा मित्र नहीं हैं। जिसने उस रत्नत्रयरूप मित्र के अवलम्बन से इस दुर्जय संसाररूप शत्रु को जीत लिया है, उन अजित जिनेन्द्र से मुझे समीचीन सुख प्राप्त होओ। (1623)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, स्वयंभू-स्तुति, श्लोक-2)

* * *

आत्मानुशासन ग्रन्थ में श्री गुणभद्राचार्य ने कहा है कि पहले समय में ऐसे सत्पुरुष हो गये हैं कि जिनके वचन में सत्य, बुद्धि में शास्त्र, मन में दया, पराक्रमरूप भुजाओं में शूरवीरता, याचकों में पूर्ण लक्ष्मी का दान और मोक्षमार्ग में गमन है, वे निरभिमानी हुए, जिनके किसी गुण का अहंकार नहीं हुआ। उनके नाम शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। परन्तु अब बड़ा अचम्भा है कि इस पंचम काल में लेशमात्र भी गुण नहीं है, तो भी उनके उद्धतपना है, यानि गुण तो रंचमात्र भी नहीं और अभिमान में बुद्धि रहती है। (1624)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-60 के भावार्थ में से)

* * *

मुझे मेरे आत्मस्वरूप को नहीं देखता यह लोक—अज्ञानी प्राणीगण मेरा शत्रु

नहीं और मित्र नहीं, तथा मुझे—मेरे आत्मस्वरूप को यथार्थरूप से देखता हुआ यह लोक—ज्ञानी जीवगण न मेरा शत्रु है और न मित्र है। (1625)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-26)

* * *

जो हलाहल विष शीघ्र ही प्राणों को हरनेवाला है, उसका पी लेना कहीं अच्छा है, परन्तु प्राणियों को निरन्तर दुःख देनेवाले मधु का भक्षण करना योग्य नहीं है। (1626)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-551)

* * *

चांडाल, उल्लू (घूवड़), बिलाव, भेडिया और कुत्ता आदि यद्यपि निन्दित हैं, तथापि उन्हें अनेक लोग अंगीकार करते हैं, परन्तु असत्यवादियों को कोई अंगीकार नहीं करते। अतएव असत्यवादी इन सबसे भी अधिक निन्दनीय है। (1627)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-9, श्लोक-35)

* * *

अवसर मिलने पर जब से आत्मा ने विभाव परिणति छोड़कर निजस्वभाव का ग्रहण किया है, तब से जो-जो बातें उपादेय अर्थात् ग्रहण करनेयोग्य थी, उन-उन सबका ग्रहण किया है और जो-जो बातें हेय अर्थात् त्यागनेयोग्य थीं, वे-वे सभी छोड़ दी हैं। अब ग्रहण करनेयोग्य और छोड़नेयोग्य कुछ रह नहीं गया और नया काम करने का बाकी हो, ऐसा भी कुछ बाकी रहा नहीं, परिग्रह छोड़ दिया, शरीर छोड़ दिया, वचन की क्रिया से रहित हुआ, मन के विकल्प छोड़ दिये, इन्द्रियजनित ज्ञान छोड़ा और आत्मा को शुद्ध किया। (1628)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, सर्वविशुद्धि द्वार, पद-109)

* * *

आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवों! तीन लोकरूपी घर के स्वामी ऐसे चैतन्यस्वरूप तेज को तुम समझो, क्योंकि मैं ऐसी शंका करता हूँ कि एक चैतन्यस्वरूप तेज के बिना यह तीन लोकरूपी घर भी वन समान है। (1629)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, एकत्वसमति, श्लोक-51)

* * *

जो शुद्ध दृष्टिवन्त (सम्यग्दृष्टि) जीव ऐसा समझता है कि मुनि को तप में, नियम में, संयम में और सत्चारित्र में सदा आत्मा ऊर्ध्व रहता है (अर्थात् प्रत्येक कार्य में निरन्तर शुद्धात्मद्रव्य ही मुख्य रहता है) तो (ऐसा सिद्ध हुआ कि) राग के नाश के कारण अभिराम ऐसे उन भवभयहर भावि तीर्थाधिनाथ को यह साक्षात् सहज-समता निश्चित है। (1630) (श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-212)

* * *

देहधारियों के वे सुख तथा दुःख केवल वासनामात्र ही होते हैं। और वे (सुख-दुःखरूप) भोग आपत्ति के समय में रोगों की भाँति (प्राणियों को) उद्वेजित (आकुलित) करते हैं। (1631) (श्री पूज्यपादस्वामी, इष्टोपदेश, गाथा-6)

* * *

मन की शुद्धता ही एक मोक्षमार्ग में प्रकाश करनेवाली दीपिका (चिराग) है, सो उसको निर्मल न पाने से अनेक मोक्षमार्गी च्युत हो गये। जिस मन की शुद्धता के होते हुए अविद्यमान गुण भी विद्यमान हो जाते हैं और जिसके न होते हुए विद्यमान गुण भी जाते रहें, वही मन की शुद्धि प्रशंसा करनेयोग्य है। (1632)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-22, श्लोक-29-30)

* * *

यह एक ही पद आस्वादन योग्य है कि जो विपत्तियों का अपद है। (अर्थात् जिसमें आपदायें स्थान नहीं पा सकतीं) और जिसके समक्ष अन्य (सर्व) पद अपद ही भासित होते हैं। (1633) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-139)

* * *

प्राण का नाश करनेवाला विष भोजन में खाना अच्छा, श्वापद (शिकारी प्राणी) सिंह आदि हिंसक पशुओं से भरपूर वन में निवास करना अच्छा, और भड़के जलती अग्नि में पड़कर प्राण का त्याग करना भी अच्छा; परन्तु मिथ्यात्वसहित इस संसार में जीना अच्छा नहीं। क्योंकि विष आदि से प्राण का नाश होने से तो एक जन्म में ही दुःख सहन करना पड़ता है, और मिथ्यात्व से जन्म-जन्म में प्रतिक्षण तीव्र यातनाओं का

सामना करना पड़ता है। (1634)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-140)

* * *

सम्यक्त्वसहित उत्तम धर्मयुक्त जीव भले तिर्यच हो, तो भी देवपद को प्राप्त होता है तथा सम्यक्त्वसहित उत्तम धर्म से चाण्डाल भी देवों का इन्द्र होता है। (1635)

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-431)

* * *

अपने कर्म प्रमाण श्वान भी अपना पेट भरता है और राजा भी अपना पेट भरता है, परन्तु प्रशंसनीय मनुष्यभव, धन और विवेक-बुद्धि प्राप्त करने का यहाँ यही प्रयोजन है कि निरन्तर पात्रदान दिया जाये। (1636)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, दान अधिकार, श्लोक-41)

* * *

यह काम दोषों की खान है और गुणों का नाश करनेवाला है। पाप का निजबन्धु है और यही बड़ी-बड़ी आपत्तियों का संगम करानेवाला है। (1637)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-104)

* * *

जैसे बीज द्वारा वृक्ष की जड़ और अंकुर होते हैं, वैसे मोहरूपी बीज से आत्मा में संसाररूप विस्तीर्ण वृक्ष की अतत्त्वश्रद्धानरूप जड़ और राग-द्वेषरूपी अंकुर होते हैं। जो जीव यह अनादि अतत्त्वश्रद्धान तथा राग-द्वेष को सर्वथा क्षीण करना चाहता है, उसे प्रखर ज्ञानरूप अग्नि का सम्यक् प्रकार से नियमित सेवन करना चाहिए। (1638)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-182)

* * *

अपने आप अपना स्वरूप सम्हालने से अथवा श्रीगुरु के मुखारविन्द द्वारा उपदेश सुनने से जिसे भेदज्ञान जागृत हुआ है अर्थात् स्व-पर विवेक की ज्ञानशक्ति प्रगट हुई है, उन महात्माओं को जीवनमुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है। उनके निर्मल दर्पण जैसे स्वच्छ आत्मा में अनन्त भाव झलकते हैं परन्तु उससे कहीं विकार नहीं होता। वे सदा

आनन्द में मस्त रहते हैं। (1639)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, जीव द्वार, पद-22)

* * *

लोक में मूर्ख मनुष्य अपने से हीन जनों को देखकर हृदय में अभिमान करता है और बुद्धिमान मनुष्य अपने से अधिक गुणवाले मनुष्यों को देखकर उस गर्व को बहुत दूर करता है, ऐसा आगम के अभ्यास से निर्मलता को प्राप्त हुई बुद्धि के धारक मुनिजन निरूपण करते हैं। (1640) (श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, गाथा-52)

* * *

इस जगत में जीवों की समस्त कामनाओं के पूर्ण करनेवाली लक्ष्मी हुई और वह भोगने में आयी तो उससे क्या लाभ? अथवा अपनी धन सम्पदादिक से परिवार स्नेही मित्रों को सन्तुष्ट किया तो क्या हुआ? तथा शत्रुओं को जीतकर उनके मस्तक पर पाँव रख दिये तो इसमें भी कौन-सी सिद्धि हुई? तथा इसी प्रकार शरीर बहुत वर्षपर्यन्त स्थिर रहा तो उस शरीर से क्या लाभ? क्योंकि ये सब ही निःसार और विनश्वर है। (1641) (श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-4, श्लोक-60)

* * *

योगियों के भीतर असत्य और नाशवन्त पदार्थों का मान नहीं देखा जाता है, मान करना क्षणभंगुर है, मान जहाँ है, वहाँ मिथ्या भावना है। योगियों ने मान को जड़ से उखाड़ डाला है। (1642) (श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-138)

* * *

महामुनियों के वीतराग निर्विकल्पसमाधि के समय में स्वसंवेदनज्ञान होने भी इन्द्रियजनित ज्ञान नहीं है, केवलज्ञानियों के तो किसी समय भी इन्द्रियज्ञान नहीं है, केवल अतीन्द्रियज्ञान ही है, इसलिए इन्द्रियज्ञान के अभाव की अपेक्षा आत्मा जड़ भी कहा जा सकता है। यहाँ पर बाह्य इन्द्रियज्ञान सब तरह हेय है और अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है, यह साराँश हुआ। (1643)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-53)

* * *

गणधरादि देव, सम्यग्दर्शन से युक्त चण्डाल कुल में उत्पन्न हुए जीव को भी कि जो भस्म से ढँके हुए अंगारे की भाँति अन्दर में निर्मल है, उसे देव कहते हैं। (1644)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-28)

* * *

यदि परिग्रहयुक्त जीवों का कल्याण हो सकता हो तो अग्नि भी शीतल हो सकती है, यदि इन्द्रियजन्य सुख वास्तविक सुख हो सकता है तो तीव्र विष भी अमृत बन सकता है। यदि शरीर स्थिर रह सके तो आकाश में उत्पन्न होनेवाली बिजली उससे भी अधिक स्थिर हो सकती है तथा इस संसार में यदि रमणीयता हो सकती है तो वह इन्द्रजाल में भी हो सकती है। (1645)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-56)

* * *

जो पुरुष अल्पशक्तिवाला है और सत्पुरुषों की मण्डली में रहे बिना ही जगत के तत्त्वरूप की अवस्था को जानना चाहता है, वह आकाश को हाथों से मापता है। (1646)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-15, श्लोक-16)

* * *

भगवान तीर्थकरदेव द्वारा चिन्तवन की गयी अध्रुव आदि बारह भावना वैराग्य की माता है, समस्त जीवों का हित करनेवाली है, दुःखी जीवों को शरणभूत है, आनन्द उत्पन्न करनेवाली है, परमार्थ मार्ग को बतलानेवाली है, तत्त्व का निश्चय करानेवाली है, सम्यक्त्व उत्पन्न करनेवाली है, अशुभ ध्यान को नाश करनेवाली है, आत्मकल्याण के अर्थी जीव को हमेशा चिन्तवन करनेयोग्य है। (1647)

(श्री शिवकोटी आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-1715)

* * *

जिसके राग से जीव अनादिकाल से संसारी बनकर अनन्त दुःख का अनुभव कर रहा है तथा जिसके आत्यन्तिक क्षय से अनन्त संसारदुःखों से मुक्त हुआ जाता है, ऐसा कोई मुख्य पदार्थ हो तो मात्र शरीर ही है, तो अब इस शरीर को एक बार ऐसा छोड़ना चाहिए कि जिससे फिर से उत्पन्न ही नहीं हो। बाकी दूसरी छोटी-छोटी नहींवत् क्षुद्र

बातों की ओर एकान्त ध्यान देने से क्या सिद्धि है ? (1648)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-208)

* * *

हे आत्मन्! तू निगोद के वास में एक अन्तर्मुहूर्त में छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण को प्राप्त हुआ। (1649) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड, गाथा-28)

* * *

स्वतन्त्र आचरण रखनेवाले और काम के वश न होनेवाले धैर्यवान मानव वैराग्यभावनारूपी मन्त्रों से उस काम के महाबल को दूर करके मोक्ष के आनन्द को पा चुके हैं। (1650) (श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-106)

* * *

ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो समस्त तत्त्वों और पदार्थों को देखने में समर्थ है। उसे किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं है और वह बिना किसी प्रकार की रुकावट के तीनों लोक में सर्वत्र गतिशील है। (1651)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-194)

* * *

नाना प्रकार की जो दृष्टियाँ ज्ञानी को होती हैं, वे सब ज्ञानस्वभाव की सहायता से हितकारी और परम पद में ले जानेवाली होती हैं। जो मुनि-वेश श्री जिनेन्द्र तीर्थंकर भगवान का होता है, उसी लिंग को ज्ञानी धारण करता है। द्रव्य निर्ग्रन्थ लिंग के साथ-साथ शुद्ध भावलिंग होता है। इसी भावलिंग से कर्मों का क्षय होता है। (1652)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-54)

* * *

भाव प्रथम लिंग है, इसलिए हे भव्य! तू द्रव्यलिंग है, उसको परमार्थरूप मत जान, क्योंकि गुण और दोषों का कारणभूत भाव ही है, इस प्रकार जिनभगवान कहते हैं। (1653) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड, गाथा-2)

* * *

कोई जीव तो अति दुष्कर (महा दुःख से किया जा सके ऐसा) और मोक्ष से पराडमुख ऐसे कर्मों द्वारा स्वयमेव (अर्थात् जिनाज्ञा बिना) क्लेश पाते हैं तो पाओ और दूसरे कोई जीव (मोक्ष के सन्मुख अर्थात् कथंचित् जिनाज्ञा में कहे हुए) महाव्रत और तप के भार से बहुत काल तक भग्न होते हुए (चूरा होते हुए) क्लेश प्राप्त करते हैं तो प्राप्त करो। (परन्तु) जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, निरामय (रोगादि समस्त क्लेशरहित) पद है और स्वयं संवेद्यमान है (अर्थात् अपने आप स्वयं वेदन में आता है) ऐसा यह ज्ञान तो ज्ञानगुण के बिना किसी भी प्रकार से वे प्राप्त कर सकते ही नहीं। (1654)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-142)

* * *

जिस प्रकार पर्वत पर चढ़े हुए मनुष्य को नीचे का मनुष्य छोटा दिखता है और नीचे के मनुष्य को पर्वत के ऊपर चढ़ा हुआ मनुष्य छोटा दिखता है, परन्तु जब वह नीचे आता है, तब दोनों का भ्रम दूर हो जाता है और विषमता मिट जाती है। उसी प्रकार ऊँचा मस्तक रखनेवाले अभिमानी मनुष्य को सभी मनुष्य तुच्छ दिखते हैं और सबको वह अभिमानी तुच्छ दिखता है, परन्तु जब ज्ञान का उदय होता है, तब मान कषाय गल जाने से समता प्रगट होती है। ज्ञान में कोई छोटा-बड़ा दिखता नहीं, सर्व जीव एक-सरीखे भासित होते हैं। (1655) (श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, मोक्षद्वार, पद-44)

* * *

महापुरुषों का संग करना कल्पवृक्ष के समान समस्त प्रकार के मनोवांछित फल को देने में समर्थ हैं, अतएव सत्पुरुषों की संगति अवश्य करनी चाहिए। (1656)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-15, श्लोक-37)

* * *

जैसे उत्कृष्ट नाव को प्राप्त हुआ धीरबुद्धि (साहसी) मनुष्य समुद्र के अपरिमित जल से डरता नहीं, उसी प्रकार एकत्व को जाननेवाला वह योगी बहुत कर्मों से भी डरता नहीं। (1657)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, एकत्वभावना दशक, श्लोक-3)

* * *

बीज बिना वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोत्पत्ति जैसे नहीं होते, उसी प्रकार सम्यक्त्व बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की (उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोत्पत्ति) नहीं हो सकती। (1658)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-32)

* * *

जब मन में विशुद्धता रहती है, तब तत्त्वज्ञानी पुरुषों के चित्त में आपत्ति में और सम्पदाओं में समानभाव रहता है। महान पुरुषों की सर्व ही चेष्टा महान होती है। (1659)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-174)

* * *

जन्म-मरण, यह जिसके माता-पिता हैं। आधि-व्याधि ये दो जिसके सहोदर भाई हैं और वृद्धावस्था जिसका परम मित्र है, ऐसे शरीर में रहकर तू अनेक प्रकार की चित्र-विचित्र आशा में बह रहा है, यह एक आश्चर्य है! (1660)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-201)

* * *

जीव मरो या जीओ, अप्रयत आचारवाले को (अन्तरंग) हिंसा निश्चित है; प्रयत को, समितिवन्त को (बहिरंग) हिंसामात्र से बन्ध नहीं है। (1661)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार, गाथा-217)

* * *

इस संसार में व्रत-तप-दया-दान-प्रशम-क्षमा आदि पुरुष के जो मुख्य गुण हैं, जिनके धारण करने से जीव को शाश्वत् सुख की प्राप्ति होती है, वे सब ज्ञान की सहायता से ही सुखदायी होते हैं। (1662)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-197)

* * *

धर्म के प्रभाव से मरुभूमि में भी कमलों से व्याप्त सरोवर प्राप्त हो जाता है, जंगल में भी उन्नत महल बन जाता है, पर्वत के शिखर पर भी आनन्दोत्पादक स्त्रियाँ और श्रेष्ठ रत्न भी प्राप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त उक्त धर्म के ही प्रभाव से दीवार पर अथवा

लकड़ी में से बनाये हुए देवता भी सिद्धिदायक होते हैं। ठीक है—धर्म यहाँ प्राणियों को क्या-क्या इष्ट पदार्थ प्राप्त नहीं कराता? सब ही प्राप्त कराता है। (1663)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-187)

* * *

जिनके हृदय में निज-पर का विवेक प्रगट हुआ है, जिनका चित्त चन्दन-समान शीतल है अर्थात् कषायों का आताप नहीं है और निज-पर विवेक होने से जो मोक्षमार्ग में मौज करता है, जो संसार में अरहन्तदेव का लघु पुत्र है अर्थात् थोड़े ही समय में अरहन्त पद प्राप्त करनेवाला है, जिसे मिथ्यादर्शन का नाश करनेवाला निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है। उन सम्यग्दृष्टि जीवों की आनन्दमय अवस्था का निश्चय करके पण्डित बनारसीदासजी हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं। (1664)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, मंगलाचरण, पद-6)

* * *

आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या? धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और अन्य जो कुछ व्यापार है, वह सब ही शुद्धभाव में समस्तरूप से स्थित है। (1665)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड़, गाथा-164)

* * *

कामरूपी सर्प अत्यन्त भयानक है। अन्तरंग विचार से ही उत्पन्न होता है। इसके राग-द्वेषरूपी दो जबानें हैं। इसका वश करना बहुत कठिन है। (1666)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-97)

* * *

जिसने तीन भुवन नीचे कर रखे हैं, ऐसी यह आशारूप खान अत्यन्त अगाध है। संसारपरिणामी जीवों ने अगाध द्रव्य आज तक डाल-डाल करने पर भी अभी तक किसी से भी भरी नहीं है, ऐसी इस आशारूप खान को सत्पुरुषों ने उसमें रहे हुए धनादि को निकाल-निकालकर पूर्ण किया, यह एक परम आश्चर्य है। (1667)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-157)

* * *

समस्त पदार्थ कालादिलब्धि सहित होते अनुक शक्तियुक्त हैं, तथा स्वयं परिणमते हैं, उन्हें वैसे परिणमने से रोकने में कोई समर्थ नहीं है। (1668)

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-219)

* * *

इन्द्रियों में जीभ प्रबल होती है, ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में मोहकर्म बलवान होता है। पाँच महाव्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत प्रबल है और तीन गुप्तियों में से मनोगुप्ति पालना कठिन है। ये चार बातें मुश्किल से सिद्ध होती हैं। (1669)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-22)

* * *

करोड़ों परिश्रमों द्वारा कमाया हुआ जो धन, पुत्र और अपने जीवन से भी लोगों को अधिक प्रिय है। निश्चय से उस धन के लिये दान के अतिरिक्त की दूसरी सब विपत्तियाँ ही हैं—ऐसा साधुपुरुष कहते हैं। (1670)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, दान अधिकार, श्लोक-42)

* * *

जो जीव अन्यवश है, वह भले मुनिवेशधारी हो, तब भी संसारी है, नित्य दुःख का भोगनेवाला है; जो जीव स्ववश है, वह जीवन्मुक्त है, जिनेश्वर से किञ्चित् न्यून है (अर्थात् उनसे जिनेन्द्रदेव से किञ्चित् ही न्यूनता है।) (1671)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-243)

* * *

संक्लेशपरिणामधारी पुरुषों की बुद्धि संसार को बढ़ानेवाली होती है परन्तु निर्मल भावधारी पुरुषों की प्रवृत्ति या सहनशीलता सम्यग्दर्शनरूपी धन को देनेवाली होती है। (1672)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-173)

* * *

तीव्र तप करता हुआ भी तथा शास्त्ररूपी समुद्र का अवगाहन करता हुआ भी यदि वृद्धसेवा नहीं करता है अर्थात् सत्पुरुषों की आज्ञा में नहीं रहता है तो उसका कदापि कल्याण नहीं हो सकता। (1673) (श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-15, श्लोक-36)

* * *

जो इन्द्रियजन्य ज्ञान मोहसहित होने से प्रमत्त, अपनी उत्पत्ति के लिये बहुत कारणों की अपेक्षा रखता होने से निकृष्ट, क्रमपूर्वक पदार्थों को जाननेवाला होने से व्युच्छिन्न तथा ईहा इत्यादि पूर्वक ही होता होने से दुःखरूप कहलाता है। (1674)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-281)

* * *

(हे जिननाथ !) सद्ज्ञानरूपी नाव में आरोहण करके भवसागर को उल्लंघन कर, तू शीघ्रता से शाश्वत्पुरी में पहुँचा। अब मैं जिननाथ के उस मार्ग से (—जिस मार्ग से जिननाथ गये, उसी मार्ग से) उसी शाश्वत्पुरी में जाता हूँ; (क्योंकि) इस लोक में उत्तम पुरुषों को (इस मार्ग के अतिरिक्त) दूसरा क्या शरण है ? (1675)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-274)

* * *

अस्थिर, मलिन और निर्गुण ऐसी काया द्वारा जो स्थिर, निर्मल और सारभूत गुणवाली क्रिया वृद्धिगत होती हो तो वह क्रिया क्यों नहीं करें ? (अर्थात् यह शरीर विनाशी, मलिन और गुणरहित है, इसकी ममता छोड़कर, इसमें रहे हुए अविनाशी, पवित्र और सारभूत गुणसहित ऐसे आत्मा की भावना अवश्य कर्तव्य है ।) (1676)

(मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-19)

* * *

शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव ही अंकुर है। उसी से यह अशुद्ध या मिथ्यात्वरूपी अंकुर उखड़ जाता है। शुद्ध ज्ञानस्वभाव में रमना, यही ज्ञानांकुर ज्ञान की उन्नति में सहकारी है। (1677)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-19)

* * *

जीव विशुद्ध सम्यक्त्व को कल्याण की परम्परासहित पाते हैं, इसलिए सम्यग्दर्शन रत्न है, वह सुर-असुर से भरे लोक में पूज्य है। (1678)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, दर्शनपाहुड, गाथा-33)

* * *

जैसे यद्यपि जल बिना कमलपत्र कहीं प्राप्त नहीं होता, तथापि वह कमलपत्र

जल से लिप्त नहीं है, उसी प्रकार नवतत्त्वों के बिना जीव की प्राप्ति नहीं होती, तथापि शुद्धजीव नौ तत्त्वों में लिप्त नहीं है। परन्तु शुद्धदृष्टि से देखने पर वह कमलपत्र की भाँति भिन्न है। साराँश यह है कि—जैसे कमलपत्र जल से भिन्न है, उसी प्रकार परसंयोग-वियोगपूर्वक होनेवाले व्यवहारनय के विषयभूत जीवादि नौ पदार्थों से शुद्धदृष्टि की अपेक्षा से जीवतत्त्व भिन्न है। (1679)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-165 का भावार्थ)

* * *

शत्रु और बन्धुवर्ग जिसे समान है, सुख और दुःख जिसे समान है, प्रशंसा और निन्दा के प्रति जिसे समता है, लोष्ट (मिट्टी का ढेला) और कंचन जिसे समान है, तथा जीवित और मरण के प्रति जिसे समता है, वह श्रमण है। (1680)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार, गाथा-241)

* * *

एकदेश स्वसंवेदन सर्व स्वसंवेदन का अंग है। ज्ञानवेदना में वेदा जाता है, वह साक्षात् मोक्षमार्ग है। (उसे) स्वसंवेदन ज्ञानी ही जानते हैं। स्वरूप से परिणाम बाहर गया था, वही संसार; स्वरूपाचरणरूप परिणाम, वही साधक अवस्था में मोक्षमार्ग तथा सिद्ध अवस्था में मोक्षरूप है। (1681)

(श्री दीपचन्दजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-31)

* * *

यहाँ निन्दित दुर्जनसंगति प्राणियों के जिस दोष को (अहित को) करती है, उसको करने के लिये न भूख से पीड़ित व्याघ्र समर्थ है, न क्रोध को प्राप्त हुआ आशीविष सर्प समर्थ है, न बल वीर्य एवं बुद्धि से सम्पन्न शत्रु समर्थ है, न उन्मत्त हाथी समर्थ है, न राजा समर्थ है और न उद्धत सिंह भी समर्थ है। (1682)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक-427)

* * *

यहाँ कोई प्रश्न करे कि रौद्रध्यान पाँचवें गुणस्थान में कहा, सो सिद्धान्त में पाँचवें गुणस्थान में लेश्या तो शुभ कही है और नरक आयु का बन्ध भी नहीं है, सो पंचम गुणस्थान में रौद्रध्यान कैसे हो ?

उत्तर :— यह रौद्रध्यान का वर्णन प्रधानता से मिथ्यात्व की अपेक्षा है। पाँचवें गुणस्थान में सम्यक्त्व की सामर्थ्य से ऐसे रौद्रपरिणाम नहीं होते। कुछ गृहकार्य के संस्कार से किंचित् लेशमात्र होता है, उसकी अपेक्षा से कहा है, सो यह नरकगति का कारण नहीं है। (1683) (श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-26, श्लोक-36)

* * *

जो कोई अपने आत्मा के हित का काम छोड़कर, चित्त में ममताभाव में लीन होकर, दूसरों के कार्यों में ही रत हो जाता है, वह अपने आत्महित को नाश कर देगा। (1684) (श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-157)

* * *

जिस प्रकार, किसी ने धन पहले कमाकर घर में रखा था; पश्चात् उसके प्रति ममत्व छोड़ा, तब उसे भोगने का अभिप्राय नहीं रहा; उस समय भूतकाल में जो धन कमाया था, वह नहीं कमाये समान ही है; उसी प्रकार, जीव ने पहले कर्म बाँधे थे; पश्चात् जब उसे अहितरूप जानकर उसके प्रति ममत्व छोड़ा और उसके फल में लीन नहीं हुआ, तब भूतकाल में जो कर्म बाँधा था, वह नहीं बाँधे हुए के समान मिथ्या ही है। (1685) (श्री समयसार, श्लोक-226 का भावार्थ)

* * *

श्रुति (आगमज्ञान), बुद्धि, बल, वीर्य, प्रेम, सुन्दरता, आयु, शरीर, कुटुम्बीजन, पुत्र, स्त्री, भाई और पिता आदि सब ही चलनी में स्थित पानी के समान स्थिर नहीं हैं— देखते-देखते ही नष्ट होनेवाले हैं। इस बात को प्राणी देखता है, तो भी खेद की बात है कि वह मोहवश आत्मकल्याण को नहीं करता है। (1686)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-18)

* * *

देखो तो सही यह देह, स्नान और सुगन्धी वस्तुओं द्वारा सुधारते होने पर भी तथा अनेक प्रकार के भोजनादि भक्ष्यों द्वारा पालन करते होने पर भी जल भरे हुए कच्चे घड़े की भाँति क्षणमात्र में विलय पा जाती है। (1687) (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-9)

* * *

संक्लेशरहित शान्तचित्त, महान पुरुषों का उत्तम धन है, जिसके द्वारा जरा-मरण से रहित स्थान को प्राप्त होता है। (1688)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-169)

* * *

यति को किसी दूसरे पदार्थ के साथ जो संयोग होता है, वह एक प्रकार की आपत्ति है, उसी यति को धनवानों के साथ संगम हो जाना, वह बड़ी भारी आपत्ति है, और जो पुरुष लक्ष्मी के मदरूपी मदिरा से मत्त हो रहे हैं तथा मद के कारण जिनका मुख ऊँचा रहता है, ऐसे राजाओं के साथ सम्बन्ध हो जाना, वह सम्बन्ध मोक्षाभिलाषी के चित्त में मरण से भी अधिक दुःखदायक है। (1689)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, परमार्थ विंशति, श्लोक-9)

* * *

इस लोक में जो सुखी है, वह परलोक में भी सुख को ही प्राप्त होता है तथा इस लोक में जो दुःखी है, वह परलोक में भी दुःख को ही प्राप्त होता है। सर्व परवस्तु के ग्रहण का त्याग, वही वास्तविक सुख का कारण है और परवस्तु का किञ्चित्मात्र भी ग्रहण, वही दुःख है। (1690)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-187)

* * *

प्रतिमाओं के भेदों से पहली दर्शनप्रतिमा है, जो शुद्ध आत्मा पर दृढ़ विश्वास रखनेवाली है, जिसका पक्का विश्वास मोक्षमार्ग पर है, उसी को दर्शनप्रतिमा कहते हैं। (1691)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-305)

* * *

जो मूढ़ पुरुष पाँच इन्द्रियों के विषय सेवन में सुख को शोधता है, वह ठण्डक के लिये अग्नि में प्रवेश करने बराबर है तथा लम्बा जीवन जीने के लिये विषपान करने बराबर है। उसे इस विपरीत बुद्धि के कारण सुख के बदले दुःख ही होगा। (1692)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, अनित्यभावना, गाथा-26)

* * *

टंकोत्कीर्ण ऐसा जो निज रस से भरपूर ज्ञान, उसके सर्वस्व को भोगनेवाले

सम्यग्दृष्टि को जो निःशंकित आदि चिह्न हैं, वे समस्त कर्म नष्ट करते हैं, इसलिए कर्म का उदय वर्तने पर भी, सम्यग्दृष्टि को फिर से कर्मबन्ध किंचित् भी नहीं होता, परन्तु जो कर्म पूर्व में बँधा था, उसके उदय को भोगने से उसे नियम से उस कर्म की निर्जरा ही होती है। (1693)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-161)

* * *

संसार-मोक्ष की करनेवाली परिणति है। निजपरिणति मोक्ष है; परपरिणति संसार है। परन्तु वह सत्संग से अनुभवी जीव के निमित्त से निजपरिणति स्वरूप की होती है, विषयमोह मिटे, परमानन्द को भेंटे। स्वरूप प्राप्त करने की राह सन्तों ने सरल की है। (1694)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-32)

* * *

यदि देहादि के प्रति परमाणु जितनी भी मूर्च्छा वर्तती हो, तो वह भले सर्व आगमरधर हो तो भी सिद्धि को नहीं पाता। (1695)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार, गाथा-239)

* * *

उन्मत्त पुरुष की भाँति तथा वायु से तरंगित समुद्र के तरंगों की भाँति यह भोगाभिलाषा जीवों को केवल मिथ्यात्वकर्म के विपाक से (विपाकवश होने से) व्यर्थ ही स्फुरित होती है। (1696)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-553)

* * *

जहाँ बहुत सर्प हैं, ऐसे वन में जो पुरुष मन्त्ररहित, विद्यारहित तथा औषधरहित है, वह अत्यन्त अप्रमादी अर्थात् सावधान होकर रहता है; उसी प्रकार क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान तथा यथाख्यातचारित्ररूप जो मन्त्र-विद्या-औषधरहित साधु भी रागादिक सर्प द्वारा व्याप्त जो विषयरूप वन, उसमें प्रमादी होकर नहीं बसते, सावधान ही रहते हैं। (1697)

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-1169)

* * *

इस संसार में चौरासी लाख योनि, उनके निवास में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है कि

जिसमें इस जीव ने द्रव्यलिंगी मुनि होकर भी भावरहित होता हुआ भ्रमण न किया हो।
(1698) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड़, गाथा-47)

* * *

अज्ञानी—बहिरात्मा जिसमें शरीर-पुत्र-मित्रादि बाह्य पदार्थों में विश्वास करता है, उनसे—शरीरादि बाह्य पदार्थों से दूसरा कोई भय का स्थान नहीं और जिससे—परमात्मस्वरूप के अनुभव से वह डरता है, उससे दूसरा कोई आत्मा को निर्भयता का स्थान नहीं है। (1699) (श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-29)

* * *

जो जीव आपदा से मूर्च्छित हुआ है, वह तो पानी की एक अंजुलि छिड़ने से भी जीवन्त हो जाता है; परन्तु जो गतजीव है—मृत्यु को प्राप्त है, उसे तो हजारों घड़े पानी डालने से भी क्या? (—उसी प्रकार जिस जीव में पात्रता है, वह तो थोड़े से उपदेश द्वारा भी जागृत हो जाता है, परन्तु जो जीव पात्र नहीं है, उसे तो हजारों शास्त्रों का उपदेश भी निष्फल है।) (1700) (श्री मुनिवर रामसिंह, पाहुड़दोहा, गाथा-222)

* * *

जो पुरुष कामरूपी अग्नि से पीड़ित होकर, मैथुन द्वारा उसे पीड़ा को शान्त करना चाहता है, वह दुर्बुद्धि घी द्वारा अग्नि को शान्त करना चाहता है। (1701)
(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-13, गाथा-1)

* * *

(भाव-सप्त व्यसन का स्वरूप) अशुभकर्म के उदय में हार और शुभकर्म के उदय में विजय मानना, यह भाव-जुआ है; शरीर में लीन होना, यह भाव-माँस भक्षण है; मिथ्यात्व से मूर्च्छित होकर स्वरूप को भूल जाना, यह भाव-मद्यपान है; कुबुद्धि के रास्ते चलना, यह भाव-वेश्यासेवन है; कठोर परिणाम रखकर प्राणों का घात करना, यह भाव-शिकार है; देहादि परवस्तु में आत्मबुद्धि रखना, यह भाव-परस्त्रीसंग है; अनुरागपूर्वक परपदार्थों को ग्रहण करने की अभिलाषा, वह भाव-चोरी है। यही सात भाव-व्यसन आत्मज्ञान का विदारण करते हैं अर्थात् आत्मज्ञान होने नहीं देते। (1702)
(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, साध्यसाधक द्वार, पद-29)

* * *

मिथ्यात्व से उत्पन्न जो मोह, उससे धतूरे से उत्पन्न मोह अच्छा है। दर्शनमोह अनन्तानन्त जन्म-मरण बढ़ाता है, धतूरा अल्पकाल उन्मत्त करता है। मिथ्यादर्शन अनन्तानन्त भवपर्यन्त जीव को अचेत कर करके मारता है। इसलिए जन्म-मरण के दुःख से भयभीत हो, वह मिथ्यात्व का त्याग करता है। (1703)

(श्री शिवकोटी आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-731)

* * *

इस देह का उवटना करो, तैलादिक का मर्दन करो, शृंगार आदि से अनेक प्रकार सजाओ, अच्छे-अच्छे मिष्ट आहार दो, लेकिन यह सब यत्न व्यर्थ हैं, जैसे दुर्जनों का उपकार करना वृथा है। (1704)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-148)

* * *

बुद्धिमान को उचित है कि अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयस्वरूप को पहिचाने। आत्मज्ञानरूपी अंकुर को पाकर उसके मिलने में बड़ा ही हर्ष माने। यदि शरीर के स्वभाव में लीन हो और ज्ञान में विघ्न डाले तो वह अन्तरायकर्म बाँधे, जो दुःखों का बीज है। (1705)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-383)

* * *

मिथ्यादृष्टि जीव तरवार, बिजली, भयंकर दावानल, बाघ, ग्रह तथा काला सर्प समान है। वह दुर्गतिमार्ग को ही भला समझता है। हे साधु! उसे स्थान-निवास देना नहीं। मिथ्यादृष्टि जीव तलवार इत्यादि की भाँति आत्मा का नाश करता है। (1706)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, पंचाचार अधिकार, गाथा-250)

* * *

हे भव्य! तू परम श्रद्धापूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप (आत्मा के) शरण को सेवन कर! इस संसार में परिभ्रमण करते जीवों को अन्य कोई भी शरण नहीं है। (1707)

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-30)

* * *

हे प्राणी! तू निरर्थक प्रमाददशा को प्राप्त न हो! अनन्य सुख के हेतुभूत समभाव

को प्राप्त हो! तुझे इन धनादि से क्या प्रयोजन है? यह धनादि आशारूप अग्नि को प्रज्वलित करने में ईंधन की गरज सारते हैं। निरन्तर पाप कर्म उत्पन्न करानेवाले इन सम्बन्धीजनों से भी तुझे किसलिए ममत्व रहा करता है? महामोहरूप सर्प के बिल समान तेरा यह देह, इससे भी तुझे क्या प्रयोजन है? निरर्थक प्रमादी होकर रागादि महा दुःखरूप भावों को न धरकर सुख के लिये केवल एक समभाव को ही प्राप्त हो। (1708)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-61)

* * *

स्थितिकरण अंग की भाँति वात्सल्य अंग भी स्व और पर के भेद से दो प्रकार का है। परीषह-उपसर्गादि द्वारा पीड़ित होने पर भी कोई शुभ आचरण में, ज्ञान और ध्यान में शिथिलता न आने देना, वह स्वात्मसम्बन्धी वात्सल्य है और संयमियों के ऊपर घोर परीषह उपसर्गादिक आ पड़ने पर उनकी बाधा दूर करने का भाव होना, वह परवात्सल्य है। (1709)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-17 के भावार्थ में से)

* * *

सम्यग्दृष्टि के परिणाम बहुत ही रूखे हैं, इसलिए भोग ऐसा लगता है मानो कोई रोग का उपसर्ग होता हो, इसलिए कर्म का बन्ध नहीं, ऐसा ही है। जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव पाँच इन्द्रियों के विषय के सुख को भोगते हैं, वे परिणामों से चिकने हैं, मिथ्यात्वभाव के ऐसे ही परिणाम हैं। (1710)

(श्री राजमलजी, कलश टीका, कलश-137)

* * *

जिस प्रकार कर्म आत्मा का स्वरूप नहीं, उसी प्रकार उसके कार्यभूत विकल्पों का समूह भी आत्मा का स्वरूप नहीं। इसलिए उनमें आत्मबुद्धि अर्थात् ममत्वबुद्धि से रहित हुए मुमुक्षु जीव सुखी होते हैं। (1711)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, निश्चय पंचाशत्, श्लोक-29)

* * *

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दादिरूप से परिणमते पुद्गल आत्मा को कहीं कहते नहीं हैं कि 'तु हमको जान', और आत्मा भी अपने स्थान से छूटकर उन्हें जानने

जाता नहीं। दोनों अत्यन्त स्वतन्त्ररूप से अपने-अपने स्वभाव से ही परिणमते हैं। इस प्रकार आत्मा पर के प्रति उदासीन (—सम्बन्धरहित, तटस्थ) है, तथापि अज्ञानी जीव स्पर्शादिक को अच्छे-बुरे मानकर रागी-द्वेषी होता है, यह उसका अज्ञान है। (1712)

(श्री समयसार, गाथा-373 से 382 का उपोद्घात)

* * *

जो मनुष्य अन्न को खाते हैं, उनके स्थावर जीवों की हिंसा से पाप होता है, किन्तु जो माँस को खाते हैं, उनके त्रस जीवों की हिंसा से पाप होता है। इस प्रकार से यद्यपि पाप के भागी वे दोनों ही प्राणी होते हैं, फिर भी बुद्धिमान मनुष्यों को उनके पाप में परमाणु और मेरुपर्वत के समान अन्तर समझना चाहिए। (1713)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-530)

* * *

बुद्धिमान पुरुष सन्तोषरूपी साररूप सच्चे रत्न को हृदय में धारण करके नित्य मोक्ष के सच्चे मार्ग पर चलते हुए सुखी रहते हैं। (1714)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-241)

* * *

संसारी सर्व जीवों को कर्म का उदय है, परन्तु वह उदय बन्ध का कारण नहीं। यदि कर्मनिमित्तक इष्ट-अनिष्ट भावों में जीव रागी-द्वेषी-मोही होकर परिणमे तो बन्ध होता है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान, उदय-प्राप्त पौद्गलिक कर्मों या कर्म के उदय से उत्पन्न देहादि की क्रियायें बन्ध का कारण नहीं हैं, बन्ध के कारण केवल राग-द्वेष-मोह भाव हैं। इसलिए ये भाव सर्व प्रकार से त्यागनेयोग्य हैं। (1715)

(श्री प्रवचनसार, गाथा-43 का भावार्थ)

* * *

हे जीव! तूने इसलोक के उदर में वर्तते जो पुद्गल स्कन्ध, उन सबको ग्रसे अर्थात् भक्षण किये और उन्हीं को पुनरुक्त अर्थात् बार-बार भोगता हुआ भी तृप्ति को प्राप्त न हुआ। (1716)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड़, गाथा-22)

* * *

सम्पूर्ण नोकर्म और कर्मरूप अनात्मीय परपदार्थों में भी 'यह मैं आत्मा हूँ' इस प्रकार की जो बुद्धि होती है, वह सर्व दृष्टि मोह की ही चेष्टा है—करामात है। (1717)
(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-1047)

* * *

ज्ञानी जीव चक्रवर्ती समान है, क्योंकि चक्रवर्ती छह खण्ड पृथ्वी जीतता है, ज्ञानी छह द्रव्यों को साधता है, चक्रवर्ती शत्रुओं का नाश करता है। ज्ञानी जीव विभाव परिणति का विनाश करता है, चक्रवर्ती को नवनिधि होती है, ज्ञानी नव भक्ति धारण करता है, चक्रवर्ती को चौदह रत्न होते हैं, ज्ञानियों को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेदरूप चौदह रत्न होते हैं, चक्रवर्ती की पटरानी दिग्विजय के लिये जाने के समय चपटी से वज्ररत्न का चूरा करके चौक पूरती है, ज्ञानी जीवों की सुबुद्धिरूप पटरानी मोक्ष में जाने का शकुन करने के लिये महामोहरूप वज्र का चूर्ण करती है, चक्रवर्ती को हाथी, घोड़ा, रथ, सैनिक, ऐसी चतुरंगिणी सेना होती है, ज्ञानी जीवों को प्रत्यक्ष, परोक्ष, नय, प्रमाण और निक्षेप होते हैं। विशेष यह है कि चक्रवर्ती को शरीर होता है परन्तु ज्ञानी जीव देह से विरक्त होने के कारण शरीररहित होता है। इस प्रकार ज्ञानी जीवों का पराक्रम चक्रवर्ती के समान है। (1718) (श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, मोक्षद्वार, पद-7)

* * *

स्वसंवेदन स्थिरता से उत्पन्न रसास्वाद स्वानुभव, वह अनन्त सुख का मूल है। वह अनुभव धाराप्रवाहरूप जगने से दुःखदावानल रंच भी रहता नहीं। स्वानुभव भववासघटा नाश करने को परम प्रचण्ड पवन मुनिराज कहते हैं। अनुभवसुधा का पान करके अनेक भव्य अमर हुए। परम पूज्यपद को अनुभव ही करता है। इसके बिना सवे वेद-पुराण निरर्थक है, स्मृति, विस्मृति है; शास्त्रार्थ व्यर्थ है तथा पूजा, मोहभजन है। अनुभव के बिना निर्विघ्न कार्य, विघ्न है; परमेश्वर कथा, वह भी झूठी है, तप भी झूठ है तथा तीर्थसेवन भी झूठ है। तर्क, पुराण, व्याकरण खेद है। अनुभव के बिना गाँव में गाय-श्वान तथा वन में हिरणादि की भाँति अज्ञान तपसी है। अनुभवप्रसाद से मनुष्य चाहे जहाँ रहो—सदा पूज्य है। (1719) (श्री दीपचन्दजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-64)

* * *

जो गति अरिहन्त परमात्माओं को प्राप्त होती है, जो गति कृतकृत्य आत्माओं को प्राप्त होती है, जो गति क्षीणकषाय मुनियों को मिलती है, उस गति की मुझे सदा के लिये प्राप्ति हो। (1720) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, प्रत्याख्यान अधिकार, गाथा-53)

* * *

दावानल से दग्ध हुआ वन तो किसी काल में हरित (हरा) हो भी जाता है, परन्तु जिह्वारूपी अग्नि से (कठोर मर्मभेदी वचनों से) पीड़ित हुआ लोक बहुत काल बीत जाने पर भी हरित (प्रसन्न मुख) नहीं होता। भावार्थ—दुर्वचन का दाग मिटना कठिन है। (1721) (श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-9, श्लोक-21)

* * *

इस शरीर का सम्बन्ध ही संसार है, उससे विषय में प्रवृत्ति होती है, जिससे प्राणी को दुःख होता है। ठीक है—लोहे का आश्रय लेनेवाली अग्नि को कठोर घन के घा (चोट) सहन करना पड़ते हैं। इसलिए मोक्षार्थी भव्य जीवों को यह शरीर ऐसी महान युक्ति से छोड़ना चाहिए कि जिससे संसार के कारणभूत इस शरीर का सम्बन्ध आत्मा के साथ फिर से न हो सके। (1722)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, शरीराष्टक, श्लोक-7)

* * *

शरीर सम्बन्धी नाना प्रकार संकल्प-विकल्प होते हैं, शरीर की दृष्टि ही और शरीर की अहंबुद्धिरूपी श्रद्धा ही अनिष्ट करनेवाली है, जिससे ज्ञानस्वभावी आत्मा का दर्शन नहीं होता है। इससे ज्ञानावरणकर्म का प्रचुर बन्ध होता है, तब दुःख की सन्तान पड़ जाती है। (1723) (श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-145)

* * *

लोहे की संगति से लोकप्रसिद्ध देवता अग्नि दुःख भोगती है, यदि लोहे का सम्बन्ध न करे तो इतने दुःख क्यों भोगे? अर्थात् जैसे अग्नि लोहपिण्ड के सम्बन्ध से दुःख भोगती है, उसी तरह लोह अर्थात् लोभ के कारण से परमात्मतत्त्व की भावना से रहित मिथ्यादृष्टि जीव घनघात के समान नरकादि दुःखों को बहुत काल तक भोगता है। (1724) (श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-114)

* * *

जब तक जीव को एक परम शुद्ध पवित्र भाव का ज्ञान नहीं होता, तब तक व्रत, तप, संयम और शील, ये सब कुछ भी कार्यकारी नहीं है। (1725)

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-31)

* * *

जिस कारण से पूर्व संचित कर्मों का क्षय हो जावे और नवीन कर्मों का संचय न हो, वह ही काम मोक्षसुख के अभिलाषी आत्मज्ञानी को करना योग्य है। (1726)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-140)

* * *

शुद्ध द्रव्य का (आत्मा आदि द्रव्य का) निजरसरूप से (अर्थात् ज्ञान आदि स्वभाव से) परिणमन होता होने से, बाकी का कोई अन्यद्रव्य क्या वह (ज्ञानादि) स्वभाव का हो सकता है? (हो ही नहीं सकता)। अथवा क्या वह (ज्ञानादि स्वभाव) किसी अन्यद्रव्य का हो सकता है? (हो ही नहीं सकता। परमार्थ से एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं है।) चाँदनी का रूप पृथ्वी को उज्ज्वल करता है तो भी पृथ्वी चाँदनी की होती ही नहीं। इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय को सदा जानता है, तो भी ज्ञेय ज्ञान का होता ही नहीं। (1727)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-216)

* * *

अन्य द्रव्य का आग्रह करने से उत्पन्न होते इस विग्रह को अब छोड़कर, विशुद्ध—पूर्ण—सहजज्ञानात्मक सौख्य की प्राप्ति के लिये, मेरा यह निज अन्तर मुझमें—चैतन्यमात्र चिन्तामणि में निरन्तर लगा है—उसमें आश्चर्य नहीं। क्योंकि अमृत भोजनजनित स्वाद को जानकर देवों को अन्य भोजन से क्या प्रयोजन है? (1728)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-130)

* * *

पतिभक्तिरहित स्त्री, स्वामीभक्तिरहित नौकर, शास्त्रभक्तिरहित यति तथा गुरुभक्तिरहित शिष्य नियम से दुर्गति के पात्र हैं। (1729)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, रयणसार, गाथा-81)

* * *

हे भगवान! आप वीतराग हो, इसलिए आपको पूजा का कुछ प्रयोजन रहा नहीं तथा आप बैरभाव से (द्वेषबुद्धि से) भी रहित हो, इसलिए निन्दा का भी आपको कुछ प्रयोजन रहा नहीं, तथापि पूजा आदि द्वारा होनेवाला आपके पवित्र गुण का स्मरण हमारे चित्त को पापरूप कालिमा से बचाता है। (1730)

(श्री समन्तभद्र आचार्य, स्वयंभू स्तोत्र, श्लोक-57)

* * *

जैसे अग्नि ईंधन द्वारा तृप्त नहीं होती, समुद्र हजारों नदियों द्वारा तृप्त नहीं होता, उसी प्रकार संसारी जीव तीन लोक का लाभ प्राप्त हो तो भी तृप्ति नहीं पाता। (1731)

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-1143)

* * *

मैं अनादिकाल से आत्मस्वरूप से च्युत होकर इन्द्रियों द्वारा विषयों में पतित हुआ, इसलिए उन विषयों को प्राप्त करके वास्तव में मुझे अपने को मैं वही हूँ—आत्मा हूँ, ऐसा मैंने पहिचाना नहीं। (1732)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-16)

* * *

पुण्योदयसहित पुरुष को भी इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग होता दिखाई देता है; देखो! अभिमानसहित भरत चक्रवर्ती भी अपने छोटे भाई बाहुबली से पराजय को प्राप्त हुए! (1733)

(श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-49)

* * *

अभव्य जीव भले प्रकार जिनधर्म को सुनकर भी अपनी प्रवृत्ति को नहीं छोड़ता है। दृष्टान्त है कि सर्प गुड़सहित दूध को पीते रहने पर भी विषरहित नहीं होता है। (1734)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड, गाथा-138)

* * *

जिस शास्त्र की सहायता से प्राणी कार्य—अकार्य का निश्चय करता है, काम और क्रोध को नष्ट करता है, धर्म के विषय में दृढ़ श्रद्धान को उत्पन्न करता है, पापबुद्धि को दूर करता है, इन्द्रिय विषयों से (भोगों से) विरक्त होता है, कर्मरूप धूलि को नष्ट

करता है और चित्त को पवित्र करता है, विद्वान मनुष्य को यहाँ व्रतीजनों के लिये उस शास्त्र का दान करना चाहिए—ज्ञानदान देना चाहिए। (1735)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-477)

* * *

जो अत्यन्त कठोर है, दुःखों का दूत है, परद्रव्य जनित है, अन्धकूप समान है, किसी से हटाया नहीं जा सकता, ऐसा मिथ्यात्वभाव जीव को अनादिकाल से लग रहा है और इसी कारण से जीव, परद्रव्य में अहंबुद्धि करके अनेक अवस्थायें धारण करता है। जो कोई जीव किसी समय मिथ्यात्व का अन्धकार नष्ट करता है और परद्रव्य में से ममत्वभाव हटाकर शुद्धभावरूप परिणाम करे तो वह भेदविज्ञान धारण करके बन्ध के कारणों को दूर करके, अपनी आत्मशक्ति से संसार को जीत लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। (1736) (श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, पद-11)

* * *

‘यह देह मेरी है और मैं इस देह का हूँ’ ऐसी दृढ़ श्रद्धापूर्वक देह के साथ जीव को प्रीति है अर्थात् देहरूप क्षेत्र में क्षेत्रीयरूप से अर्थात् स्वामीरूप से जब तक जीव प्रवर्त रहा है, तब तक तप के परम फलरूप मोक्ष की आशा रखना व्यर्थ है। देह के प्रति एकत्वभावना मोक्षमार्ग के प्रवासी को एक महान इति (—उपद्रव) समान विघ्नरूप है। (1737)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-242)

* * *

अर्हतादिक में उत्कृष्ट भक्ति, सर्व प्राणियों में करुणाभाव और पवित्र चारित्र के अनुष्ठान में राग (यह सब) पुण्यबन्ध का कारण है। (1738)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, बन्धाधिकार, गाथा-37)

* * *

यद्यपि अभी यह संहनन (हड्डियों का बन्धन) परीषह (क्षुधा, तृषा आदि) सहन नहीं कर सकता और इस दुषमा नामक पंचम काल में तीव्र तप भी सम्भवित नहीं है तथापि यह कोई खेद की बात नहीं है, क्योंकि वह अशुभ कर्मों की पीड़ा है। अन्दर शुद्ध

चैतन्यस्वरूप आत्मा में मन को सुरक्षित करनेवाला मुझे उस कर्मकृत पीड़ा से कुछ हानि नहीं है। (1739) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, परमार्थ विंशति, श्लोक-6)

* * *

जो वास्तव में 'मैं श्रमण हूँ, मैं श्रमणोपासक (—श्रावक) हूँ', ऐसे द्रव्यलिंग में ममकार द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं, वे अनादिरूढ़ (अनादिकाल से चले आये) व्यवहार में मूढ़ (मोही) वर्तते हुए, प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय पर अनारूढ़ वर्तते हुए, परमार्थ सत्य भगवान समयसार को देखते-अनुभवते नहीं। (1740)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-413)

* * *

नट स्वाँग धरकर नाचता है, यदि स्वाँग न धरे तो वह पररूप नाचना मिटे। ममत्व से पररूप हो होकर यह जीव चौरासी के स्वाँग धरकर नाचता है। ममत्व को मिटाकर सहजपद को भेंट कर स्थिर रहे तो नाचना न हो। चंचलता मिटने से चिदानन्द का उद्धार होता है, ज्ञानदृष्टि खुलती है, जरा भी स्वरूप में सुस्थिर होने से गतिभ्रमण मिटता है, इसलिए जो स्वरूप में सदा स्थिर रहे, उसे धन्य है। (1741)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-27)

* * *

शंका:—मोक्ष के लिये ध्यान किया जाता है और इस काल में मोक्ष तो नहीं, तो ध्यान करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर:—ऐसा नहीं है, क्योंकि इस काल में भी परम्परा से मोक्ष है।

प्रश्न:—परम्परा से मोक्ष किस प्रकार से है ?

उत्तर:—ध्यान करनेवाले स्वशुद्धात्मा की भावना के बल से संसार की स्थिति अल्प करके स्वर्ग में जाते हैं। वहाँ से आकर मनुष्यभव में रत्नत्रय की भावना प्राप्त करके शीघ्र मोक्ष जाते हैं। जो भरत, सगर, रामचन्द्रजी, पाण्डव इत्यादि मोक्ष में गये हैं, वे भी पूर्वभव में भेदाभेदरत्नत्रय की भावना से संसार की स्थिति घटाकर फिर मोक्ष में गये हैं। उसी भव में सबको मोक्ष होता है, ऐसा नियम नहीं है। (1742)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, बृहद्द्रव्य संग्रह, गाथा-57 की टीका में से)

* * *

बैरी हो, वह भी उपकार करने से मित्र बनता है; इसलिए जिसे दान, सम्मान आदि दिये जाते हैं, वह शत्रु भी अपना अत्यन्त प्रिय मित्र बन जाता है। और पुत्र भी इच्छित भोग रोकने से तथा अपमान-तिरस्कार आदि करने से क्षणमात्र में अपना शत्रु हो जाता है। इसलिए संसार में कोई किसी का मित्र नहीं और शत्रु नहीं। कार्यानुसार शत्रुपना और मित्रपना प्रगट होता है। स्वजनपना, परजनपना, शत्रुपना, मित्रपना जीव को स्वभाव से किसी के साथ नहीं है। उपकार-अपकार की अपेक्षा से मित्रपना-शत्रुपना जानना। वस्तुतः कोई किसी का शत्रु-मित्र नहीं है। इसलिए किसी के प्रति राग-द्वेष करना उचित नहीं है। (1743) (श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-1761-62)

* * *

जिस प्रकार हंस के मुख का स्पर्श होने से दूध और पानी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवों की सुदृष्टि में स्वभाव से ही जीव, कर्म और शरीर भिन्न-भिन्न भासित होते हैं। जब शुद्ध चैतन्य के अनुभव का अभ्यास होता है, तब अपना अचल आत्मद्रव्य प्रतिभासित होता है, उसका किसी दूसरे के साथ मेल दिखता नहीं। हाँ, पूर्व में बाँधे हुए कर्म उदय में आये हुए दिखते हैं, परन्तु अहंबुद्धि के अभाव में उनका कर्ता नहीं होता, मात्र देखनेवाला रहता है। (1744)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, कर्ता-कर्म-क्रियाद्वार, पद-15)

* * *

लोक में जो कुछ भी चेतन और अचेतन प्रशस्तु वस्तुएँ दिखती हैं, उन सबको ही सम्यग्दृष्टि जीव निर्मल सम्यग्दर्शनरूप रत्न के प्रभाव से प्राप्त कर लेता है। (1745)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-832)

* * *

दूध और पानी की भाँति अभेदवत् मिले हुए ऐसे जीव और शरीर में ही जब प्रत्यक्ष भेद है तो फिर स्पष्ट पररूप ज्ञात होते स्त्री, पुत्र, धनादि, चेतन-अचेतन बाह्य पदार्थों की भिन्नता का तो कहना ही क्या? वे तो प्रगट भिन्न हैं, ऐसा सम्यक् रूप से विचारकर इस जगत के सर्व चेतन-अचेतन परपदार्थों के प्रति स्नेह विवेकी पुरुष छोड़ते हैं। (1746)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-253)

* * *

जिसके—शुद्धात्मस्वरूप के—अभाव में, मैं सोया पड़ा रहा था—अज्ञान अवस्था में था, और जिसके—शुद्धात्मस्वरूप के—सद्भाव में मैं जाग गया—यथावत् वस्तुस्वरूप को जानने लगा, वह शुद्धात्मस्वरूप इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य, वचनों से अगोचर (वचनों से नहीं कहा जा सकता, ऐसा) और स्वानुभवगम्य है, वह मैं हूँ। (1747)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-24)

* * *

जिन पुरुषों ने मुक्ति को करनेवाले सम्यक्त्व को स्वप्नावस्था में भी मलिन नहीं किया, अतिचार नहीं लगाया, उन पुरुषों को धन्य है, वे ही मनुष्य हैं, वे ही भले कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं, वे ही पण्डित हैं। (1748)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्षपाहुड, गाथा-89)

* * *

आत्मा और देह भिन्न है, ऐसे भेदज्ञान से उत्पन्न होते आनन्द से जो परिपूर्ण है, वे ज्ञानी (बारह प्रकार के) तप द्वारा, पूर्व के भयानक पापकर्म के फलरूप दुःख को वेदने पर भी खेद नहीं पाते। (1749)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-14, गाथा-38)

* * *

दुर्निवार दैव के प्रभाव से कोई मित्र मनुष्य का मरण हो जाये तो यहाँ शोक किया जाता है, वह अन्धेरे में नृत्य शुरु करने के बराबर है। संसार में सभी वस्तुएँ नाश पाती हैं—ऐसा उत्तम बुद्धि द्वारा जानकर समस्त दुःखों की परम्परा का नाश करनेवाले धर्म का सदा आराधन करो। (1750)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अनित्य पंचाशत, श्लोक-9)

* * *

शरीर की अनुमोदना ऐसी कही गयी है, जिससे पर पर्याय को आत्मा कहा जाता है, पर की वृद्धि को आत्मा की वृद्धि कही जाती है, यह मिथ्याज्ञान नरक के दुःखों का बीज है। (1751)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-144)

* * *

सर्व सन्त मुनिजन पंच परमगुरुस्वरूप अनुभव को करते हैं, इसलिए महान जन जिस पन्थ को पकड़कर पार हुए, वही अविनाशीपुर का पंथ ज्ञानीजनों को पकड़ना, यह अनन्त कल्याण का मूल है। (1752) (श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-91)

* * *

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप, ये चार आराधना हैं, ये भी आत्मा में ही चेष्टारूप है, ये चारों आत्मा ही की अवस्था है, इसलिए आचार्य कहते हैं कि मेरे आत्मा ही का शरण है। (1753) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्षपाहुड़, गाथा-105)

* * *

देखो! भील अथवा व्याघ्रादि के भय से भागती चमरी गाय की पूँछ दैवयोग से कोई वाड-बेलादिक में फँस जाती है, तब वह मूढ़ गाय अपनी पूँछ के अत्यन्त राग से वहीं खड़ी रहती है। वहाँ उसके पीछे पड़ा हुआ वनचर शिकारी उसे प्राणरहित करता है। उसी प्रकार जगत में इन्द्रिय-विषयादि के तृषातुर जीवों को बहुधा इसी प्रकार से विपत्तियाँ प्राप्त होती हैं। (1754) (श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-223)

* * *

क्रोध में क्रोध को पटककर और मान में मान कषाय डालकर, परिग्रह में परिग्रह को छोड़कर, अपने आत्मा के आधीन जो अतीन्द्रिय सुख है, उसका लाभ प्राप्त कर। (1755) (श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-191)

* * *

व्याघ्र, दुष्ट हाथी और सर्पों के संयोग से भय को उत्पन्न करनेवाले वन में रहना अच्छा है, प्रलयकालीन वायु से उठती हुई भयानक तरंगों से व्याप्त समुद्र में डूब जाना अच्छा है, और समस्त संसार को जलानेवाली ज्वालामय अग्नि की शरण में जाना भी कहीं अच्छा है, परन्तु तीनों लोक के बीच में रहनेवाले समस्त दोषों के जनक दुर्जनों के मध्य में रहना अच्छा नहीं है। (1756)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-428)

* * *

जिस किसी जीव को कामरूपी नाग डस लेता है, उसको तीव्र पीड़ा होती है, जिस तीव्र वेदना से मूर्च्छित होता हुआ, यह प्राणी इस संसार में एक गति से दूसरी गति में चक्कर लगाया करता है। (1757) (श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-95)

* * *

आत्मद्रव्य नित्यनय से, नट की भाँति, अवस्थायी है (अर्थात् आत्मा नित्यनय से नित्य टिकनेवाला है, जैसे राम-रावणरूप अनेक अनित्य स्वाँग धरता होने पर भी नट वह का वह ही नित्य है।) (18)

आत्मद्रव्य अनित्यनय से, राम-रावण की भाँति अनवस्थायी है (अर्थात् आत्मा अनित्यनय से अनित्य है, जैसे नट ने धारण किये हुए राम-रावणरूप स्वाँग अनित्य है।) (19) (1758) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, 47 नय में से)

* * *

हे जीव! तू सब प्राणियों में मित्रता का भाव रख। किसी को शत्रु न समझ, उक्त सब प्राणियों में भी जो विशेष गुणवान हैं, उनको देखकर हर्ष को धारण कर, दुःखीजन के प्रति दया का व्यवहार कर। जिनका स्वभाव विपरीत है, उनके विषय में मध्यस्थता का भाव धारण कर। जिनवाणी के सुनने और तदनुसार प्रवृत्ति करने में अनुराग कर। क्रोधरूप सुभट को पराजित कर। इन्द्रिय विषयों से विरक्त हो। मृत्यु एवं जन्म से उत्पन्न होनेवाले अतिशय दुःख से भयभीत हो और समस्त कर्ममल से रहित मोक्षसुख की अभिलाषा कर। (1759) (श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-421)

* * *

यदि पाप का (मिथ्यात्व का) निरोध हो तो अन्य विभूति का क्या प्रयोजन है? और यदि पाप का आस्रव हो तो भी अन्य विभूति से क्या प्रयोजन? (1760)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक-27)

* * *

कर्मोदयवश से, शत्रु हो वह तो मित्र हो जाता है तथा मित्र हो, वह शत्रु हो जाता है, ऐसा ही संसार का स्वभाव है। (1761) (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-57)

* * *

पूर्व काल में हुए गणधरादि सत्पुरुष ऐसा दिखलाते हैं, जो जिस मृत्यु से भले प्रकार दिया हुआ फल पाकर तथा स्वर्गलोक का सुख भोगते हैं, इसलिए सत्पुरुष को मृत्यु का भय कहाँ से होगा? (1762) (मृत्यु महोत्सव, श्लोक-4)

* * *

जब तक शरीर वचन और मन इन तीनों को जीव आत्मबुद्धि से ग्रहण करता है, तब तक संसार है, परन्तु इन मन-वचन-काया का आत्मा से भिन्नरूप अभ्यास होने पर मुक्ति होती है। (1763) (श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-62)

* * *

जिन दुःखदायक इन्द्रियों को जीतने के लिये सूर्य, चन्द्र, विष्णु, महादेव और इन्द्र आदि समर्थ नहीं हुए हैं, उन अतिशय दुर्जय बलवान इन्द्रियों को जो इस संसार में जीतते हैं, वे अद्वितीय बलवान हैं। उनके समान पराक्रमी दूसरा कोई भी नहीं है। (1764) (श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-93)

* * *

इस ही जन्म में गर्भ के भीतर रहते हुए भी जो दुःख तूने उठाये हैं, अब तू क्यों उनको भूल गया है, जिससे तू अपने आत्मा को नहीं पहचानता है? (1765) (श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-184)

* * *

रे मन! तू कभी तो पाताल में जाकर नागकुमारी देवियों के सुख को भोगने के लिये चिन्ता करता रहता है, कभी दूसरे के पास प्राप्त न हो सके, ऐसी विभूतिवाले चक्रवर्ती के राज्य को प्राप्त करने के लिये इस पृथ्वी पर आने की इच्छा किया करता है तथा कभी काम से उन्मत्त ऐसी स्वर्गवासी देवों की देवांगनाओं को पाने के लिये स्वर्ग में जाने की उत्कण्ठा किया करता है, इस भ्रम में पड़कर असल में अमृत के समान सुखदाई जिनवचनों को नहीं प्राप्त करता है। (1766)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-29)

* * *

ज्ञान, पूजा-प्रतिष्ठा, कुल, जाति, बल-शक्ति, ऋद्धि-सम्पदा-राज्य की विभूति, तप और शरीर—इन आठ का आश्रय करके अभिमान करना, उसे मदरहित आचार्यों ने—जिनेन्द्रों ने मद कहा है। (1767)(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-25)

* * *

जो साधु अपने स्वरूप में तत्पर होकर स्वयं ने किये हुए दुष्कृतों की निन्दा करता है, गुणवान पुरुषों का प्रत्यक्ष और परोक्ष बहुत आदर करता है तथा अपने मन-इन्द्रियों को जीतता है—वश करता है, उसे बहुत निर्जरा होती है। (1768)

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-112)

* * *

आत्मा तो स्वभाव से अत्यन्त पवित्र है, इसलिए उस उत्कृष्ट आत्मा के विषय में स्नान व्यर्थ ही है तथा शरीर स्वभाव से अपवित्र ही है, इसलिए वह भी कभी उस स्नान द्वारा पवित्र नहीं हो सकता। इस प्रकार स्नान की व्यर्थता दोनों ही प्रकार से सिद्ध होती है। तथापि जो लोग वह स्नान करते हैं, वह उनके लिये करोड़ों पृथ्वीकायिक, जलकायिक और अन्य जन्तुओं की हिंसा का कारण होने से पाप और राग का कारण होता है। (1769)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, स्नानाष्टक, श्लोक-2)

* * *

आत्मा का निग्रह तथा अनुग्रह करने में कोई समर्थ नहीं है, इसलिए तत्त्वज्ञानियों को कहीं भी किसी भी परपदार्थ में रोष और तोष नहीं करना चाहिए। (1770)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, संवर अधिकार, गाथा-10)

* * *

जिनेन्द्र की ध्वनि द्वारा धर्मोपदेश होता है। कोई एक पुरुष के भीतर रत्नत्रय का प्रकाश होता है। मानवरूपी अनेक पक्षी होते हैं। कोई मानव पक्षी अपनी चोंचरूपी कर्ण से धर्मोपदेशरूपी रत्न को ग्रहण कर भले प्रकार उड़ जाता है अर्थात् उसी रत्न को अच्छी तरह धारकर जीवन बिताता है। (1771)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-4)

* * *

मिथ्यात्वी का और सम्यग्दृष्टि का ज्ञेयप्रयोजन ज्ञान तो एक ही प्रकार का है, परन्तु भेद इतना ही है कि—मिथ्यात्वी जितना जानता है, उतना अयथार्थरूप साधता है और सम्यग्दृष्टि उसी भाव को जाने, इतना सब यथार्थरूप साधता है। इसलिए उस सम्यग्दृष्टि को चारित्र के अशुद्ध परिणामन से बन्ध नहीं हो सकता। उन उपयोग परिणामों ने बन्ध-आस्रव, वह अशुद्ध परिणामन की शक्ति रोक रखी है, इसलिए वह निरास्रव-निर्बन्ध है। (1772)

(श्री दीपचन्दजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-61)

* * *

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये पंच परमेष्ठी हैं, यह भी आत्मा में ही चेष्टारूप हैं, आत्मा की अवस्था हैं, इसलिए मेरे आत्मा ही का शरण है, इस प्रकार आचार्य ने अभेदनय प्रधान करके कहा है। (1773)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्षपाहुड, गाथा-104)

* * *

तीर्थंकर तथा गणधरादि महापुरुषों ने अभ्यन्तर तथा बाह्य बारह प्रकार के तप का वर्णन किया है, उसका पालन किया है, उन तपों में स्वाध्याय के समान दूसरा कोई तप नहीं तथा होगा नहीं अर्थात् स्वाध्याय सर्व तपों में श्रेष्ठ तप है, इसलिए उसकी भावना निरन्तर करना योग्य है। (1774)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, समयसार अधिकार, गाथा-82)

* * *

धर्म का मुख्य चिह्न यह है कि जो-जो क्रिया अपने को अनिष्ट लगती हो, वह-वह क्रिया अन्य के लिये मन-वचन-काया से स्वप्न में भी नहीं करना। (1775)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, धर्मभावना, श्लोक-21)

* * *

सुज्ञजन निरन्तर आत्मा में चित्त स्थापित कर वाणी और शरीर की क्रिया करे; जैसे पानी भरनेवाली घड़े में चित्त स्थापित कर गमन वचन उच्चार आदि क्रिया करती है। (1776)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-14, गाथा-3)

* * *

मैं गोरा हूँ, मैं मोटा हूँ, अथवा पतला हूँ; इस प्रकार शरीर के साथ आत्मा को एकरूप नहीं करके सदा अपने आत्मा को केवल ज्ञानरूप शरीरवाला धारण करना—मानना। (1777) (श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-70)

* * *

यों हमारे कर्म नाम बैरी मेरे आत्मा को देहरूपी पिंजरे में डाला, सो गर्भ में आया, उस क्षण से सदा काल, क्षुधा, तृषा, रोग, वियोग इत्यादि अनेक दुःख से तसायमान हुआ पड़ा हूँ। अब ऐसे अनेक दुःख से व्याप्त इस देहरूपी पिंजरे से मुझको मृत्यु नामक राजा बिना कौन छुड़ावै ? (1778) (श्री मृत्यु महोत्सव, श्लोक-5)

* * *

जिस प्रकार दूध को पीकर भी सर्प कभी विष से रहित नहीं होता है, जिस प्रकार दूध और शहद के घड़ों से सींचा गया भी नीम का वृक्ष कडुवेपने को नहीं छोड़ता है, तथा जिस प्रकार हलों के द्वारा जोती गयी भी ऊसर भूमि कभी अनाज को नहीं देती है; उसी प्रकार सज्जन पुरुषों के समागम में रहकर भी दुर्जन कभी अपनी कुटिलता को नहीं छोड़ता है। (1779) (श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-440)

* * *

जिस प्रकार मलिन दर्पण में अपना यथार्थरूप दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार रागादि दोषों से मलिन आत्म-परिणति में आत्मा का यथार्थ स्वरूप दिखाई नहीं देता। (1780) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, रयणसार, गाथा-104)

* * *

‘मनुष्यपना, आप्त उपदिष्ट श्रुतधर्म का श्रवण, उसके प्रति श्रद्धा, और अन्तर में संयम के विषय में बल-पराक्रम का खर्चना, यह उत्तरोत्तर अति-अति दुर्लभ है—ऐसा जानकर उपरोक्त चार परम मंगल में से मिले हुए मनुष्यपने को बाकी के तीन परम मंगल से अलंकृत करो, शोभाओ!’ राजपद तो क्या परन्तु उससे भी उत्कृष्ट अनुपम लक्ष्मी के हेतुभूत धर्म को प्राप्त करने की इस अप्राप्य मौसम में कुसका (विनाशी विभूति) लेने के लिये दौड़कर व्यर्थ काल व्यय करना, वह सुबुद्धिमान को योग्य नहीं

है। राज्यादि विनाशी चपल विभूति तो धर्म मार्ग में प्रयाण करते हुए बीच-बीच में सहज आ मिलेगी। उस ओर की अति गहल आतुरता छोड़ो। (1781)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-95)

* * *

जो पुरुष पुण्य को धर्म जानकर श्रद्धान करते हैं, प्रतीति करते हैं, रुचि करते हैं और स्पर्श करते हैं, उनके 'पुण्य' भोग का निमित्त है, इससे स्वर्गादिक भोग पाता है और वह पुण्य कर्म के क्षय का निमित्त नहीं होता है, यह प्रगट जानना चाहिए। (1782)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड़, गाथा-84)

* * *

जो वचन जीवों का इष्ट-हित करनेवाला हो, वह वचन असत्य हो तो भी सत्य है और जो वचन पापसहित हिंसारूप कार्य को पुष्ट करता हो तो वह सत्य हो तो भी असत्य और निन्दनीय है। (1783) (श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-9, गाथा-2)

* * *

यदि झोपड़ी में आग लग जाये तो उस झोपड़ी में लगी हुई अग्नि झोपड़ी को ही जलाती है, परन्तु उसके अन्दर रहे हुए आकाश को (—खाली जगह को) नहीं जलाती, उसी प्रकार जिस शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं, वे रोग उस शरीर को ही नष्ट करते हैं, परन्तु उस शरीर में रहनेवाले निर्मल ज्ञानमय आत्मा को नष्ट नहीं करते। (1784) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, निश्चय पंचाशत, श्लोक-23)

* * *

मैंने अनुभव से जाना है कि यह आत्मा महा शक्तिशाली है, चमत्कारी है। क्योंकि अकेला ही सर्वलोक अलोक को अन्तर में (ज्ञान में) समा देता है। (1785)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-4, गाथा-13)

* * *

पूर्व में अज्ञानभाव से किये हुए जो कर्म, उन कर्मरूपी विषवृक्षों के फल को जो पुरुष (उनका स्वामी होकर) भोगता नहीं और वास्तव में अपने से ही तृप्त है, वह पुरुष, जो वर्तमानकाल में रमणीय है और भविष्य में भी जिसका फल रमणीय है, ऐसी

निष्कर्म-सुखमय दशान्तर को पाता है। (1786)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-232)

* * *

जिसे इन्द्रियों का क्षयोपशम अतिशय तीव्र है, ऐसे चक्रवर्ती आदि को नौ योजन दूर के स्पर्श का ज्ञान होता है। रसना इन्द्रिय से नौ योजन दूर रहे हुए रस को जानता है तथा नौ योजन स्थित घ्राणेन्द्रिय के विषयभूत गन्ध को जानता है तथा बारह योजन दूर के शब्द का ज्ञान होता है और सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ योजन से किंचित् अधिक दूर रहे हुए पदार्थ को चक्षु इन्द्रिय से जानता है। (1787)

(श्री कुन्दकुन्द आचार्य, मूलाचार, पर्याप्ति अधिकार, गाथा-107-108)

* * *

हे भोला प्राणी! तूने यह पर्याय पहले सर्व कार्य 'अजाकृपाणीयवत्' किये। कोई मनुष्य बकरी को मारने के लिये छुरी चाहता था और बकरी ने ही अपनी खरी से अपने नीचे दबी हुई छुरी निकालकर दी। जिससे उसी छुरी से उस मूर्ख बकरी का मरण हुआ। उसी प्रकार जिन कार्यों से तेरा घात हो—बुरा हो, वही कार्य तूने किया—वास्तव में तू हेय-उपादेय के विवेक से रहित मूर्ख है। (1788)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-100)

* * *

सम्यक्त्व से माहात्म्य से ज्ञान, तपश्चरण, व्रत, उपशम, ध्यान इत्यादि (पूर्व में) मिथ्यारूप हों, वे भी सम्यक् हो जाते हैं और उसके (—सम्यक्त्व के) बिना वे सब जहरसहित के दूध की भाँति वृथा है, ऐसा जानना। (1789)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-41 की टीका में से)

* * *

न कोई देव है, न कोई देवी है, न वैद्य है, न कोई विद्या है, न कोई मणि है, न मन्त्र है, न कोई आश्रय है, न कोई मित्र है, न कोई और राजा आदि इस तीन लोक में है, जो प्राणियों के उदय में आये हुए कर्म को रोक सके। (1790)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अनित्य पंचाशत, श्लोक-32)

* * *

चिदानन्द लक्षण की सहायता से ज्ञान या केवलज्ञान स्वभावधारी आत्मा है, ऐसा विश्वास होता है, तब ही ज्ञानस्वभावमयी अंकुर फूटता है। उसी ज्ञानांकुर में आनन्दित होने से जो परम सुख होता है, उसी से कर्मों की निर्जरा होती है। (1791)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-300)

* * *

दूसरों को ठग लूँगा, ऐसा विचार कर जो कोई मायाचार का उपाय करते हैं, उन लोगों ने इसलोक तथा परलोक दोनों में सदा ही अपने आपको ठगा है। (1792)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-180)

* * *

बारम्बार सर्व ग्रन्थ का सार अविकार अनुभव है। अनुभव शाश्वत् चिन्तामणि है। अनुभव अविनाशी रसकूप है। मोक्षरूप अनुभव है। तत्त्वार्थसार अनुभव है और जगत् उद्धारण अनुभव है। अनुभव से अन्य कोई उच्चपद नहीं है। इसलिए अनुभव सदा ही स्वरूप का करो। अनुभव की महिमा अनन्त है! वह कहाँ तक बताये? (1793)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-64)

* * *

अनुभव चिन्तामणि रत्न है, शान्तरस का कुँआ है, मोक्ष का मार्ग है और मोक्षस्वरूप है। (1794)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, उत्थानिका, पद-18)

* * *

संसार में जिसका चित्त आसक्त है, अपने रूप को जो जानता नहीं, उसके मृत्यु होना भय के लिये है और निजस्वरूप के ज्ञाता हैं तथा संसार से विरागी हैं, उनके मृत्यु है, वह हर्ष के लिये ही है। (1795)

(मृत्यु महोत्सव, श्लोक-10)

* * *

जो विषय से विरक्त है, वह जीव नरक में भी तीव्र वेदना है, उसे भी गँवाता है, वहाँ भी अति दुःखी नहीं होता। इसलिए वहाँ निकलकर तीर्थकर होता है। यह जिनेन्द्र वर्धमान भगवान ने कहा है। (1796)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, शीलपाहुड, गाथा-32)

* * *

जैसे कोई राजा मदिरा पीकर निन्द्यस्थान में रति मानता है, उसी प्रकार चिदानन्द देह में रति मान रहा है। मद उतरने से राजपद का ज्ञान होकर राज्यनिधान विलसे, उसी प्रकार स्वपद का ज्ञान होने पर सच्चिदानन्द सम्पदा विलसे। (1797)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-21)

* * *

कैसा है जीवलोक ? जो संसाररूपी चक्र के मध्य में स्थित है, निरन्तररूप से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप अनन्त परावर्तनों के कारण जिसे भ्रमण प्राप्त हुआ है, समस्त विश्व को एकछत्र राज्य से वश करनेवाला महा मोहरूपी भूत, जिसके पास बैल की भाँति भार वहन कराता है, जोर से प्रस्फुटित तृष्णारूपी रोग के दाह से जिसे अन्तरंग में पीड़ा प्रगट हुई है, आकुल बन-बनकर मृगजल जैसे विषयग्राम को (—इन्द्रिय विषयों के समूह को) जो घेरा डालता है और जो परस्पर आचार्यत्व भी करते हैं। (अर्थात् दूसरे को कहकर तत्प्रमाण अंगीकार करते हैं।) (1798)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-4)

* * *

वीतरागी योगी जो कुछ चिन्तवन करे, वही ध्यान है, इस कारण अन्य कहना है, वह ग्रन्थ का विस्तार मात्र है, वीतराग के सब ही ध्येय है। (1799)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-38, श्लोक-113, पृष्ठ-407)

* * *

एक मन के भीतर अनेक भाव होते हैं। मन के विचारों के कारण, कार्य को किये बिना भी कर्मों का बन्ध हुआ करता है। जब मन रुक जाता है, तब आत्मा का ज्ञानस्वभाव प्रकाशमान होता है। आत्मिक स्वभाव में रत होने से कर्मों का क्षय होता है। (1800)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश-शुद्धसार, श्लोक-278)

* * *

यह जीव देह के साथ मिल रहा है तो भी अपना ज्ञानगुण उसे (देह को) जानता है, वह (—ज्ञानी) अपने को देह से भिन्न ही जानता है; और देह, जीव के साथ मिल रही है तो भी उसे वह कंचुक अर्थात् वस्त्र के जामा जैसा जानता है, जैसे देह से जामा

(कुर्ता) भिन्न है, उसी प्रकार जीव से देह भिन्न है, ऐसा वह जानता है। (1801)

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-316)

* * *

हे भिक्षु! यदि विषयभोग सामग्री की ही तेरी वाँछा हो तो भी थोड़ा सहनशील होकर धीरज रख। तू जो भोगादि को चाहता है, इससे भी विपुल और उत्तम भोगादि देवलोक में हैं। उत्तम और पक्व होते भोजन को देखकर मात्र जलादि वस्तुएँ पी-पीकर भोजन की सच्ची रुचि का क्यों नाश करता है? (1802)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-161)

* * *

जो मूर्ख मनुष्य औषधि के लिये भी मधु को खाता है, वह भी जब दुर्गति को प्राप्त होता है, तब भला उसमें आसक्ति रखनेवाले मनुष्य के विषय में क्या कहा जाये? अर्थात् उसे तो दुर्गति का महान दुःख सहना ही पड़ेगा। प्रमाद से भी पीया गया जो मधु, संसार परिभ्रमण का कारण होता है, उसको संसार से भयभीत विद्वान मनुष्य कैसे खाता है? अर्थात् नहीं खाता है। (1803)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-557-558)

* * *

निश्चय से परपदार्थों में आत्मीयबुद्धि (—स्व-बुद्धि) बिना भय किस प्रकार हो सकता है? इसलिए पर्यायमूढ़ों को (—मिथ्यादृष्टियों को) ही भय होता है, परन्तु अपने शुद्धात्मा के साथ एकता का अनुभव करनेवाले सम्यग्दृष्टियों को भय नहीं होता। (1804)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-495)

* * *

जो इस आत्मा को पौद्गलिक प्राणों की सन्तानरूप से प्रवृत्ति है, उसका अन्तरंग हेतु अनादि पौद्गलिक कर्म जिसका मूल (—निमित्त) है, ऐसा शरीरादि के ममत्वरूप उपरक्तपना (—विकारीपना) है। (1805)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-150)

* * *

मेरे द्वारा जो रूप—शरीरादिरूपी पदार्थ दिखते हैं, वे—अचेतनपदार्थ सर्वथा किसी को जानता नहीं और जो जाननेवाला चैतन्यरूप—आत्मा है, वह दिखता नहीं। तो मैं किसके साथ बोलूँ—बातचीत करूँ? (1806)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-18)

* * *

सुख पाने के भाव से प्रेरित होकर मूर्ख मनुष्य क्या-क्या पाप नहीं कर डालते हैं? जिस पाप से करोड़ों जन्मों में भी दुःखों को पाते हैं। (1807)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-179)

* * *

कषायरूप बैरी निर्वाण में जितना विघ्न करता है, उतना विघ्न कोई दुश्मन नहीं करता, अग्नि नहीं करती, बाघ नहीं करता, काला सर्प नहीं करता, शत्रु तो एक जन्म दुःख देता है, अग्नि एक बार जलाती है, बाघ एक बार भक्षण करता है, काला सर्प एक बार डसता है, परन्तु कषायभाव अनन्त जन्म में दुःख देता है। (1808)

(श्री शिवकोटि आचार्य, श्री भगवती आराधना, गाथा-1396)

* * *

सम्यग्दृष्टि अपने में उपयुक्त (—जुड़ा हुआ) होने पर भी वास्तव में किसी प्रकार के उत्कर्ष के (—उन्नति के) लिये समर्थ नहीं होता अर्थात् उसका कुछ संवर या निर्जरा में किसी प्रकार का उत्कर्ष नहीं हो जाता तथा यदि वह परपदार्थ में उपयुक्त हो गया हो तो भी उसे वास्तव में किसी प्रकार का अपकर्ष (—हानि) हो जाती है, ऐसा भी नहीं है। इसलिए अपने में अपने स्थिति के लिये परवस्तु से हटकर एकाकार (—आत्माकार) करने की इच्छा से तुम दुःखी न होओ परन्तु हे महाप्राज्ञ! प्रयोजनभूत अर्थ को समझो! (1809)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-861-862)

* * *

यदि प्रश्न किया जाये कि परमसमाधि दुर्लभ क्यों है? समाधान:—उसे (परमसमाधि को) रोकनेवाला मिथ्यात्व, विषय-कषाय, निदानबन्ध आदि विभाव-परिणामों का (जीव में) प्रबलपना है, इसलिए (परमसमाधि दुर्लभ है)। इसलिए वह

(—परमसमाधि) ही निरन्तर भानेयोग्य है। उसकी भावनारहित जीवों का बारम्बार संसार में पतन होता है। कहा है कि—यदि मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ ऐसी 'बोधि' को प्राप्त करके भी प्रमादी होता है तो वह बेचारा संसाररूपी भयंकर वन में लम्बे समय तक भ्रमण करता है। (1810) (श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-35)

* * *

जो धर्मात्मा होकर निदान करता है, वह समुद्र में गमन करती, अनेक रत्नों से भरपूर नाव को लोहखण्ड के लिये तोड़ता है तथा डोरे के लिये मणिमय हार को तोड़ता है तथा राख के लिये गोसीर नामक दुर्लभ चन्दन को जलाता है। (1811)

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-1223)

* * *

हे भाई भव्य! सुनो। जब तक ज्ञान का प्रकाश रहता है, तब तक बन्ध नहीं होता और मिथ्यात्व के उदय में अनेक बन्ध होते हैं, ऐसी चर्चा सुनकर तुम विषयभोग में लग जाओ तथा संयम, ध्यान, चारित्र को छोड़ दो और अपने को सम्यक्त्वी कहो तो तुम्हारा यह कहना एकान्त मिथ्यात्व है और आत्मा का अहित करता है। विषयसुख से विरक्त होकर आत्म-अनुभव ग्रहण करके मोक्षसुख-सन्मुख देखो, ऐसी बुद्धिमत्ता तुमको शोभा देगी। (1812) (श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पद-40)

* * *

जैसे नक्षत्रों को छिपानेवाले सूर्य के द्वारा सबकी आँखों में देखने की शक्ति को रोकनेवाले और सुख को हरनेवाले अन्धकार के समूह नाश कर दिये जाते हैं, वैसे ही संसार को नाश करनेवाले जिनशासन या जैनधर्म के द्वारा मरण, जन्म, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, भय, रोग, मन का क्लेश, शोक आदि एकदम दूर कर दिये जाते हैं। (1813)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-19)

* * *

जैसे पाषाण जल में बहुत काल तक रहने पर भी भेद को प्राप्त नहीं होता है, वैसे ही साधु उपसर्ग परीषहों को नहीं भिदता है। (1814)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड, गाथा-95)

* * *

जो पुरुष गुरुजनों द्वारा कहा हुआ जो तत्त्व का स्वरूप, उसे निश्चलभाव से ग्रहण करते हैं—उसे अन्य भावना छोड़कर निरन्तर भाते हैं, वे पुरुष तत्त्व को जानते हैं। (1815) (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-280)

* * *

भो आत्मान्! कृमिनि के सैकड़ों जल से भरे और नित्य जर्जरित होता यह देहरूपी पिंजरा, इसका नाश होने से तुम भय मत करो। इसलिए तुम तो ज्ञानशरीर हो। (1816) (मृत्युमहोत्सव, श्लोक-2)

* * *

अत्यन्त कठिनाई से पार किया जा सके ऐसा और नाना प्रकार के भंगों द्वारा गहन वन में मार्ग भूले हुए पुरुषों को अनेक प्रकार के नय समूह को जाननेवाले श्रीगुरु ही शरण होते हैं। (1817) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्धि उपाय, श्लोक-58)

* * *

प्राज्ञ, शुद्ध चिद्रूप के स्मरण में अहितकारी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चार को बलपूर्वक तज दे, हितरूप अनुकूल, द्रव्यादिक चार को प्रयत्नपूर्वक भलीभाँति सेवन करे, अवलम्बन करे। (1818)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-3, गाथा-4)

* * *

जिनवाणी वही है जो राग-द्वेष को जीतनेवाले वीतराग भगवान का स्वरूप दिखलावे, जिसमें समता का स्वभाव हो, जिसके मनन से समता का लाभ हो, जो आकाश के समान निर्मल और आनन्दमयी जिनपद को दर्शावे, जो कर्मों के क्षय का उपाय बताकर मोक्ष का स्वरूप प्रगट करे। (1819)

(श्री तारणस्वामी, ममल पाहुड, भाग-1, पृष्ठ-72)

* * *

शाह पद तो अपने धन से प्राप्त करोगे। इसलिए स्व-पर विवेकी बनकर आत्मधन को ग्रहण करो। पर के ममत्व को स्वप्नान्तर में न करो। तुम्हारे अखण्ड रत्नत्रयादि

अनन्त गुणनिधान है, दरिद्री नहीं। (1820)

(श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-40)

* * *

हे भगवान! आपकी स्तुति करके मैं दीनता से वरदान माँगता नहीं, क्योंकि आप तो वीतरागी हो। और आपकी स्तुति करनेवाले को फल की प्राप्ति तो स्वयं ही हो जाती है, तो याचना करने से क्या लाभ है? (1821)

(श्री महाकवि धनंजय, विषापहार स्तोत्र, श्लोक-38)

* * *

सम्यक् प्रकार से सेवित तप का वास्तविक फल अनुपम आत्मजन्य शाश्वत् और निराबाध सुख है। वैसे परमोत्कृष्ट सुख प्राप्ति के कारण से चक्रवर्ती महाराजा प्राप्त चक्रवर्तीपद छोड़ दे तो उसमें कोई बड़ा आश्चर्य नहीं है। परन्तु महद् आश्चर्य तो यह है कि—सुबुद्धिमान पुरुष भी छोड़े हुए विषयरूपी विष को फिर से भोगने के लिये सम्यक्तपरूपी परम निधान को तज देते हैं। (1822)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-165)

* * *

जिसके द्वारा अतिशय चंचल मन को नियमित किया जाता है, पूर्व उपार्जित कर्म का नाश किया जाता है तथा जिसके द्वारा संसार के कारणभूत आस्रव को रोका जाता है, उस पूजनीय जिनवाणी का उत्तम प्रकार से अध्ययन करना, उसे स्वाध्यायतप कहा जाता है। (1823)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-889)

* * *

यदि मेरे हृदय में नित्य आनन्दप्रद—मोक्षपद प्रदान करनेवाली गुरु की वाणी प्रकाशमान है तो भले मुनिजन मेरे ऊपर स्नेह न करो, गृहस्थ भले मुझे भोजन न दो, भले मेरे पास कुछ भी धन न हो तथा भले मेरा शरीर भी रोगवाला हो तथा मुझे नग्न देखकर लोग भले मेरी निन्दा करो, तो भी मुझे उसमें किंचित् खेद नहीं है। (1824)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, परमार्थ विंशति, श्लोक-9)

* * *

वास्तव में जिस जीव को परमाणुमात्र—लेशमात्र भी रागादिक वर्तते हैं, वह जीव भले सर्व आगम पढ़ा हुआ हो, तो भी आत्मा को नहीं जानता; और आत्मा को नहीं जानता हुआ वह अनात्मा को (पर को) भी नहीं जानता; इस प्रकार जो जीव और अजीव को नहीं जानता, वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ? (1825)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा-201-202)

* * *

तीनों लोक में जो इन्द्र आदि पृथ्वी का उद्धार करने में समर्थ थे, जो समुद्र के समस्त जल के पीने में समर्थ थे, जो पर्वत में प्रवेश करने के लिये समर्थ थे, जो ज्योतिषियों के समूह को रोकने के लिये समर्थ थे तथा जो चलती हुई वायु के खाने में समर्थ थे, प्रसिद्ध महागुणों को धारण करनेवाले वे भी जिन इन्द्रियों को नहीं जीत सके, उन इन्द्रियों को जो जीत चुका है, उस ईश्वर को आप कहते हैं। (1826)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-645)

* * *

जिस प्रकार धूलधोया धूल को शोधकर सोना-चाँदी ग्रहण करता है, अग्नि धातु को गलाकर सोना शुद्ध करती है, कादव में निर्मली डालने से वह पानी को साफ करके मैल को दूर कर देती है, दही का मन्थन करनेवाला दही को मथकर मक्खन निकाल लेता है, हंस दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है; उसी प्रकार ज्ञानी भेदविज्ञान के बल से आत्म-सम्पदा ग्रहण करते हैं और राग-द्वेष आदि अथवा पुद्गलादि परपदार्थों को त्याग देता है। (1827)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, संवर द्वार, पद-10)

* * *

जितने भी पदार्थ हैं, वे सब अचेतन हैं। चेतन तो केवल एक जीव ही है, और वही सारभूत है। उसको जानकर परम मुनि शीघ्र ही संसार से पार होता है। (1828)

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा-36)

* * *

जीवों का सच्चा स्वार्थ अपने स्वरूप में स्थिर होने में है, क्षणभंगुर भोगों को भोगने में नहीं। भोग भोगने से तो तृष्ण बढ़ जाती है, सन्ताप की शान्ति नहीं होती। हे

सुपाश्वनाथ! आपने ऐसा उपदेश दिया है। (1829)

(श्री समन्तभद्र आचार्य, स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक-31)

* * *

जो इन्द्रियों के विषयों से त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है, परन्तु जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे हुए प्रवचन का श्रद्धान करता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि है। (1830)

(आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, गोम्मटसार-जीवकाण्ड, गाथा-29)

* * *

जो औषधि रोग को दूर नहीं कर सकती, वह वास्तव में औषधि नहीं है। जो जल तृषा को दूर नहीं कर सकता, वह वास्तव में जल नहीं है और जो धन आपत्ति का नाश नहीं कर सकता, वह वास्तव में धन नहीं है। इसी प्रकार जो विषय से उत्पन्न हुआ सुख तृष्णा का नाश नहीं कर सकता, वह वास्तव में सुख नहीं है। (1831)

(श्री जिनसेन आचार्य, आदि पुराण, पृष्ठ-242, श्लोक-168-169)

* * *

जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने इस प्रकार कहा है कि पूजा आदिक में और व्रत सहित होना है, वह तो 'पुण्य' ही है तथा मोह के क्षोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम वह 'धर्म' है। (1832)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड़, गाथा-83)

* * *

जिस प्रकार प्रज्वलित दीपक अपने हाथ में रखकर भी कुँए में पड़ जाये तो उसे दीपक का लेना व्यर्थ है; उसी प्रकार तत्त्वज्ञान प्राप्त करके भी हेय-उपादेय के विवेक रहित चाहे जैसे प्रवर्तने से तत्त्वज्ञान का प्राप्त करना व्यर्थ जाता है। (1833)

(श्री वादिभसिंह सूरि, जीवन्धर चरित्र, सर्ग-2, गाथा-45)

* * *

ज्ञानज्योति उस परमानन्दमयी दिगम्बर सर्वज्ञ शुद्धस्वरूप में लीन अरिहन्त भगवान को जानती है। यदि वह ज्ञानज्योति पर पर्याय में आनन्द मानने लगे तो उसे ज्ञानावरणकर्म का बन्ध हो, जो दुःखों का बीज है। (1834)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-343)

* * *

जिसका चिन्तन करने से, ध्यान करने से ऋषि परमपद को पाते हैं, जिसकी स्तुति इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र और गणधरदेव भी सर्व मद तजकर करते हैं, वेद-पुराण जिसे बताते हैं, यमराज के दुःख के प्रवाह को जो हरती है—ऐसी जिनवाणी, उसे हे भव्य जीवों! द्यानतरायजी कहते हैं कि तुम अनेक विकल्परूप नदी को त्याग करके तुम्हारे हृदय में नित्य धारण करो। (1835) (श्री द्यानतराय, द्यानत विलास, पद-33)

* * *

आत्मा के स्वरूप से अज्ञात पुरुषों को, शरीरों में अपनी और पर की आत्मबुद्धि के कारण से पुत्र-स्त्री-आदिक के विषय में विभ्रम वर्तता है।

उस विभ्रम से अविद्या नाम का संस्कार दृढ़-मजबूत होता है, जिस कारण से अज्ञानी जीव जन्मान्तर में भी शरीर को ही आत्मा मानता है। (1836)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-11-12)

* * *

सन्तोषी जीव सदा सुखी रहते हैं, जबकि असन्तोषी दुःखी रहते हैं। सन्तोषी तथा असन्तोषी का अन्तर जानकर सन्तोष में प्रीति करनी योग्य है। (1837)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-242)

* * *

इस जगत में समुद्र तो जल के प्रवाहों से (नदियों के मिलने से) तृप्त नहीं होता और अग्नि ईंधनों से तृप्त नहीं होती, सो कदाचित् दैवयोग से किसी प्रकार वे दोनों तृप्त हो भी जायें, परन्तु यह जीव चिरकाल पर्यन्त नाना प्रकार के कामभोगादिक के भोगने पर भी कभी तृप्त नहीं होता। (1838) (श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-20, श्लोक-28)

* * *

मनुष्य समुद्रों, पर्वतों, देशों और नदियों को उल्लंघन सकता है, परन्तु मृत्यु के निश्चित समय को देव भी निमेषमात्र (आँख के झपकने बराबर) किंचित् भी उल्लंघन नहीं सकता। इस कारण से कोई भी इष्टजन की मृत्यु होने पर क्यों बुद्धिमान मनुष्य सुखदायक कल्याणमार्ग छोड़कर सर्वत्र अपार दुःख उत्पन्न करनेवाला शोक करता है ?

अर्थात् कोई भी बुद्धिमान शोक नहीं करता। (1839)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, अनित्य पंचाशत, श्लोक-22)

* * *

आत्मदर्शी—जो आत्मज्ञानी हैं, वे मृत्यु नामक मित्र के प्रसाद से सर्व दुःख का देनेवाले देहपिण्ड को दूर छोड़कर सुख की सम्पदा को प्राप्त होते हैं। (1840)

(मृत्यु महोत्सव, श्लोक-6)

* * *

जिस जीव को जिस देश में, जिस काल में जिस विधान से जन्म-मरण उपलक्षण से दुःख-सुख-रोग-दरिद्र आदि होना सर्वज्ञदेव ने जाना है, वह उसी प्रकार से नियम से होनेवाला है और वह जिस प्रकार से होनेयोग्य है, उस प्राणी को उसी देश में, उसी काल में उसी विधान से नियम से होता है, उसे इन्द्र और जिनेन्द्र-तीर्थकरदेव कोई भी रोक नहीं सकते। (1841)

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-321-322)

* * *

हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने पर मेरे मन में चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष भी इस प्रकार से कान्तिहीन (फीके) हो गये हैं, जैसे प्रभात हो जाने पर जुगनू कान्तिहीन हो जाते हैं। (1842)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, जिनवर स्तवन, श्लोक-22)

* * *

बहिरात्मा इन्द्रिय द्वारों से बाह्य पदार्थों को ही ग्रहण करने में प्रवृत्त होने से आत्मज्ञान से पराङ्मुख—वंचित होता है; इसलिए वह अपने शरीर को मिथ्या अभिप्रायपूर्वक आत्मारूप समझता है। (1843)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-7)

* * *

विद्या और मन्त्रों द्वारा, बल द्वारा तथा तप और दान द्वारा जो जैनधर्म की उन्नति की जाती है, वह बाह्य-प्रभावना अंग कहलाता है तथा वह भी तत्त्वज्ञानियों की विधि में आता है। (1844)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-815)

* * *

रावण ने रामचन्द्र और लक्ष्मण का विनाश करने के लिये बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की, कौरवों ने पाण्डवों का नाश करने के लिये कात्यायनी विद्या साधी, कंस ने नारायण का (श्रीकृष्ण का) विनाश करने के लिये बहुत विद्यायें साधीं, परन्तु उन विद्याओं द्वारा रामचन्द्र, पाण्डव और कृष्ण नारायण का कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ। रामचन्द्र इत्यादि ने अपने विघ्न दूर करने के लिये मिथ्यादेवों की आराधना नहीं की, तो भी निर्मल सम्यक्त्व से उपार्जित पूर्व में किये हुए पुण्य से उनके सर्व विघ्न दूर हुए। (1845)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा-41 की टीका में से)

* * *

जो मैं बहुत पढ़ा हूँ, ऐसा जिसके अभिमान है, वह परमार्थ अर्थात् वीतराग परमानन्दस्वभाव निज आत्मा को नहीं जानता, आत्मज्ञान से रहित है, यह निःसन्देह जानो। (1846)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-93)

* * *

लोग सुधा का लक्षण बहुत प्रकार से वृथा कहते हैं। सत्पुरुषों को तो पीड़ा, विरोध, उपद्रव आदि की बाधारहित तथा जीव-जन्तु और मनुष्यों रहित स्थान, वही अमृत है। (1847)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्यय-16, गाथा-16)

* * *

दुर्बुद्धि वैद्य को तो जानता है परन्तु वेदक को क्यों नहीं जानता? प्रकाश्य को तो देखता है परन्तु प्रकाशक को नहीं देखता, यह कैसा आश्चर्य है? (1848)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, निर्जरा अधिकार, गाथा-39)

* * *

अपने को पीड़ा होगी, ऐसा समझकर छोटा बालक भी ऊँची शय्या से नीचे पड़ने से डरता है, परन्तु यह वास्तव में बड़ा आश्चर्य है कि बुद्धिमान पुरुष तीन लोक के शिखर समान अतिशय महान और ऊँचे तप से भी स्वयं नीचे पड़ने से नहीं डरते! (1849)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-166)

* * *

(दावानल की ज्वाला से) जल रहे हुए मृगों से आच्छादित वन के मध्य में वृक्ष पर बैठे हुए मनुष्य की भाँति (संसारी) मूढ़ प्राणी दूसरों की (विपत्ति की) भाँति अपनी विपत्ति को नहीं देखता। (1850) (श्री पूज्यपादस्वामी, इष्टोपदेश, गाथा-14)

* * *

मेरा स्वशरीर भी जिसके (मेरे आत्मा के) अपकार-उपकार में समर्थ नहीं, उसके अपकार-उपकार दूसरे करते हैं, ऐसा मानना मेरे लिये व्यर्थ है। (1851)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, संवर अधिकार, गाथा-15)

* * *

जो जीव धर्म में स्थिर है, उसकी सर्वलोक में कीर्ति (—प्रशंसा) होती है, सर्व लोक उसका विश्वास करते हैं और वह पुरुष सर्व को प्रिय वचन कहता है, जिससे कोई दुःखी नहीं होता, वह पुरुष अपने और पर के दिल को शुद्ध-उज्ज्वल करता है। किसी को उसके लिये कलुषता नहीं रहती तथा उसे भी किसी के लिये कलुषता नहीं रहती। संक्षिप्त में—धर्म सर्व प्रकार से सुखदायक है। (1852)

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-429)

* * *

देव के इन्द्र, असुर के इन्द्र और खगेन्द्र जो-जो हैं, उन-उन सबका जैसे हिरण को सिंह मार डालता है, वैसे मृत्यु नाश करती है। चिन्तामणि इत्यादि मणिरत्न, बड़े-बड़े रक्षामन्त्र, तन्त्र बहुत होने पर भी मरण से उसे कोई बचा नहीं सकता। (1853)

(पण्डित दौलतरामजी, छहढाला, ढाल-5, श्लोक-4)

* * *

निजात्मा को ध्याने से जो अनन्त सुख मुनिराज अनुभव करते हैं, वह सुख करोड़ों देवियों के साथ रमनेवाला इन्द्र भी प्राप्त नहीं करता। (1854)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-118)

* * *

यह आत्मदर्शन क्षायिक स्वभाव है, अर्थात् इससे कर्मों का क्षय होता है। यह भाव संसार में भ्रमण करनेवाले दर्शनमोह या मिथ्यात्व को क्षय कर देता है। इस

आत्मदर्शन के प्रभाव से उदय में आनेवाला मलिनभाव क्षय हो जाता है अर्थात् राग-द्वेष उत्पादक कर्म गल जाता है। इससे सर्व भय दूर होता है, यही केवलज्ञान का कारण है। (1855)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड़, भाग-1, पृष्ठ-163)

* * *

कामधेनु, चिन्तामणि और कल्पवृक्ष, वे आधीन होकर एक जन्म में ही फल देते हैं। परन्तु हे देवी! (जिनवाणी माता!) तू इस भव में और परभव में भी फल देती है, तो फिर भला विद्वान मनुष्य तुझे उनकी उपमा कैसे दें? अर्थात् तू उनकी उपमा को योग्य नहीं—उनसे श्रेष्ठ है। (1856)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, श्रुतदेवता स्तुति, श्लोक-19)

* * *

इस संसाररूपी समुद्र में भ्रमण करने से मनुष्यों के जितने सम्बन्ध होते हैं, वे सब ही आपदाओं के घर हैं। क्योंकि अन्त में प्रायः सब ही सम्बन्ध निरस हो जाता है, यह प्राणी उनसे सुख मानता है, वह भ्रममात्र है। (1857)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-2, श्लोक-9)

* * *

इन्द्रियों के सुखों में रत होने का जो कुछ स्वभाव है, उसी को सर्व प्रकार से दर्शनमोह का उदय जानो, जो श्री जिनेन्द्रदेव के उपदेश को प्राप्त करता है, वह अतीन्द्रिय आनन्द के साधन से कर्मों का क्षय करता है। (1858)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-258)

* * *

शीतल घर के कौने में रखे हुए शीतल पानी की भाँति समान गुणवाले के संग से गुणरक्षा होती है और अधिक शीतल हिम के सम्पर्क में रहे हुए शीतल पानी की भाँति अधिक गुणवाले के संग से गुणवृद्धि होती है। (1859)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार-टीका, गाथा-270)

* * *

किसान एक वर्ष तक कितने-कितने कष्ट सहन कर प्राप्त किये हुए अनाज को,

खलिहान में अग्नि की एक चिंगारी आ पड़ने पर उसे जला डालती है, उसी प्रकार क्रोधरूपी अग्नि, बहुत लम्बे समय के साधुपनेरूप सारभूत वस्तु को क्षणमात्र में जला डालती है—नष्ट करती है। (1860) (श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-1368)

* * *

हे मुने! तू जिस श्रुतज्ञान को तीर्थकर भगवान ने कहा और गणधरदेवों ने गूँथा अर्थात् शास्त्ररूप रचना की, उसको सम्यक् प्रकार से भाव शुद्धकर निरन्तर भावना कर। कैसा है वह श्रुतज्ञान? अतुल है, इसके बराबर अन्यमत का कहा हुआ श्रुतज्ञान नहीं है। (1861) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, भावपाहुड, गाथा-92)

* * *

सदा शुद्ध-शुद्ध ऐसा यह (प्रत्यक्ष) चैतन्य-चमत्कारमात्र तत्त्व जगत में नित्य जयवन्त है—कि जिसने प्रगट हुए सहज तेज पुंज द्वारा स्वधर्मत्यागरूप (मोहरूप) अतिप्रबल तिमिरसमूह को दूर किया है और जो उस अघसेना की ध्वजा को हर लेता है। (1862) (श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-210)

* * *

कोई अति निद्रावश मनुष्य को उसके मर्मस्थान पर मुद्गर की चोट मारे, अथवा अग्नि के आताप से देह को जरा उष्णता लगे, अथवा कहीं वाजिन्त्रों की आवाज सुने तो वह तुरन्त जागृत हो जाता है। परन्तु अविवेकी जीव को तो पापकर्मफल के लगातार उदयरूप मुद्गर की मार मर्मस्थान पर पड़ा करती है, महादुःखरूप त्रिविधि ताप से उसका देह निरन्तर जल रहा है, और फिर आज यह मरा, कल यह मरा, अमुक ऐसे मरा, फलाना ऐसे मरा, ऐसे यमराज के वाजिन्त्रों के भयंकर शब्द बारम्बार सुनता है, तथापि वह महा अकल्याणकारक अनादि मोहनिद्रा को जरा भी छोड़ नहीं कर सकता, यह परम आश्चर्य है। (1863) (श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-57)

* * *

जो मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य द्वारा क्रोध के वश होकर पैर से लेकर मस्तक तक चारों ओर दुःखदायक दृढ़तर डोरियों से जकड़कर बाँध दिया गया हो, वह उसमें से

किसी एक भी डोरी ढीली होने पर सुख का अनुभव करता है। तो फिर जो सिद्ध जीव बाह्य और अभ्यन्तर दोनों ही बन्धनों से रहित हो गये हैं, वे क्या सदा सुखी नहीं होंगे ? अर्थात् सिद्ध भगवान सदा सुखी हैं। (1864)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, सिद्धस्तुति, श्लोक-9)

* * *

आगम के पदों का और का और अर्थ करके जिन-आगम के कथन को छिपाना चोरी जानो तथा आत्मस्वभाव में रमण न करके आत्मज्ञानरहित अनेक व्रतों को पालना भी चोरी है। (1865)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-350)

* * *

उपवास करनेवाला व्यक्ति अभिलाषापूर्वक (उत्कण्ठित होता हुआ) कान द्वारा, धर्मरूपी अमृत को पीओ और आलस्यरहित होता हुआ ज्ञान और ध्यान में तत्पर (लवलीन) रहो। (1866)

(श्री समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-148)

* * *

सम्यग्दर्शन बिना ध्यान होता नहीं, क्योंकि निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कार की (शुद्धात्मा की) सम्यक् प्रतीति बिना उसमें निश्चल परिणति कहाँ से हो सकती है ? इसलिए मोक्ष के उपायभूत ध्यान करने के इच्छुक जीव को प्रथम तो जिनोक्त द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझपूर्वक निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कार की सम्यक् प्रतीति का सर्व प्रकार से उद्यम करना योग्य है; तत्पश्चात् ही उस चैतन्यचमत्कार में विशेष लीनता का यथार्थ उद्यम हो सकता है। (1867)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पंचास्तिकाय, गाथा-146 के भावार्थ में से)

* * *

यह सम्यग्दर्शन संसारभय का नाश करनेवाला है तथा सर्व गुणों का आधार है। ऐसा सम्यग्दर्शन मुझे प्राप्त हुआ है। जो संसार-समुद्र में इस सम्यग्दर्शनरूपी रत्न मुझसे नष्ट हुआ तो वह अर्धपुद्गलपरावर्तन काल तक संसार में परिभ्रमण किये बिना फिर से मुझे प्राप्त नहीं होगा, इसलिए प्रमाद करना मुझे बिल्कुल अयोग्य है। (1868)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, बारह भावना अधिकार, गाथा-67)

* * *

इस संसार में ये जो प्रख्यात पुण्यशाली चन्द्र, सूर्य, देवेन्द्र, नरेन्द्र, नारायण, बलभद्र आदि कीर्ति, कान्ति, द्युति, बुद्धि, धन और बल के धारी हैं, वे भी यमराज की दाढ़ में जाकर, अपने-अपने समय पर मृत्यु को प्राप्त होते हैं, तब दूसरों की तो बात ही क्या है? अतः बुद्धिवानों को धर्म में मन लगाना चाहिए। (1869)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-299)

* * *

जो लौकिक सुख है, वह सर्व इन्द्रियविषयक माना गया है, इसलिए वे सुखमात्र सुखाभास ही नहीं परन्तु निःसन्देह दुःखरूप भी है। (1870)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-238)

* * *

ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है, क्योंकि उसके (—ज्ञान के) अभाव में, स्वयं ही अज्ञानरूप हुए अज्ञानियों को अन्तरंग में व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मों का सद्भाव (अस्ति) होने पर भी मोक्ष का अभाव है। अज्ञान ही बन्ध का हेतु है, क्योंकि उसके अभाव में, स्वयं ही ज्ञानरूप हुए ज्ञानियों को बाह्य व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मों का असद्भाव होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है। (1871)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-153)

* * *

ममतारहित होना परम तत्त्व है, ममतारहित होना परमसुख है, ममतारहित भाव मोक्ष का श्रेष्ठ बीज है, ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है। (1872)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-234)

* * *

वह आनन्द (—आत्मा में उत्पन्न हुआ आनन्द) प्रचुर कर्मरूपी ईधन को निरन्तर जला देता है और वह (आनन्दमग्न) योगी बाहर के दुःखों में अचेतन रहने से (बाहर के दुःखों का लक्ष्य न होने से) खेद को प्राप्त नहीं होता। (1873)

(श्री पूज्यपादस्वामी, इष्टोपदेश, गाथा-48)

* * *

इस लोक में जो पदार्थ रागी पुरुषों को कर्मों के बन्ध का कारण होते हैं, वे ही पदार्थ वीतरागी पुरुषों को कर्मबन्ध से छुड़ाकर मुक्ति का कारण होते हैं, जैसे जो दही, गुड़ तथा घी सन्निपात से व्याकुल रोगी को मरण का कारण होता है, वही निरोगी पुरुषों को बहुत ही पुष्टि का कारण होता है। (1874)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-86)

* * *

जो प्रमादी, शुद्ध चिद्रूप के चिन्तन को तजकर अन्य कार्य करते हैं, वे अमृत को छोड़कर विष को पीते हैं। (1875)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अध्याय-4, गाथा-18)

* * *

जो जीव मृत्यु नाम कल्पवृक्ष को प्राप्त होने पर भी अपना कल्याण नहीं सिद्ध किया, वह जीव संसाररूप कर्दम में डूबा हुआ फिर कहाँ करेगा? (1876)

(मृत्यु महोत्सव, श्लोक-7)

* * *

समस्त धर्म का मूल भावना है। भावना से ही परिणाम की उज्ज्वलता होती है। भावना से मिथ्यात्व का अभाव होता है। भावना से व्रत में दृढ़ परिणाम होते हैं। भावना से वीतरागता की वृद्धि होती है। भावना से अशुभ-ध्यान का अभाव होकर शुभध्यान की वृद्धि होती है। भावना से आत्मा का अनुभव होता है—इत्यादि हजारों गुणों की उत्पत्ति भावना से होती जानकर, भावना को एक क्षण भी छोड़ो नहीं। (1877)

(श्री समन्तभद्र आचार्य, रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका, भावना महा अधिकार के उपोद्घात में से)

* * *

जिनके चित्त में सम्यग्ज्ञान की किरणें प्रकाशित हुई हैं, वे संसार में स्वभाव से ही वीतरागी रहते हैं, ज्ञानी होकर विषयसुख में आसक्त हो, यह उल्टी रीति असम्भव है। (1878)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पद-41)

* * *

जिसने आत्मज्ञानमयी श्रुतज्ञान के बिना अनेक प्रकार व्रत, तप, क्रिया की, वह

केवल मात्र कष्ट को ही सहता है, उसका रंजायमानपना मिथ्या इन्द्रियों के विषयों में है। (1879) (श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-88)

* * *

संसार में इन्द्रियजन्य जितने सुख हैं, वे सब इस आत्मा को तीव्र दुःख देनेवाले हैं। इस प्रकार जो जीव इन्द्रियजन्य विषय-सुखों के स्वरूप का चिन्तन नहीं करता, वह बहिरात्मा है। (1880) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, रयणसार, गाथा-136)

* * *

जिस प्रकार गाय की माँसपेशियों के बीच (गाय के स्तन में) दूध (पृथक्) रहता है, उसी प्रकार कर्मजाल के बीच सर्वत्र चेतन-आत्मा रहा हुआ है; ऐसे विशिष्ट चेतनस्वभावी आत्मा को कर्मसमूह के साथ सादृश्यता कौन कहे? अथवा आत्मा के निर्मल गुणों को छोड़कर कर्मजनित भावों का ग्रहण कौन करे? (1881)

(श्री नेमिश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-55)

* * *

जीव है, वह संकल्पमय है, और संकल्प है, वह सुख-दुःखमय है, अब उस सुख-दुःखमय संकल्प को जो जानता है, वही जीव है, जो देह के साथ सर्वत्र मिल रहा है, तो भी जाननेवाला है, वही जीव है। (1882) (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-184)

* * *

सिद्धों को सर्व कर्मों का नाश होने से सर्व दुःखों का भी नाश हुआ है, क्योंकि दुःख का लक्षण तो आकुलता है। अब आकुलता तो तब ही होती है कि जब कुछ इच्छा हो। उस इच्छा का और इच्छा के कारणों का सर्वथा अभाव होने से वे सर्व दुःखरहित निराकुल अनन्त सुख अनुभव करते हैं। क्योंकि निराकुलता वही सुख का लक्षण है। (1883) (श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-3, पृष्ठ-79)

* * *

हे वीर पुरुष! सम्यग्दर्शन का प्रकाश करके तू आत्मज्ञान में रमण कर। सम्यग्दृष्टि आत्मा की परिणति ही अनन्त ज्ञान के प्रकाश का कारण है। जो ज्ञानी आत्मिकज्ञान के

स्वभाव में प्रगटरूप से रम जाता है, हे वीर! वही आत्मा ही प्रकाशमान होकर मुक्ति को पाता है। (1884)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-2, पृष्ठ-54)

* * *

जीवों ने जो निरन्तर भोगों का अनुभव किया है, उनका उन भोगों से उत्पन्न हुआ सुख अवास्तविक (कल्पित) है। परन्तु आत्मा से उत्पन्न सुख अपूर्व और समीचीन है,—ऐसा जिसके हृदय में दृढ़ विश्वास हो गया है, वह तत्त्वज्ञ है। (1885)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-150)

* * *

(1) अनादि संसार से जो आह्लाद पूर्व में कभी अनुभव में नहीं आया, ऐसा अपूर्व, परम अद्भुत आह्लादरूप होने से 'अतिशय', (2) आत्मा का ही आश्रय करके (स्वाश्रित) प्रवर्तता होने से 'आत्मोत्पन्न', (3) पराश्रय से निरपेक्ष होने से (—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द के तथा संकल्प-विकल्प के आश्रय की अपेक्षारहित होने से) 'विषयातीत', (4) अत्यन्त विलक्षण होने से (अर्थात् दूसरे सुखों से अत्यन्त भिन्न लक्षणवाला होने से) 'अनुपम', (5) समस्त आगामी काल में कभी नाश नहीं पाता होने से 'अनन्त', और (6) अन्तर पड़े बिना प्रवर्तता होने से 'अविच्छिन्न'—ऐसा शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए इन आत्माओं का सुख है, इसलिए वह (सुख) सर्वथा प्रार्थनीय है (अर्थात् सर्वथा प्रकार से चाहनेयोग्य है)। (1886)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-13)

* * *

भाषासमिति वह कही गयी है कि जो कुछ जिनेन्द्र ने केवलज्ञान से जानकर कहा है, उस भाषा को प्रमाण कर लेना—मान लेना तथा ज्ञानस्वभाव का मनन करते हुए शुद्ध भाषा कहना। (1887)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-620)

* * *

जीवद्रव्य है, वह अपने चेतनास्वरूप में, अपने ही क्षेत्र में, अपने ही द्रव्य में तथा अपने परिणमनरूप समय में रहकर ही अपने पर्यायस्वरूप कार्य को साधता है। (1888)

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-232)

* * *

अधिक क्या कहें ! इतना ही समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है तथा अन्य नाना प्रकार के भेद बाह्य साधन अपेक्षा से उपचार से कहे हैं, उन्हें व्यवहारमात्र धर्मसंज्ञा जानना। इस रहस्य को नहीं जानता, इसलिए उसे (—जैनाभासी को) निर्जरा का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। (1889)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-7, पृष्ठ-236)

* * *

जो पुरुष पर की निन्दा करके अपने को गुणवानपने में स्थापित करना चाहता है, वह पुरुष कड़वी दवा अन्य पीवे और स्वयं निरोग होना चाहता है।

सत्पुरुष अन्य का दोष देखकर स्वयं लज्जा पाता है। जैसे अपने दोष की रखा करे—छिपावे, उसी प्रकार अन्य का दोष देखकर, लोक में संयम की निन्दा होने के भय से दूसरे का दोष प्रगट न करे।

जैसे तेल की बूँद पानी में विस्तार को पाती है, उसी प्रकार दूसरे का अत्यन्त अल्प गुण भी सत्पुरुष को प्राप्त होकर बहुत विस्तार को पाता है। ऐसे सत्पुरुष पर के दोष कैसे कहें—कैसे प्रगट करें ? सत्पुरुष दूसरे के दोष प्रगट करते ही नहीं। (1890)

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-376-77-78)

* * *

आहार है, वह काया की रक्षा के लिये है; काया ज्ञान के सम्पादन के लिये है; ज्ञान कर्म के नाश के लिये है; और कर्म के नाश से परमपद की प्राप्ति होती है। (1891)

(मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-218)

* * *

जैसे वास्तव में स्वर्ण कादव के मध्य पड़ा हो तो भी कादव से लिस नहीं होता (अर्थात् उसे जंग नहीं लगती) क्योंकि वह कादव से अलिस रहने के स्वभाववाला है, उसी प्रकार वास्तव में ज्ञानी कर्म के मध्य रहा हो तो भी कर्म से लिस नहीं होता, क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति किया जानेवाला जो राग, उसके त्यागरूप स्वभावपना होने से ज्ञानी कर्म से अलिस रहने के स्वभाववाला है। जैसे लोहखण्ड कादव के मध्य पड़ा हुआ कादव से लिस होता है (अर्थात् उसे जंग लगती है) क्योंकि वह कादव से लिस

होने के स्वभाववाला है, उसी प्रकार वास्तव में अज्ञानी कर्म के मध्य रहा हुआ कर्म से लित है, क्योंकि सर्व परद्रव्य के प्रति किया जानेवाला जो राग, उसके ग्रहणरूप स्वभावपना होने से अज्ञानी कर्म से लित होने के स्वभाववाला है। (1892)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-218-219)

* * *

जो अपने को सुखी करे, वही मित्र है और जो दुःखी करे, वह शत्रु, ऐसा आबाल-वृद्ध सब कोई समझते हैं। मित्र होकर अपने को दुःखी करना (जो) मरे हुए तो शत्रुवत् ठहरे, उनके मरने का शोच क्या करना? (1893)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-184)

* * *

उत्तम बुद्धि का धारक मनुष्य दूसरे के द्वारा दिये जानेवाले दान के विषय में दूसरों से की गयी प्रशंसा को सुनकर उत्कृष्ट श्रद्धा को धारण करता हुआ अतिशय सन्तोष को प्राप्त होता है। मध्यम बुद्धि का धारक मनुष्य स्वयं या दूसरे के द्वारा भी दिये जानेवाले दान को देखकर हर्षित होता है। परन्तु हीनबुद्धि मनुष्य दिये जानेवाले दान को देखकर और सुनकर भी अनुराग को प्राप्त नहीं होता है। (1894)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-492)

* * *

मेरे निकट में प्राप्त हुआ कोई भी मित्र, अथवा अन्य किसी का मुझे प्रयोजन नहीं है, मुझे इस शरीर में भी प्रेम रहा नहीं, अभी मैं अकेला ही सुखी हूँ। यहाँ संसारपरिभ्रमण में चिरकाल से जो मुझे संयोग के निमित्त से कष्ट हुआ है, उससे मैं विरक्त हुआ हूँ, इसलिए अब मुझे एकाकीपना (अद्वैत) अत्यन्त रुचता है। (1895)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, परमार्थ विंशति, श्लोक-4)

* * *

जिस शरीर को छोड़कर जाना पड़ेगा, वह शरीर अपना कैसे हो सकता है, ऐसा विचार कर भेदविज्ञानी पण्डित शरीर से भी उस ममत्वभाव को छोड़ देते हैं। (1896)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-229)

* * *

कल्पवृक्ष से तो संकल्प योग्य ऐसा फल है, अर्थात् वचन से माँगें तो मिले और चिन्तामणिरत्न का चिन्तवनयोग्य अर्थात् मन से जो चाहे वह फल प्राप्त होता है। परन्तु धर्म के आश्रय से तो असंकल्पित और अचिन्तनीय फल प्राप्त होता है। अर्थात् धर्म से ऐसा कोई अद्भुत फल प्राप्त होता है कि जो संकल्प और विकल्प से भी पर है। (1897)

(श्री गुणभद्र आचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-22)

* * *

स्वसंवेदनरूप वीतरागमुद्रा (जिनप्रतिमा) देखकर स्वसंवेदनभावरूप अपना स्वरूप विचारे—पूर्व में वे सराग थे, और राग मिटाकर वीतराग हुए, आज मैं सराग हूँ (परन्तु) उनकी भाँति राग मिटाऊँ तो वीतरागता मेरा पद वह मैं प्राप्त करूँ; निश्चय में मैं वीतराग हूँ। कहा है कि—

इस स्थापना के निमित्त से तीन काल में तीन लोक में भव्य जीव धर्म साधते हैं, इसलिए स्थापना परम पूज्य है। (1898) (श्री दीपचन्द्रजी, अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-71)

* * *

स्वप्न अवस्था में प्रत्यक्ष दिखाई दिये हुए शरीरादिक का नाश होने पर भी जैसे आत्मा का नाश नहीं होता, उसी प्रकार जागृत अवस्था में भी देखे हुए शरीरादिक का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता; क्योंकि दोनों अवस्थाओं में विपरीत प्रतिभास में कोई अन्तर नहीं है। (1899) (श्री पूज्यपादस्वामी, समाधितन्त्र, गाथा-101)

* * *

जितने अनर्थकारक भाव हैं या संयोग हैं, वे सब गल जाते हैं। मिथ्याज्ञान से जो यह अपनी प्रसन्नता रखता है, वह भाव भी गल जाता है। पुद्गल का सर्व स्वभाव गल जाता है। एक ज्ञानस्वभाव को लिये हुए आत्मा मुक्ति में जाता है। (1900)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-315)

* * *

निश्चय से रागादि भावों का प्रगट न होना, वह अहिंसा है और उन रागादि भावों का उत्पन्न होना, वह हिंसा है। ऐसा जैन सिद्धान्त का सार है। (1901)

(श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव, पुरुषार्थसिद्धि उपाय, गाथा-44)

* * *

यदि सबसे प्रथम संसार के भय से मोक्षसुख में दृढ़ रुचि उत्पन्न होती है तो वह (मोक्षसुख की) प्राप्ति का सरल उपाय है। (1902)

(श्री ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञानतरंगिणी, अध्याय-18, गाथा-4)

* * *

अब सम्यग्दर्शन का उदय हो गया है। इसी सम्यग्दर्शन के द्वारा परमात्मपद का प्रकाश होता है। आत्मा के स्वभाव का प्रकाश होना ही सिद्धपद है। श्री परमजिन अरहन्तभगवान ने ही ऐसा कहा है। (1903)

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-2, पृष्ठ-85)

* * *

जो समस्त देव और मनुष्य इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न और इन्द्रियों के तृप्त करने में समर्थ ऐसे निराबाध सुख को वर्तमान काल में भोगते हैं तथा सबने अतीत काल में जो सुख भोगे हैं और जो सुख महाऋद्धियों से उत्पन्न हुए हैं तथा स्वादिष्ट और मन को प्रसन्न करनेवाले जो सुख आगामी काल में भोगे जायेंगे, उन समस्त सुखों से अनन्तगुणे अतीन्द्रिय और अपने स्वभाव से उत्पन्न होनेवाले सुख को श्री सिद्ध भगवान परमेश्वर एक ही समय में भोगते हैं। (1904)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-42, श्लोक-66-67-68)

* * *

जो मनुष्य परद्रव्य का हरण करता है, वह मूर्ख है, चोर है, जो अपने धन का उपयोग करता है, वह समझदार है, साहूकार है। जो परद्रव्य की संगति में मग्न रहता है, वह बन्ध की परम्परा बढ़ाता है और जो निजसत्ता में लीन रहता है, वह सहज में ही मोक्ष पाता है। (1905)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, मोक्ष द्वार, पद-18-19)

* * *

ये ग्यारह प्रतिमायें हैं, इनमें सबके शुद्धभाव तथा शुद्ध ध्यान रहता है, आत्मा को परमात्मरूप भाते हैं, उनके निर्मल निश्चय शुद्ध सम्यग्दर्शन होता है। (1906)

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-337)

* * *

जैसे-जैसे विशेष शुद्धता की अन्तरंग में प्रकाशमान वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे ही इन्द्रियों के विषयों में भी उपेक्षा बढ़ती जाती है। (1907)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-784)

* * *

यहाँ शिष्य पूछता है—सविपाक निर्जरा नरकादि गतियों में अज्ञानियों को भी (होती) दिखाई देती है। वह सम्यग्ज्ञानियों को ही होती है, ऐसा नियम नहीं है। उसका उत्तर—यहाँ जो संवरपूर्वक की मोक्ष की कारणरूप निर्जरा है, वही ग्रहण करना। जो अज्ञानियों की निर्जरा है, वह तो गजस्नानवत् निष्फल है, क्योंकि थोड़े कर्म खिरते हैं और वह बहुत अधिक बाँधता है, इस कारण से वह ग्रहण करनेयोग्य नहीं है। (1908)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, बृहद्द्रव्य संग्रह, गाथा-36 की टीका में से)

* * *

सुख से भाया हुआ ज्ञान है, वह उपसर्ग-परीषहादि के द्वारा दुःख उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। इसलिए यह उपदेश है कि जो योगी ध्यानी मुनि है, वह तपश्चरणादि के कष्टसहित आत्मा को भावे (अर्थात् बाह्य में जरा भी अनुकूल-प्रतिकूल न मानकर निज आत्मा में ही एकाग्रतारूपी भावना करे), जिससे आत्मशक्ति और आत्मिक आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन बढ़ता ही है। (1909) (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, मोक्षपाहुड, गाथा-62)

* * *

प्रश्न:—जो शास्त्र स्वयं ही मंगल है, उसका मंगल किसलिए किया जाता है ?

उत्तर:—भक्ति के लिये मंगल का भी मंगल किया जाता है। सूर्य को दीपक से, महासागर को जल से, वागीश्वरी को (सरस्वती को) वाणी से और मंगल को मंगल से अर्चित किया जाता है। (1910) (श्री जयसेन आचार्य, पंचास्तिकाय टीका, गाथा-1)

* * *

जो आत्मा इन कर्म के परिणाम को तथा नोकर्म के परिणाम को करता नहीं, परन्तु जानता है, वह ज्ञानी है। (1911) (श्री कुन्दकुन्द आचार्य, समयसार, गाथा-75)

* * *

राग और द्वेष महाशत्रु है। मोक्ष के वीतराग विज्ञानमय मार्ग को लूटनेवाले हैं। ये दीर्घकाल से संचय किये हुए ज्ञान, ध्यान, तप, रत्न को लूट लेते हैं। (1912)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-296)

* * *

अधमाधम मनुष्य सरल चित्तवाले मनुष्य को मूर्ख कहता है, जो बातचीत में चतुर हो, उसे धीठ कहता है, विनयवान को धन का आश्रित बताता है, क्षमावान को कमजोर कहता है, संयमी को लोभी कहता है, मधुर बोलनेवाले को गरीब कहता है, धर्मात्मा को ढोंगी कहता है, निस्पृही को घमण्डी कहता है, सन्तोषी को भाग्यहीन कहता है, अर्थात् जहाँ सद्गुण देखता है, वहाँ दोष लगाता है। दुर्जन का हृदय ऐसा ही मलिन होता है। (1913)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, बन्ध द्वार, पद-23)

* * *

जीव और शरीर पानी और दूध की भाँति मिले हुए हैं, तो भी इकट्ठे-एकरूप नहीं है, भिन्न-भिन्न हैं; तो फिर बाहर में प्रगटरूप से भिन्न दिखते हैं ऐसे लक्ष्मी, मकान, पुत्र और स्त्री इत्यादि मिलकर एक कैसे हो सकते हैं ? (1914)

(श्री दौलतरामजी, छहढाला, ढाल-5, श्लोक-7)

* * *

जो अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख—स्वभाव के धारक हैं, समस्त संसारी विकारीभावों से पर है, अभेद रत्नत्रयरूप निर्विकल्प समाधि द्वारा गम्य है, परमात्मा संज्ञा से प्रसिद्ध है, वे देवाधिदेव मेरे हृदय में विराजमान होओ। (1915)

(श्री अमितगति आचार्य, सामायिक पाठ, श्लोक-13)

* * *

जो तरुवर रास्ते को छोड़कर दूर फला-फूला है, वह व्यर्थ है, नहीं तो कोई थके हुए पथिक, वहाँ विश्राम लेते और नहीं उसके फल को कोई हाथ लगाता है; (उसी प्रकार मार्ग भ्रष्ट जीवों का वैभव व्यर्थ है)। (1916)

(मुनिवर रामसिंह, पाहुड दोहा, गाथा-115)

* * *

इस समस्त अधिकार में निश्चय से इतना ही कार्य है। वह कार्य क्या? आत्मा के शुद्धस्वरूप का अनुभव सूक्ष्मकालमात्र भी विसारनेयोग्य नहीं है। (1917)

(श्री राजमलजी, कलशटीका, कलश-122)

* * *

दुर्लभ मनुष्यपना पाकर जो इन्द्रिय-विषयों में रमता है, वह राख के लिये दिव्य अमूल्य रत्न को जलाता है। (1918)

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-300)

* * *

दूसरी आड़ी-टेढ़ी बातें करना छोड़ो; वह तो मात्र एक-दो शब्दों से संक्षिप्त में ही निपटा दो, और सदा ही निजात्मतत्त्व के अभ्यास द्वारा आत्मगुणों की वृद्धि करो। (1919)

(श्री नेमिश्वर वचनमृत शतक, श्लोक-14)

* * *

मूलगुणों को छोड़कर केवल बाकी के उत्तरगुणों के परिपालन में ही प्रयत्न करनेवाले तथा निरन्तर पूजा आदि की इच्छा रखनेवाले साधु का यह प्रयत्न गुणघातक होगा। क्योंकि उत्तरगुणों में दृढ़ता इन मूलगुणों के निमित्त से ही प्राप्त होती है। इसीलिए यह उसका प्रयत्न ऐसा है कि जैसे युद्ध में कोई मूर्ख सुभट अपने मस्तक का छेदन करनेवाले शत्रु के अनुपम प्रहार की परवाह न करके केवल अँगुली के अग्रभाग के खण्डन करनेवाले प्रहार से ही अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता है। (1920)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-40)

* * *

घात करनेवाला और घात करनेवाले की प्रशंसा करनेवाला, इन दोनों का पाप परमागम में समान ही निर्णय किया गया है, क्योंकि जैसे घात करनेवाले को जो पाप हुआ, सो भी अशुभ परिणामों से हुआ है, उसी प्रकार भले जाननेवाले के भी अशुभ संकल्प हुए बिना उसकी अनुमोदना नहीं हो सकती है; इस कारण हिंसा करने और उसको भला जाननेवाले को पाप बराबर लगता है।

देखो! स्वयंभूरमण समुद्र में शालिमत्स्य महामत्स्य के परिणामों से अपने परिणाम मिलाकर नरक को गया। यह अन्य कोई हिंसा करे, उसका जो आप अनुमोदन करे तो

उसके संकल्पमात्र से उसी के समान पाप होने का उदाहरण है। (1921)

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-8, श्लोक-45-46)

* * *

जैसे कोई मूर्ख स्वर्ण के थाल में धूल भरता है, अमृत द्वारा अपने पैर धोता है, श्रेष्ठ हाथी पर लकड़ियों का भार ढोता है तथा कौवे को उड़ाने के लिये अपने हाथ द्वारा चिन्तामणि फेंक देता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव प्राप्त हुए अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यजन्म को प्रमाद के वश होकर व्यर्थ गँवाता है। (1922)

(श्री सोमप्रभ आचार्य, सुक्ति मुक्तावली, श्लोक-5)

* * *

जिस मृत्यु से जीर्ण देहादिक सर्व छूटकर नवीन हो जाते हैं, वह मृत्यु सत्पुरुषों को साता के उदय की भाँति हर्ष के लिये नहीं होगी क्या ? ज्ञानी के तो मृत्यु हर्ष के लिये ही है। (1923)

(मृत्यु महोत्सव, श्लोक-8)

* * *

प्रेम समान कोई बन्धन नहीं, विषय समान कोई विष नहीं, क्रोध समान कोई शत्रु नहीं, जन्म समान कोई दुःख नहीं, सबसे बड़ा बन्धन प्रेम है, सबसे बड़ा विष विषय है, सबसे बड़ा शत्रु क्रोध है, सबसे बड़ा दुःख जन्म है। (1924)

(श्री वीरनन्दिकृत चन्द्रप्रभ चरित्र में से)

* * *

जो वीर है, उसे भी मरना पड़ता है तथा जो वीर नहीं है, वह भी अवश्य मरता है। यदि वीर तथा कायर दोनों मरते ही हैं तो वीरता से अर्थात् संक्लेश परिणामों का त्याग करके शान्त परिणामों से मरना ही श्रेष्ठ है। मैं शान्त परिणामी होकर प्राणों का त्याग करूँगा। (1925)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, प्रत्याख्यान अधिकार, गाथा-96)

* * *

इस जीव को तीन काल—तीन लोक में सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई कल्याण नहीं है तथा मिथ्यात्व समान अन्य कोई अकल्याण नहीं है। (1926)

(श्री समन्तभद्र आचार्य, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा-34)

* * *

यद्यपि औषधि गुणकारी होती है, तथापि यदि वह विष-मिश्रित हो गयी हो तो वह दोषित हो जाने से उसके सेवन से मनुष्य को नुकसान होता है; उसी प्रकार अहिंसादि गुण जब मिथ्यात्वसहित होते हैं, तब वे गुण होने पर भी संसार में लम्बे काल तक परिभ्रमण करानेवाले दोषों को धारण करते हैं। (1927)

(श्री शिवकोटि आचार्य, मूलाराधना, गाथा-63)

* * *

यह एक मरण के अन्त में होनेवाली संल्लेखना ही मेरे धर्मरूपी धन को मेरे साथ ले जाने के लिये समर्थ है। इस प्रकार भक्तिसहित निरन्तर भावना करनी चाहिए। (1928)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्धि उपाय, श्लोक-175)

* * *

संकल्प-विकल्प के नाश से निर्विकल्पदशा में उत्पन्न होनेवाला जो ज्ञानरूपी सुधारस, उसे भावमुनि सम्यग्ज्ञानरूपी अंजलि द्वारा पीते हैं। (1929)

(परमानन्द स्तोत्र, श्लोक-5)

* * *

कोई-कोई मात्र ज्ञान से ही आत्मा की शुद्धि होना मानते हैं, वह उनका बड़ा भ्रम है क्योंकि औषधि का स्वरूप जाननेमात्र से किसी का रोग दूर नहीं होता, परन्तु औषधि सेवन से ही रोग दूर होता है। उसी प्रकार ज्ञान के साथ श्रद्धा और चारित्र्य होते ही आत्मा की शुद्धि (मुक्ति) होती है। (1930)

(श्री अमितगति आचार्य, धर्म परीक्षा, परिच्छेद-17वाँ, श्लोक-55)

* * *

अन्ध पुरुष का स्वभाव ही अन्धा होता है। उसे कुछ दीखता ही नहीं है, इसी तरह जो मिथ्यात्व के उदय से अन्धा है, वह हित-अहित, धर्म-अधर्म पर दृष्टि न देता हुआ अज्ञान से कुआचरण करके भोगों में लिप्त होकर दुःख का बीज बोता है, अनन्तानन्त दोषों का पात्र होता है। संसार में नरकगति में जाता है या निगोद में दीर्घकाल बिताता है। (1931)

(श्री तारणस्वामी, उपदेश शुद्धसार, श्लोक-253)

* * *

चार गति के दुःखों का क्षय होओ, आठ कर्मों का क्षय होओ, ज्ञान का लाभ होओ, पंचम गति में गमन होओ। समाधि-मरण होओ तथा जिनराज के गुणों की सम्पत्ति मुझे प्राप्त होओ। (1932) (श्री कुन्दकुन्दाचार्य, दस भक्ति)

* * *

जिसके आधीन अपनी आत्मा नहीं है, उसके आधीन दूसरे मानव कैसे हो सकते हैं? जिसके आधीन अपनी आत्मा है और जो शान्त है, उसके आधीन तीन लोक हो जाता है। (1933) (श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय, श्लोक-300)

* * *

मिथ्यादृष्टि अपने को ऐसा विशेष मानता है कि मैं सबमें श्रेष्ठ ब्राह्मण हूँ, मैं वणिक हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं इनके सिवाय शूद्र हूँ, मैं पुरुष हूँ, नपुंसक हूँ और स्त्री हूँ, इस प्रकार शरीर के भावों को मूर्ख अपने मानता है। सो ये सब शरीर के हैं, आत्मा के नहीं हैं। (1934) (श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-81)

* * *

इस संसार में रागादि परपरिणति के कारण अनन्त भवों में अनन्त प्रकार के भय बने रहते हैं। मरणभय, इष्ट-वियोगभय, रोगभय आदि-आदि। जब भव्यजीव सम्यग्ज्ञानी हो जाता है, तब सर्व भयों से रहित हो जाता है। फिर उसके संसार के भ्रमण का भय भी नाश हो जाता है। वह भव्यजीव गुणों का निधान है। उसके निर्मल भाव रहते हैं, ऐसा जानो। वास्तव में सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी होता है। उसको निश्चय हो जाता है कि मैं शुद्धात्मस्वरूप हूँ। मेरी मुक्ति मेरे ही पास है। इसलिए वह पूर्ण निर्भय रहता है, उसके भीतर शुद्धात्मा का स्वभाव प्रगट रूप से झलकता है, वह स्वसंवेदन द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वभाव का अनुभव करता है। (1935) (श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-1, पृष्ठ-294)

* * *

अहिंसा ही जगत का रक्षण करनेवाली माता है, अहिंसा ही आनन्द की वृद्धि करनेवाली है, अहिंसा ही उत्तम गति है, अहिंसा ही अविनाशी लक्ष्मी है, अहिंसा ही मोक्षसुख को उत्पन्न करनेवाली है, अहिंसा ही स्वर्ग सम्पत्ति को देनेवाली है, अहिंसा ही

परम हितकारी है और अहिंसा ही सर्व आपदाओं का नाश करनेवाली है। (1936)
(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-8, श्लोक-32-33)

* * *

अपने आत्मा के उद्धार की चिन्ता करना, वह उत्तम चिन्ता है, शुभराग के वश दूसरे जीवों का भला करने की चिन्ता करना, वह मध्यम चिन्ता है; कामभोग की चिन्ता करना, वह अधम चिन्ता है और दूसरे का अहित करने का विचार करना, वह अधम से अधम चिन्ता है। (1937) (परमानन्दस्तोत्र)

* * *

यह जीव भोगों के निमित्त से तो बहुत अल्प पाप करता है, परन्तु तन्दुलमत्स्य की भाँति प्रयोजन बिना ही अपने दुर्विचारों से घोर पाप करता है। (1938)
(श्री जयसेन आचार्य)

* * *

मिथ्यादृष्टियों को वह शुद्ध सामान्यरूप सत् अनुभव में नहीं आता कि जो अपनी सर्व विशेष अवस्थाओं में भी अनुपमरूप से विद्यमान रहता है, क्योंकि दृष्टि में ही दर्शनमोहरूप दोष होने से उन मिथ्यादृष्टियों को ज्ञानचेतना नहीं होती। (1939)
(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-222)

* * *

प्रथम ही सर्व सिद्धान्त का मूल यह है कि वस्तु के कारण-कार्य जानना; जितने संसार से पार हुए हैं, वे सर्व परमात्मा के कारण-कार्य जान-जानकर हुए हैं। तीनों काल में जो परमात्मा को ध्याने से मुक्त हुए, उनके (उस परमात्मा के) कारण-कार्य यदि नहीं जाने तो उसने क्या जाना? (कुछ नहीं जाना)। इसलिए कारण-कार्य जानना चाहिए। (1940) (श्री दीपचन्द्रजी, चिद्विलास, पृष्ठ-35)

* * *

चिन्तामणिरत्न चिन्तित पदार्थों को और कल्पवृक्ष कल्पे हुए पदार्थों को प्रदान करता है, परन्तु शुद्ध आत्मा के ध्यान से अचिन्तित और असंकल्पित पदार्थ की प्राप्ति होती है। (1941) (श्री अमितगति आचार्य)

* * *

ज्ञान-दर्शनस्वभाव से शोभायमान तथा द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म के समुदाय को दूर रखनेवाले आत्मा को छोड़कर कोई भी अन्य भाव मेरा नहीं है और न मैं किसी अन्य का हूँ, ऐसी बुद्धि आत्मस्वरूप की मर्यादा को जाननेवाले जिस किसी के चित्त में नित्य रहा करती है, उस महात्मा के कर्मों का बन्ध नहीं होता, यों तो तीनों लोक के संसारी प्राणी संसार के बन्धनों से जकड़े हुए हैं। (1942)

(श्री अमितगति आचार्य, तत्त्वभावना, श्लोक-11)

* * *

यहाँ सोम नामक राजश्रेष्ठी प्रश्न करता है :— हे भगवान ! केवलज्ञान के अनन्तवें भागप्रमाण आकाशद्रव्य है, उसके भी अनन्तवें भाग में सबके बीच में लोकाकाश है और वह भी अनादि-निधन है, किसी भी विशिष्ट पुरुष द्वारा किया नहीं गया, नष्ट नहीं होता, धारण नहीं किया जाता और रक्षित नहीं किया जाता। और वह असंख्यात प्रदेशोंवाला है। उस असंख्यातप्रदेशी लोक में अनन्त जीव, उनसे भी अनन्तगुणे पुद्गल, लोकाकाशप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य, प्रत्येक लोकाकाशप्रमाण ऐसे धर्म-अधर्म दो द्रव्य—ये पदार्थ किस प्रकार अवकाश प्राप्त करते हैं ?

भगवान उत्तर देते हैं :— एक ही दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश, एक गूढ़ रस के शीशा में बहुत स्वर्ण, राख से भरपूर घड़े में सुई तथा ऊँटनी का दूध जैसे समा जाता है—इत्यादि दृष्टान्त से विशिष्ट अवगाहनशक्ति के कारण असंख्यप्रदेशवाले लोक में भी पूर्वोक्त पदार्थों के अवगाहन में विरोध नहीं आता। (1943)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-20 की टीका में से)

* * *

कोई कहता है कि संसार अनन्त है, वह कैसे मिटे ? उसका समाधान—बन्दर की उलझन इतनी ही है कि मुठ्ठी नहीं छोड़ता, तोता की उलझन इतनी ही है कि नली को नहीं छोड़ता, कुत्ते की उलझन इतनी ही है कि वह भौंकता है। कोई तीन आँटिवाली डोरी में सर्प मानता है, तब तक ही उसे भय है। मृग, मृगजल में जल मानकर दौड़ता है, इसलिए ही दुःखी है; उसी प्रकार आत्मा पर को अपनेरूप मानता है, इतना ही संसार है; न माने तो मुक्त ही है। (1944)

(श्री दीपचन्द्रजी, चिद्विलास, पृष्ठ-106)

* * *

जैसे एक नर के अनेक अंग हैं, (वहाँ कोई) एक अंग नर नहीं, सर्व अंगरूप नर है; उसी प्रकार द्रव्यरूप, गुणरूप, पर्यायरूप जीव नहीं; जीववस्तु द्रव्य-गुण-पर्याय का एकत्व है। यदि एक अंग में जीव हो तो ज्ञानजीव, दर्शनजीव—इस प्रकार अनन्त गुण अनन्त जीव हो जाये, इसलिए अनन्त गुणों का पुंज जीववस्तु है। (1945)

(श्री दीपचन्द्रजी, चिद्विलास, पृष्ठ-61)

* * *

जिनेश्वरदेव ! मुझे समाधि दो, बोधि दो—इत्यादि वचन सत्य नहीं और असत्य भी नहीं, क्योंकि यह वचन भक्तगण भक्ति से जिनेश्वर के प्रति बोलते हैं, इसलिए यह भक्ति-वचन है। जिनेश्वरदेव ने अपने राग-द्वेष का नाश किया है, वे भक्तों को समाधि और बोधि देते नहीं। यदि वे भक्तों को समाधि और बोधि आदि देने लगें तो वे रागी सिद्ध हों। इसलिए जिनेश्वरदेव हमको समाधि आदि दो, ऐसा कहना, वह भक्तिवचन जानना। (1946)

(श्री कुन्दकुन्द आचार्य, मूलाचार, षट् आवश्यक अधिकार, गाथा-79)

* * *

प्रथम तो श्रावकों को सुनिर्मल अर्थात् भले प्रकार निर्मल और मेरुवत् निःकम्प अचल तथा चल-मलिन-अगाढ़ दूषणरहित अत्यन्त निश्चल ऐसे सम्यक्त्व को ग्रहण करके दुःख का क्षय करने के लिये उसको अर्थात् सम्यग्दर्शन को (सम्यग्दर्शन के विषय को) ध्यान में ध्याना चाहिए। भावार्थ—श्रावक पहले तो निरतिचार निश्चल सम्यक्त्व को ग्रहण करके उसका ध्यान करे, उस सम्यक्त्व की भावना से गृहस्थ के गृहकार्य सम्बन्धी आकुलता, क्षोभ, दुःख होता है, वह मिट जाता है, कार्य के बिगड़ने-सुधरने में वस्तु के स्वरूप का विचार आवे, तब दुःख मिटता है, सम्यग्दृष्टि के इस प्रकार विचार होता है कि—वस्तु का स्वरूप सर्वज्ञ ने जैसा जाना है, वैसा निरन्तर परिणमता है, वही होता है, इष्ट-अनिष्ट मानकर दुःखी-सुखी होना निष्फल है। ऐसा विचार करने से दुःख मिटता है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है, इसलिए सम्यक्त्व का ध्यान करना कहा है। (1947)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्षपाहुड, गाथा-86)

* * *

हे प्रभु! मैंने अनादिकाल से आज पर्यन्त जन्म-जन्म के जो दुःख सहे हैं, वे

आप जानते हो; उन दुःखों को स्मरण करने से मेरे हृदय में आयुध की भाँति चोट लगती है। (1948)

(श्री वादिराज मुनिराज, ऐकीभावी स्तोत्र, पद-11)

* * *

शास्त्र में तो अनेक प्रकार का उपदेश दिया है, परन्तु उसे सम्यग्ज्ञान में यथार्थ प्रयोजनपूर्वक पहिचाने तो हित-अहित का निश्चय हो। इसलिए स्यात्पद की सापेक्षतासहित सम्यग्ज्ञान द्वारा जो जीव जिनवचन में रमता है, वह जीव अल्प काल में ही शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है। मोक्षमार्ग में प्रथम उपाय आगमज्ञान कहा है। आगमज्ञान बिना धर्म का अन्य साधन भी नहीं हो सकता। इसलिए तुम्हारे भी यथार्थ बुद्धि द्वारा आगम का अभ्यास करना। इससे तुम्हारा कल्याण होगा। (1949)

(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-8, पृष्ठ-306)

* * *

वर्तमान काल में मनुष्यों का आयुष्य अल्प और बुद्धि अतिशय मन्द हो गयी है, इसलिए उनमें समस्त श्रुत के अभ्यास की शक्ति नहीं रही। इस कारण उन्हें यहाँ इतने ही श्रुत का प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करना चाहिए कि जो मोक्ष का बीजभूत होकर आत्मा का हित करनेवाला हो। (1950)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-127)

* * *

हे भव्य जीव! आत्मा के शुद्धस्वरूप की भावना ज्ञानसहित विनयपूर्वक हमेशा करो, नहीं तो मरण आने पर बहुत पश्चाताप होगा कि मैं कुछ कर नहीं सका तथा मरण का समय निश्चित नहीं, इसलिए आत्मज्ञान की भावना सदा करनायोग्य है। (1951)

(श्री कुलधर आचार्य, सारसमुच्चय)

* * *

यह बात बारम्बार कहने से तो पुनरुक्ति दोष आयेगा;—इसलिए उसका क्या प्रयोजन?—ऐसा विचारकर, हे भव्य! तू तत्त्व का अभ्यास छोड़ नहीं देना। बारम्बार तत्त्वाभ्यास की रुचि द्वारा कर्म की शक्ति को तोड़ने की यह एक युक्ति क्या बस नहीं! अर्थात् बारम्बार तत्त्व के घोलन से पुनरुक्ति दोष नहीं लगता, परन्तु कर्म का रस छूटता

जाता है। (1952)

(श्री नेमीश्वर वचनामृत शतक, श्लोक-31 का अन्य प्रति के आधार से दूसरा अर्थ)

* * *

हे मित्र! यदि तुम यहाँ सौभाग्य की इच्छा रखते हो, सुन्दर स्त्री की इच्छा रखते हो, पुत्रों की इच्छा रखनेवाले हो, लक्ष्मी की इच्छा रखते हो, महल की इच्छा रखते हो, सुख की इच्छा करते हो, सुन्दर रूप की इच्छा करते हो, प्रीति की इच्छा करते हो अथवा यदि अनन्त सुखरूप अमृत के समुद्र जैसे उत्तम स्थान (मोक्ष) की इच्छा रखते हो तो निश्चय से समस्त दुःखदायक आपत्तियों का नाश करनेवाले धर्म में तुम्हारी बुद्धि जोड़ो। (1953) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-186)

* * *

हे भगवन्! हम असंज्ञी की भाँति हित-अहित, मार्ग-अमार्ग, धर्म-अधर्म को जानते नहीं थे, वह आपके चरणकमल के आश्रय द्वारा हम हमारा हित-अहित, मार्ग-अमार्ग, धर्म-अधर्म जाना है। इसलिए आपने हमको मनसहित किया।

और हमने अनादि से बहरे की भाँति हित-अहित सुना नहीं था, वह आपकी कृपा से हित-अहित श्रवण करके, हित-अहित जाना, इसलिए आपने हमको कानसहित किया।

और हे भगवन्! हम अनादि से स्व-पर का स्वरूप नहीं देखने से अन्ध समान थे। वह आपके चरणकमल के प्रसाद से हमने सर्व पदार्थों का स्वरूप देखा, इसलिए आपने हमें ज्ञाननेत्रसहित किया।

और हे भगवन्! जिस प्रकार कोई मार्ग भूलकर भयंकर वन में मरणतुल्य होकर भटकता हो, उसी प्रकार हम भी हमारा हित जो मोक्ष, उसका मार्ग भूलकर, अनन्तानन्त काल से मरणतुल्य होकर संसार में भटकते थे, उसे आपने मोक्ष के मार्ग में इस प्रकार लगा दिया कि जिससे खेद बिना हम मोक्षनगर में पहुँच जायेंगे। ऐसा सर्वोत्कृष्ट उपकार हमारे ऊपर किया है, अब आपके वियोग से हमारी दशों दिशायेँ शून्य हो गयी—अन्धकार हो गया! (1954)

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-384 का भावार्थ)

* * *

जो मनुष्य उत्तम गुरु द्वारा प्ररूपित समीचीन शास्त्र वाँचते नहीं, उन्हें बुद्धिमान मनुष्य दोनों आँखोंवाला होने पर भी अन्धे समझते हैं। (1955)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, उपासक संस्कार, श्लोक-20)

* * *

भव्य जीवों को ऐसा विचार करना चाहिए कि मैं एक सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ, निजानन्द निरंजन शुद्धात्म सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रयमयी निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानन्दरूप आनन्दानुभूतिमात्र जो स्वसंवेदनज्ञान उससे गम्य हूँ, अन्य उपायों से गम्य नहीं हूँ। निर्विकल्प निजानन्द ज्ञानकर ही मेरी प्राप्ति है, मैं पूर्ण हूँ, राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पाँचों इन्द्रियों के विषय-व्यापार, मन-वचन-काय, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म, ख्याति, पूजा, लाभ, देखे-सुने और अनुभव किये भोगों की वाँछारूप निदानबन्ध, माया, मिथ्या ये तीन शल्य इत्यादि विभाव परिणामों से रहित सब प्रपंचों से रहित मैं हूँ। तीन लोक—तीन काल में, मन-वचन-काया कर, कृतकारित अनुमोदना कर, शुद्ध निश्चयनय से मैं आत्माराम ऐसा हूँ तथा सभी जीव ऐसे हैं। ऐसी सदैव भावना करनी चाहिए। (1956)

(श्री परमात्मप्रकाश, टीकाकार का अन्तिम कथन)

* * *

जैसे मनुष्य के हाथ में तीक्ष्ण तलवार होने पर भी यदि वह मनुष्य शत्रुओं पर अति जोर से उसका प्रहार करता है तो ही वह शत्रु सम्बन्धी दुःख से मुक्त होता है, अन्यथा नहीं; उसी प्रकार इस अनादि संसार में महाभाग्य से जिनेश्वरदेव के उपदेशरूप तीक्ष्ण तलवार प्राप्त करने पर भी यदि जीव मोह-राग-द्वेषरूप शत्रुओं पर अति दृढ़ता से उसका प्रहार करता है, तो ही वह सर्व दुःख से मुक्त होता है, अन्यथा नहीं। (1957)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-88)

* * *

जो शास्त्र जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित हैं, अनर्थ का नाशक है, अनेक विशेषतावाला है, उत्कृष्ट है तथा अमृत समान सर्व प्राणियों का हित करनेवाला है, उसे यहाँ जीवों को धर्म में प्रवृत्ति कराने के लिये प्रगट करना, उसे शान्त मुनि त्याग-धर्म कहते हैं। (1958)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-704)

* * *

जब तक मोक्ष न हो, तब तक भव-भव में इतनी बातें प्राप्त हों।—(1) शास्त्र पठन, (2) जिनभक्ति, (3) सत्पुरुषों की संगति, (4) सुचारित्रवालों के गुणों की कथा, (5) परनिन्दा न करना, (6) सबसे मीठे वचन बोलना, (7) आत्मतत्त्व में विचार रहना। (1959) (प्राचीन शान्तिपाठ में से)

* * *

यह ग्रन्थ प्रमाण है। इस कारण मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को इसका अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि यह ग्रन्थ अल्प है अर्थात् मोक्षरूप कार्य को उत्पन्न करने के लिये असमर्थ है, ऐसा विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि अमृत के सौ घड़े को पीने का फल अंजलिमात्र अमृत पीने से भी प्राप्त होता हुआ दिखाई देता है। (1960)

(श्री वीरसेन आचार्य, धवला टीका, पुस्तक-9, पृष्ठ-133-134)

* * *

चतुर्थ काल में तो इस क्षेत्र में देवों का आगमन था, उनको देखकर धर्म की रुचि होती थी और नाना प्रकार की ऋद्धियों के धारी महामुनियों का अतिशय देखकर ज्ञान की प्राप्ति होती थी, तथा अन्य जीवों को अवधि-मनःपर्यय-केवलज्ञान की उत्पत्ति देखकर सम्यक्त्व की सिद्धि होती थी। जिनके चरणारविन्दों को बड़े-बड़े मुकुटधारी राजा नमस्कार करते थे, ऐसे बड़े-बड़े राजाओं से सेवनीय भरत, सगर, राम, पाण्डवादि अनेक चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण तथा मण्डलीक राजाओं को जिनधर्म में लीन देखकर भव्य जीवों को जिनधर्म की रुचि उपजती थी, तब परमात्मभावना के लिये विद्यमान विषयों का त्याग करते थे और जब तक गृहस्थपने में रहते थे, तब तक दान-पूजादि शुभ क्रियायें करते थे, चार प्रकार के संघ की सेवा करते थे; इसलिए पहले समय में तो ज्ञानोत्पत्ति के अनेक कारण थे, ज्ञान उत्पन्न होने का अचम्भा नहीं था। लेकिन अब इस पंचम काल में इतनी सामग्री नहीं है। ऐसा कहा भी है कि इस पंचम काल में देवों का आगमन तो बन्द हो गया है और कोई अतिशय नहीं देखा जाता। यह काल धर्म के अतिशय से रहित है, और केवलज्ञान की उत्पत्ति से रहित है, तथा हलधर, चक्रवर्ती आदि शलाकापुरुषों से रहित है, ऐसे दुःषमकाल में जो भव्यजीव धर्म को धारण करते हैं, यति-श्रावक के व्रत आचरते हैं, यह अचम्भा है। वे पुरुष धन्य हैं, सदा प्रशंसायोग्य

हैं। (1961)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-139)

* * *

यहाँ (समयसार में) यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागनेयोग्य नहीं है; क्योंकि उसके अत्याग से बन्ध नहीं होता और उसके त्याग से बन्ध ही होता है। (1962)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-122)

* * *

आनन्दामृत के पूर से भरचक प्रवाहित कैवल्यसरिता में (मुक्तिरूपी सरिता में) जो डूबा हुआ है, जगत को देखने को समर्थ ऐसी महासंवेदनरूपी श्री (महाज्ञानरूपी लक्ष्मी) जिसमें मुख्य है, उत्तम रत्न की किरण जैसा जो स्पष्ट है और जो इष्ट है, ऐसे उल्लसित (प्रकाशमान, आनन्दमय) स्वतत्त्व को जन स्यात्कारलक्षण जिनेश शासन के वश से प्राप्त करे। (1963)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, कलश-20)

* * *

हे जिनवाणी माता! तेरी कृपा बिना शास्त्र को पढ़ते व सुनते हुए भी तत्त्व का निश्चय नहीं होता है, तब फिर तेरे आश्रय बिना पुरुष में भेदविज्ञान कैसे होगा? जो तेरी सेवा नहीं करते, उनका जन्म निष्फल है। तू ही पवित्र ज्ञानजल को रखनेवाली नदीस्वरूप है। तू तीन लोक के जीवों को शुद्ध करने का कारण है और तू ही निश्चय आत्मतत्त्व के श्रद्धान करनेवालों को आत्मानन्दरूपी समुद्र के बढ़ाने के लिये चन्द्रमा के समान है। (1964)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, श्रुतदेवता स्तुति, श्लोक-11-24)

* * *

जब तक मुझे मोक्ष की प्राप्ति न हो, तब तक मेरे भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए शास्त्रों का अभ्यास सदा बना रहे, तब तक भगवान जिनेन्द्रदेव की स्तुति करता रहूँ, तब तक मैं सदा व्रती पुरुषों की संगति में रहूँ, तब तक मैं श्रेष्ठ व्रतों के गुणों की कथा में ही सदा लीन रहूँ, किसी के दोष कहते समय मेरे मौन व्रत हो, सर्व के साथ बोलते हुए मेरे मुख से प्रिय और हित करनेवाले वचन निकलें और मेरी भावना सदा आत्मतत्त्व में बनी रहे, हे प्रभो! तब तक भव-भव में ये सब बातें मुझे प्राप्त होती रहें। (1965)

(श्री पूज्यपादस्वामी, समाधिभक्ति, श्लोक-2)

* * *

समभाव का लक्षण ऐसा है कि जीवित, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःखादि सबको समान जाने। जो अनन्त सिद्ध हुए और होवेंगे, यह सब समभाव का प्रभाव है। समभाव से मोक्ष मिलता है। कैसा है वह मोक्षस्थान?—जो अत्यन्त अद्भुत अचिन्त्य केवलज्ञानादि अनन्त गुणों का स्थान है। यहाँ यह व्याख्यान जानकर राग-द्वेष को छोड़के शुद्धात्मा के अनुभवरूप जो समभाव का सेवन सदा करना चाहिए, यही इस ग्रन्थ का अभिप्राय है। (1966)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-2, गाथा-100)

* * *

अनेक प्रकार की बाह्य क्रियाओं के क्लेश से कोई मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता और सम्यग्ज्ञान प्रगट होने पर क्लेश बिना ही मोक्षपद की प्राप्ति होती है।

ज्ञानज्योति समस्त जीवों के अन्तरंग में रहती है, वह मन-वचन-काय और युक्ति से अगम्य है। हे भव्यों! अपनी-अपनी ज्ञानज्योति प्रगट करके संसार से मुक्त होओ। (1967)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पद-26-27)

* * *

इस जगत में कोई ऐसा स्थान नहीं रहा, जहाँ पर यह जीव निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय को कहनेवाले जिनवचन को नहीं पाता हुआ अनादि काल से चौरासी लाख योनियों में होकर न घूमा हो, अर्थात् जिनवचन की प्रतीति न करने से सब जगह और सब योनियों में भ्रमण किया, जन्म-मरण किये। यहाँ यह तात्पर्य है कि जिनवचन के न पाने से यह जीव जगत में भ्रमा, इसलिए जिन-वचन ही आराधनेयोग्य है। (1968)

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार-1, गाथा-65)

* * *

सर्व जिनमत का चिह्न स्याद्वाद है। स्यात् पद का अर्थ कथंचित् है, इसलिए जो उपदेश हो, उसे सर्वथारूप न जान लेना, परन्तु उपदेश के अर्थ को जानकर वहाँ इतना विचार करना कि यह उपदेश किस प्रकार से है, किस प्रयोजनसहित है और किस जीव को कार्यकारी है—इत्यादि विचार करके, उसके यथार्थ अर्थ को ग्रहण करना। पश्चात्

अपनी दशा देखे; वह उपदेश जैसे अपने को कार्यकारी हो, तत्प्रमाण उसे स्वयं अंगीकार करना। (1969) (श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-8, पृष्ठ-302)

* * *

एक ओर से देखने पर कषायों का क्लेश दिखता है और एक ओर से देखने पर शान्ति है; एक ओर से देखने पर भव की (संसार सम्बन्धी) पीड़ा दिखती है और एक ओर से देखने पर (संसार के अभावरूप) मुक्ति भी स्पर्शती है; एक ओर से देखने पर तीन लोक स्फुरायमान हैं और एक ओर से देखने पर केवल एक चैतन्य ही शोभता है। (ऐसा) आत्मा का अद्भुत से अद्भुत स्वभाव-महिमा जयवन्त वर्तती है (किसी से बाधित नहीं होती)। (1970) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-274)

* * *

यह उत्कृष्ट धर्म लक्ष्मी को वश करने के लिये वशीकरण मन्त्र समान है। यह धर्म कल्पवृक्ष समान इच्छित पदार्थ को देनेवाला है, यह कामधेनु अथवा चिन्तामणि समान इष्ट वस्तुओं का प्रदान करनेवाला है, यह धर्म उत्तमदेव समान है तथा यह धर्म सुख-परम्परारूप अमृत की नदी उत्पन्न करनेवाले उत्तम पर्वत समान है। इसलिए हे भाई! तुम दूसरी तुच्छ मिथ्या कल्पनायें छोड़कर इस धर्म की आराधना करो। (1971) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-195)

* * *

समयसारभूत भगवान परमात्मा का—कि जो विश्व का प्रकाशक होने से विश्वसमय है, उसका—प्रतिपादन करता होने से जो स्वयं शब्दब्रह्म समान है, ऐसे इस शास्त्र को जो आत्मा वास्तव में पढ़कर, विश्व को प्रकाशित करने में समर्थ ऐसे परमार्थभूत, चैतन्यप्रकाशरूप आत्मा का निश्चय करता हुआ (इस शास्त्र को) अर्थ से और तत्त्व से जानकर, उसके ही अर्थभूत भगवान एक पूर्ण विज्ञानघन परमब्रह्म में सर्व उद्यम से स्थित होगा, वह आत्मा, साक्षात् तत्क्षण प्रगट होते एक चैतन्यरस से भरपूर स्वभाव में सुस्थित और निराकुल होने के कारण जो (सौख्य) 'परमानन्द' शब्द से वाच्य है, उत्तम है और अनाकुलता लक्षणवाला है, ऐसे सौख्यस्वरूप स्वयं ही हो जायेगा। (1972) (श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, गाथा-415)

* * *

लोक में भी इस प्रकार है कि अत्यन्त निष्प्रयोजन बात का भी निर्णय करके प्रवर्तता है और आत्महित के मूल आधारभूत जो अरहंतदेव, उनका निर्णय किये बिना ही तुम प्रवर्तते हो, यह बड़ा आश्चर्य है! और तुमको निर्णय करनेयोग्य ज्ञान भी भाग्य से प्राप्त हुआ है, इसलिए तुम इस अवसर को वृथा न गँवाओं, आलस्य आदि छोड़कर उसके निर्णय में अपने को लगाओ, जिससे तुम्हें वस्तु का स्वरूप, जीवादिक का स्वरूप, स्व-पर का भेदविज्ञान, आत्मा का स्वरूप, हेय-उपादेय, और शुभ-अशुभ-शुद्ध अवस्थारूप अपने पद-अपद का स्वरूप इन सबका सर्व प्रकार से यथार्थ ज्ञान हो। इसलिए सर्व मनोरथ सिद्ध होने का उपाय जो अर्हत् सर्वज्ञ का यथार्थ ज्ञान जिस प्रकार से हो, वह प्रथम करनेयोग्य है। (1973) (श्री भागचन्द्रजी, सत्तास्वरूप, पृष्ठ-62)

* * *

हे गम्भीर हृदय-अतिशय गम्भीर पुष्पदन्त भगवान! भव्य जीव आपके इस पवित्र मत को अर्थात् आगम का आस्वाद करने से—श्रवण, पठन, चिन्तवन आदि करने से आपका भक्त हो या विद्वेषी हो, परन्तु प्रत्येक जीव को ज्ञान की वृद्धि का तथा रुचि का ही कारण बन जाता है। कदाचित् कोई ऐसा कहे कि आगम तो मात्र बुद्धिवाले को ही रुचता है, परन्तु द्वेष करनेवाले को वह कैसे रुच सकता है? तो उसका समाधान ऐसा है कि अमृत है, वह तो बुद्धिवन्त हो या द्वेषी हो, दोनों के लिये एक समान रुचिकर ही लगता है। इस प्रकार आपका आगम सर्व को रोचक और प्रिय ही लगता है। (1974)

(श्री समन्तभद्र आचार्य, स्तुति विद्या, श्लोक-40)

* * *

जैसे जेल में पड़ा हुआ व्यक्ति बन्धन के कारणों को सुनकर डर जाता है और हताश हो जाता है, परन्तु यदि उसे मुक्ति का उपाय बताया जाता है तो उसे आश्वासन मिलता है और वह आशान्वित हो बन्धन-मुक्ति का प्रयास करता है। उसी तरह अनादि कर्मबन्धनबद्ध प्राणी प्रथम ही बन्ध के कारणों को सुनकर डर न जाये और मोक्ष के कारणों को सुनकर आश्वासन को प्राप्त हो, इस उद्देश्य से मोक्षमार्ग का निर्देश सर्वप्रथम किया गया है। (1975) (श्री आचार्य अकलंकदेव, तत्त्वार्थवार्तिक, भाग-1, पृष्ठ-266)

* * *

जैसे कस्तूरिया मृग की समीप ही कस्तूरी है, परन्तु कस्तूरी की सुगन्ध नासिका द्वारा धारण करके जंगल में यहाँ-वहाँ खोजता फिरता है—घिसा-घिसा दौड़ता है, उसी प्रकार जीव के समीप ही जीव से तन्मयरूप स्वसम्यग्ज्ञानमयी परमात्मा है, तथापि उसे जीव, आकाश-पाताला-लोकालोक में खोजता है, अज्ञानी जीव को यह खबर नहीं कि जिसे मैं खोजता हूँ, वह मेरी वस्तु तो मेरे समीप ही है—मेरे स्वसम्यग्ज्ञान से तन्मय है अथवा मैं स्वयं ही स्वसम्यग्ज्ञानमयी परमात्मा हूँ। (1976)

(क्षुल्लक श्री धर्मदास, सम्यग्ज्ञान दीपिका, पृष्ठ-91)

* * *

जो शुद्ध न्यायमार्गी मनुष्य है, वे लोकविरुद्ध कार्य को तजते हैं।

जो विशुद्ध कुल में उपजे, क्षत्रिय, शुभ चित्त, सर्व शास्त्रों के ज्ञाता, उनकी यही रीति है, जो किसी से नहीं डरते हैं, एक लोकापवाद से डरते हैं। (1977)

(श्री रविषेण आचार्य, पद्मपुराण, पृष्ठ-568, 577)

* * *

जो पण्डित है, उनको बैरियों पर भी क्षमा करना चाहिए। क्षमा के समान और कोई तप नहीं। जो विचक्षण पुरुष हैं, वे ऐसी बुद्धि न धरे कि यह दुष्ट बिगाड़ करता है। इस जीव का उपकार और बिगाड़ केवल कर्माधीन है, कर्म ही सुख-दुःख का कारण है, ऐसा जानकर जो विचक्षण पुरुष हैं, वे बाह्य सुख-दुःख के निमित्तकारण अन्य पुरुषों पर राग-द्वेष भाव नहीं धरते। (1978)

(श्री रविषेण आचार्य, पद्मपुराण, पृष्ठ-443)

* * *

हम एकान्त पक्ष को नहीं मानकर अनेकान्त पक्ष मानते हैं। अंकुर की उत्पत्ति के पहले बीज में अंकुर पर्याय नहीं थी, बाद में उत्पन्न हुई, अतः पर्याय की दृष्टि से अंकुर बीज से भिन्न है और शालिबीज की जातिवाला ही अंकुर उत्पन्न हुआ है, अन्य जाति का नहीं, अतः शालिबीज जातिवाले द्रव्य की दृष्टि से बीज से अंकुर अभिन्न है। (ऐसे द्रव्य-पर्याय का भिन्नाभिन्नस्वरूप समझना चाहिए।) (1979)

(श्री आचार्य अकलंकदेव, तत्त्वार्थवार्तिक, भाग-5, पृष्ठ-685)

* * *

दैव और मृत्यु दोनों का ही निराकरण नहीं हो सकता, तब रक्षण या शरण के लिये किसी का भी अनुसरण करना या किसी के सामने दीनता प्रकाशित करना व्यर्थ ही है। क्योंकि न तो कोई मेरे भाग्य में परिवर्तन कर सकता है और न मेरी मृत्यु को ही रोक सकता है। ये दोनों कार्य अवश्यम्भावी हैं, अतएव इनके लिये धैर्य का अवलम्बन लेना ही सत्पुरुषों को उचित है। (1980)

(पण्डित आशाधर, अनगार धर्माभूत, अधिकार-6, गाथा-60)

* * *

प्रश्न—रात्रि-दिवस किसका चिन्तवन करना ?

उत्तर—संसार मिथ्या मरीचिकावत् (—मृगजलवत्) असत्य है, सदा जागृतस्वरूप परमात्मा सत्य है, यही चिन्तवन करना। (1981)

(क्षुल्लक श्री धर्मदास, ज्ञानोक्तप्रमाण, भाग-1, पृष्ठ-15)

* * *

कभी सद्गुरु के उपदेश द्वारा जिनशासन के रहस्य को तुमने बराबर निर्णय किया हो—निश्चय किया हो—समझे हो—तो 'मैं करता हूँ', ऐसे अहंकारपूर्ण कर्तृत्व की भावना का त्याग करो और भगवती भवितव्यता का आश्रय करो। (1982)

(पण्डित आशाधरजी, अध्यात्म रहस्य, श्लोक-66)

* * *

अतीत-अनागत-वर्तमान तीन काल के तीर्थकर चक्रवर्ती आदिक सर्व उत्कृष्ट भूमि के मनुष्यों का सुख, और तीन काल का भोगभूमि का सुख, और इन्द्र, अहमिन्द्र आदि समस्त देवों का सुख, भूत-भविष्य और वर्तमान काल का सकल एकत्र करें, और उसे अनन्तगुणा फलित करें, सो सिद्ध के एक समय के सुखतुल्य नहीं है। (1983)

(श्री रविषेण आचार्य, पद्मपुराण, पृष्ठ-618)

* * *

संसार में ऐसा कोई सुख और दुःख नहीं है, जो मैंने नहीं भोगा। किन्तु जैनागमरूपी अमृत का पान मैंने स्वप्न में भी नहीं किया। इस अमृत के सागर की एक बूँद को भी जो चख लेता है, वह प्राणी फिर कभी भी जन्मरूपी अग्नि का पात्र नहीं बनता। अर्थात्

जैनशास्त्रों का थोड़ा सा भी स्वाद जिसे लग जाता है, वह उनका आलोकन करके उस शाश्वत् सुख को प्राप्त कर लेता है और फिर उसे संसार में भ्रमण नहीं करना पड़ता। (1984) (आचार्य सोमदेव, उपासक अध्ययन, गाथा-673)

* * *

ममतारूपी लकड़ी अनेक प्रकार से आत्मा में चिन्तारूपी अग्नि लगा देती है। यह चिन्तारूपी अग्नि आत्मा में अनन्त काल से जल रही है। इसे समतारूप जल के द्वारा बुझाया जा सकता है। (1985) (पण्डित बुधजन, बुधजन-सत्सई, पद-547)

* * *

स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) और केवलज्ञान सब तत्त्वों का प्रकाशन करनेवाले हैं, उनमें साक्षात् और असाक्षात् का ही भेद है। जो इन दोनों का विषय नहीं है, वह अवस्तु है। (1986) (श्री समन्तभद्र आचार्य, आप्तमीमांसा, श्लोक-105)

* * *

मन में बहुत आश्चर्य होता है, क्योंकि पाँच इन्द्रिय और छठे मन से, केवली की दिव्यध्वनि से तथा वेद-पुराण-शास्त्र-सूत्र पढ़ने-वाँचने से तो यह सम्यग्ज्ञानमय सदाकाल जागती ज्योति जानने में नहीं आती तो फिर श्रीगुरु, किस प्रकार दर्शाते होंगे! किस प्रकार बतला देते होंगे! क्या कहते होंगे! और शिष्य भी किस प्रकार समझता होगा! अहो... अहो... अहो! श्रीगुरु को धन्य है!! हाय! खेद है कि श्रीगुरु न होते तो मैं इस भ्रमजालरूप संसार से भिन्न कैसे होता! (1987)

(क्षुल्लक श्री धर्मदास, सम्यग्ज्ञान दीपिका, पृष्ठ-115)

* * *

अध्यात्मग्रन्थ का आशय यह है, जो आत्मा अपना एक अभेद नित्य शुद्ध असाधारण चैतन्यमात्र शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषयभूत है, वह तो उपादेय है। और अवशेष भेद पर्याय अनित्य, अशुद्ध तथा साधारण गुण तथा अन्य द्रव्य ये सर्व पर्यायनय के विषय, वे सर्व हेय हैं। काहे से? जिससे यह आत्मा अनादि से कर्मबन्धपर्याय में मग्न है, क्रमरूप ज्ञान से पर्याय को ही जानता है, अनादि-अनन्त अपना द्रव्यस्वभाव का

इसके अनुभव नहीं, इसलिए पर्यायमात्र में आपा जानता है, इसलिए इसको द्रव्यदृष्टि कराने के लिये पर्यायदृष्टि को गौण करके असत्यार्थ कहकर एकान्तपक्ष छुड़ाने के लिये झूठा कहा है। (1988)

(पण्डित जयचन्द्रजी, सर्वार्थसिद्धि वचनिका (तत्त्वार्थसूत्र टीका), अध्याय-1, पृष्ठ-104)

* * *

शक्ति से त्याग वह कह दिया जाता है जो कि प्रीति से अपने धन का परित्याग करता है। शक्ति से अधिक दान करने पर अपने को पीड़ा उपजती है और अति अल्प देने से कृपणता आती है। अतः वह दान अपने को पीड़ा करनेवाला नहीं होना चाहिए, साथ ही सम्पत्ति का अत्याग करना भी नहीं होना चाहिए। यथायोग्य दान करना शक्तिः त्याग है। (1989) (श्री विद्यान्दिस्वामी, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, भाग-6, पृष्ठ-527)

* * *

चर्चा :—सम्यक्त्व सहज है या यत्नसाध्य है ?

समाधान :—जैसे कोई धनार्थी पुरुष यथायोग्य उद्यम करता है, धन की प्राप्ति भाग-उदय से होती है, वैसे पूर्ण उपाय से उद्यमी होना योग्य है। सम्यक्त्व की प्राप्ति काललब्धि से होगी और जिस कार्य को लब्धि होती है, उस कार्य की सिद्धि उद्यम बिना होती नहीं। जब होगी, तब उद्यम से होगी, यह नियम है। (1990)

(पण्डित भूधरदासजी, चर्चा-समाधान, चर्चा-15वीं)

* * *

यह शरीर कैदखाना है, पुत्र तथा कुटुम्बी उसके पहरेदार हैं। जो यह जानता है और दुःख का अनुभव नहीं करता है, वह बुद्धिमान है। परन्तु मूर्खजन ही इसे अपना हितकारी मानता है। (1991) (पण्डित बुधजन, बुधजन-सत्सई, पद-529)

* * *

(ज्ञानी शुद्धनय का अवलम्बन लेकर ऐसा अनुभव करता है कि—) मैं मुझे अर्थात् मेरे शुद्धात्मस्वरूप को नहीं द्रव्य से खण्डित करता, नहीं क्षेत्र से खण्डित करता, नहीं काल से खण्डित करता, नहीं भाव से खण्डित करता; सुविशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव

हूँ। (1992)

(श्री अमृतचन्द्र आचार्य, समयसार टीका, कलश-270 की टीका)

* * *

सम्यक् श्रुतज्ञान परमार्थ विषय का कथन करनेवाला चारित्र और पुराण कि जो पुण्यवर्धक और बोधि तथा समाधि का निधान है, ऐसे प्रथमानुयोग को जानते हैं। (1993)

(श्री समन्तभद्र आचार्य, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा-43)

* * *

नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार का कर्म है, नाना प्रकार की लब्धि है; इसलिए स्वसमय और परसमय के साथ (स्वधर्मियों और परधर्मियों के साथ) वचन-विवाद वर्जनेयोग्य है। (1994)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, नियमसार, गाथा-156)

* * *

प्रश्न :—सत्संग क्या है ?

उत्तर :—चर्मनेत्र से देखता है, उसकी संगति नहीं करना। ज्ञाननेत्र से सदीव अखण्ड देखता ही रहता है, उसकी संगति करना। (1995)

(क्षुल्लक श्री धर्मदास, ज्ञानोक्तप्रमाण, भाग-1, पृष्ठ-12)

* * *

सर्व कुटुम्बादिक तब तक ही स्नेह करते हैं, जब तक दान से उनका सम्मान करते हैं, जैसे श्वान के बालक को जब तक टुकड़ा डालते हैं, तब तक अपना है। (1996)

(श्री रविषेण आचार्य, पद्मपुराण, पर्व-5, पृष्ठ-48)

* * *

हे जिनदेव! बुद्धिमानों के द्वारा 'आपसे अभिन्न है' ऐसी बुद्धि से ध्यान किया गया यह आत्मा आप ही के समान प्रभाववाला हो जाता है। यह अमृत है, इस तरह निरन्तर चिन्तवन किया जानेवाला पानी भी क्या विष के विकार को दूर नहीं करता? अर्थात् करता है। (1997)

(श्री कुमुदचन्द्र आचार्य, कल्याणमन्दिर स्तोत्र, श्लोक-17)

* * *

जिस प्रकार सोनी ताँबा इत्यादि से मिश्रित सोना देखकर उसमें से ताँबा इत्यादि

को भिन्न करके शुद्ध स्वर्ण का ग्रहण करता है। उसी प्रकार विवेकी पुरुष निर्दोष जिनागमरूपी नेत्र से छह द्रव्य को देखकर उसमें से निर्मल आत्मतत्त्व का ग्रहण करता है। जो कोई जीव शास्त्ररहित होकर उत्कृष्ट आत्मतत्त्व का निश्चय करता है, वह मूर्ख मन (—विवेक) रहित होने पर भी रूप का अवलोकन करने के इच्छुक अन्ध के समान है। (1998) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, सिद्धस्तुति, श्लोक-16)

* * *

श्रीगुरु कहते हैं कि जिनवाणी का विस्तार विशाल और अपरम्पार है, हम कहाँ तक कहेंगे। अधिक बोलना हमारे योग्य नहीं, इसलिए अब मौन होकर रहना अच्छा है, क्योंकि वचन उतने ही बोलना चाहिए, जितने से प्रयोजन सधे। अनेक प्रकार का बकवाद करने से अनेक विकल्प उठते हैं, इसलिए उतना ही कथना करना योग्य है, जितने का काम हो। बस, शुद्ध परमात्मा के अनुभव का अभ्यास करो, यही मोक्षमार्ग है और इतना ही परमार्थ है। (1999)

(श्री बनारसीदासजी, नाटक समयसार, सर्वविशुद्धि द्वार, पद-125)

* * *

जिनागम में व्रतों से परिपूर्ण ऐसी स्त्रियों का सन्मानादि करने का निषेध नहीं है। इसलिए व्रतीस्त्रियों का भी लोक व्यवहार से अविरुद्धरूप सन्मान-दानादि करना चाहिए। (2000)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, श्लोक-735)

* * *

जहाँ धर्म का नाश हो, क्रिया बिगड़ती हो तथा समीचीन सिद्धान्त का लोप होता हो, उस जगह समीचीन धर्मक्रिया और सिद्धान्त के प्रकाशनार्थ बिना पूछे भी विद्वानों को बोलना चाहिए। क्योंकि यह सत्पुरुषों का कार्य है। (2001)

(श्री शुभचन्द्राचार्य, ज्ञानार्णव, सर्ग-9, श्लोक-15)

* * *

रवई को खींचनेवाली ग्वालिन की भाँति जो वस्तु के स्वरूप की एक अन्त से अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से आकर्षण करता है—खींचता है, और फिर दूसरे पर्यायार्थिकनय

से शिथिल करता है, यह जैनमत की न्यायपद्धति जयवन्ती है। (2002)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्धि उपाय, श्लोक-225)

* * *

जो पुरुष शास्त्रस्वाध्यायादि भला आचरण करनेवाले जीवों को सदाकाल धर्म का आधार देता है और तुमको निर्विघ्न शास्त्राभ्यास इत्यादि हो, ऐसी सामग्री प्राप्त करा देता है, उस पुरुष का मूल्यांकन कल्पवृक्ष या चिन्तामणि द्वारा भी नहीं हो सकता। (अर्थात् उससे भी वह पुरुष महान है।) (2003)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा-53)

* * *

मुमुक्षु को भगवान अर्हत सर्वज्ञ से उपज्ञ (—स्वयं जानकर कहे हुए) शब्दब्रह्म में—कि जिसका अनेकान्तरूपी केतन प्रगट है, उसमें निष्णात होना चाहिए। (2004)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, गाथा-232)

* * *

बुद्धिमान पुरुष! यह तत्त्वरूपी अमृत पीकर अपरिमित जन्म-परम्परा (संसार) के मार्ग में परिभ्रमण करने से उत्पन्न हुई थकान दूर करो। (2005)

(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, एकत्व सप्तति, श्लोक-57)

* * *

नित्य और नैमित्तिकरूप से होनेवाले जिनबिम्ब-महोत्सव में शिथिलता नहीं करना, तथा तत्त्वज्ञानियों को तो वह शिथिलता कभी भी और किसी प्रकार से भी नहीं करना। (2006)

(श्री राजमलजी, पंचाध्यायी, भाग-2, गाथा-739)

* * *

तुम भाग्यउदय से मनुष्य पर्याय पाये हो तो सर्वधर्म का मूल कारण सम्यग्दर्शन और उसका मूल कारण तत्त्वनिर्णय तथा उसका भी मूल कारण शास्त्राभ्यास, वह अवश्य करनेयोग्य है, परन्तु जो ऐसे अवसर को व्यर्थ गँवाता है, उसके ऊपर बुद्धिमान करुणा करते हैं। (2007)

(श्री भागचन्द्रजी, सत्तास्वरूप, पृष्ठ-6)

* * *

धर्म के अनेक अंग हैं, उनमें भी एक ध्यान के बिना उससे ऊँचा अन्य कोई धर्म का अंग नहीं है, ऐसा जानकर हर किसी प्रकार से आगम का अभ्यास करनेयोग्य है। (2008)
(श्री टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार-1, पृष्ठ-24)

* * *

पाँच इन्द्रियाँ और कषाय का निग्रह करके अध्ययन करना, वही ध्यान है। इसलिए पंचम काल में प्रवचनसार का (जिनागम का) अभ्यास ही कर्तव्य है। (2009)
(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, रयणसार, गाथा-95)

* * *

यह प्राणी अर्थ और काम (पुरुषार्थ) के साधन में उपदेश बिना भी निपुण होता है—स्वतः प्रवृत्ति करता है, परन्तु धर्म के साधन में शास्त्र बिना—शास्त्रोपदेश के अभाव में प्रवर्तता नहीं। इसलिए शास्त्र में आदर करना हितकारी है। (2010)
(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, चारित्र अधिकार, गाथा-70)

* * *

मैं कर्म से संयुक्त होने पर भी श्री गुरुदेव के चरणों के प्रसाद से मुक्त जैसा ही हूँ, अत्यन्त दरिद्र होने पर भी धनवान हूँ, तथा तप से दुःखी होने पर भी सुखी हूँ। मुझे ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी कार्य नहीं है। दूसरा जो कुछ भी दिखाई देता है, वह कर्ममल से दिखता है, जैसे नटों का काष्ठमय पुरुष (कठपुतली) यन्त्र की डोरी खींचने से नाचता है, उसी प्रकार। (2011)
(श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, निश्चय पंचाशत, श्लोक-59-60)

* * *

आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परापर गुरुओं का उपदेश तथा स्वानुभव द्वारा तत्त्वनिर्णय करनेयोग्य है। जिनवचन है, वह चारों अनुयोगमय है, यह रहस्य जाननेयोग्य है, वहाँ जिनवचन तो अपार है, उनका पार तो श्री गणधरदेव भी नहीं पाये, इसलिए उसमें जो मोक्षमार्ग की प्रयोजनभूत रकम है, वह तो निर्णयपूर्वक अवश्य जाननेयोग्य है। (2012)
(श्री भागचन्दजी, सत्तास्वरूप, पृष्ठ-7)

* * *

तीन लोकरूपी घर में सर्वत्र संचार करनेवाले जो चित्त को रोकना शक्य नहीं तथा जिसे रोकने से जन्म-मरणरूपी भय को उत्पन्न करनेवाले मनुष्य के सर्व दोष नष्ट हो जाते हैं, उस मन को हे जीव! यदि तू जीव-अजीव आदि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को प्रगट करनेवाले जिनागम में स्थिर करके तत्त्व-चिन्तन में लगाये तो तू स्वाधीन सुख को देनेवाले निज-पद को प्राप्त करेगा। (2013)

(श्री अमितगति आचार्य, सुभाषितरत्न सन्दोह, श्लोक-408)

* * *

जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जाननेवाले के नियम से मोहोपचय (मोह का संचय) क्षय को प्राप्त होता है, इसलिए शास्त्र सम्यक् प्रकार से अभ्यास करनेयोग्य है। (2014)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार, गाथा-86)

* * *

जिनागम में जो जीवादिक पदार्थों का स्वरूप कहा है, वह प्रमाण तथा नय से अविरुद्ध है तथा जीवादिक के स्वरूप का कथन आत्मसुख का कारण होने से अमृततुल्य है। ऐसे जिनागम की प्राप्ति मुझे पूर्व में कभी हुई नहीं थी। यह मुझे अपूर्व लाभ हुआ है। यह जिनागम सुगति का मार्ग होने से मैंने स्वीकार किया है। उसके आश्रय से मेरा मरणभय दूर हो गया है। अब मैं मरण से नहीं डरता। (2015)

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मूलाचार, बृहत्प्रत्याख्यान संस्तव अधिकार, गाथा-95)

* * *

शास्त्रों का श्रवण, धारण, विचारणा, आम्नाय (परम्परा) अनुप्रेक्षापूर्वक अभ्यास करे, इससे सर्व कल्याण का मूल कारण एक आगम का यथार्थ अभ्यास है। वहाँ इस संसारवन में भ्रमण अनादिकाल से है, इसलिए जीवों को शास्त्राभ्यास होने का अवसर प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। (2016)

(श्री भागचन्दजी, सत्तास्वरूप, पृष्ठ-2)

* * *

आगम में निरन्तर लगी हुई बुद्धि मुक्तिरूपी स्त्री को प्राप्त करने में दूती समान है, इसलिए भवभीरु भव्य जीवों को यत्नपूर्वक अपनी बुद्धि शास्त्र के अध्ययन-श्रवण-मनन आदि में लगाना चाहिए। (2017)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, चारित्र अधिकार, गाथा-76)

* * *

मर्कट का जातिस्वभाव अतिशय चंचल होता है, परन्तु वह फलफूल से भरे-हरे वृक्ष के ऊपर शीघ्र रमने लग जाता है। ऐसा कोई एकाध वृक्ष यदि उसे मिल जाये तो वह वहाँ से फिर हटता नहीं। मन भी एक मर्कट जैसा अति चंचल है। फल, पत्र, डालियाँ और शाखा-प्रशाखाओं से भरा वृक्ष यदि उसे मिल जाये तो वह वहाँ रमता है, परन्तु फिर वहाँ हटता नहीं। ऐसा विचारकर पूर्व महापुरुषों ने उसे रमनेयोग्य सुन्दर विस्तीर्ण वृक्ष खोज निकाला है। वह कौन सा ? मात्र एक जिनागम। मन को बहुत समय रमने के लिये आप्त पुरुषों की पवित्र वाणी, वह एक सर्व से अच्छे में अच्छा वृक्ष है। उसके ऊपर रमने से उसकी चंचलताजन्य मिथ्या प्रवृत्ति रोककर उसे विनोद भी मिलता है। इस शास्त्ररूप वृक्ष में वृक्ष की भाँति सब वस्तुएँ रही हुई हैं। (2018)

(श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, श्लोक-170)

* * *

(इस परमागम में) अमन्दरूप से (जोर से, बलवानरूप से, बड़ी आवाज से) जो थोड़ा-बहुत तत्त्व कहा गया है, वह सब चैतन्य में वास्तव में अग्नि में होम की गयी वस्तु के समान (स्वाहा) हो गया। (अग्नि में होम किये जानेवाले घी को अग्नि खा जाती है, मानो कि कुछ होम ही न किया गया हो! उसी प्रकार अनन्त माहात्म्यवन्त चैतन्य का चाहे जितना वर्णन किया जावे तो भी मानो कि उस समस्त वर्णन को अनन्त महिमावन्त चैतन्य खा जाता है; चैतन्य की अनन्त महिमा के समक्ष सब वर्णन मानो कि वर्णन ही न हुआ हो, ऐसी तुच्छता को पाता है।) उस चैतन्य को ही चैतन्य आज प्रबलरूप से—उग्ररूप से अनुभव करो, क्योंकि इस लोक में दूसरा कुछ भी (उत्तम) नहीं है, चैतन्य ही एक परम (उत्तम) तत्त्व है। (2019)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार टीका, श्लोक-22)

* * *

जो (जिनवचन) ललित में ललित है, जो शुद्ध है, जो निर्वाण के कारण का कारण है, जो सर्व भव्यों के कर्णों को अमृत है, जो भवभयरूपी अरण्य के उग्र दावानल को शमन करने में जल है, और जो जैन योगियों द्वारा सदा वन्द्य है, उस इन जिनभगवान

के सद्बचन को (सम्यक् जिनागम को) मैं प्रतिदिन वन्दन करता हूँ। (2020)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-15)

* * *

जगत अर्थात् जगत के जीवों! अनादि संसार से लेकर आज तक अनुभव किये हुए मोह को अब तो छोड़ो और रसिकजनों को रुचिकर, उदय हो रहा जो ज्ञान, उसका आस्वादन करो, क्योंकि इस लोक में आत्मा है, वह वास्तव में किसी प्रकार से अनात्मा (परद्रव्य) के साथ किसी काल में भी तादात्म्यवृत्ति (एकत्व) प्राप्त नहीं करता, क्योंकि आत्मा एक है, वह अन्य द्रव्य के साथ एकतारूप नहीं होता। (2021)

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार टीका, कलश-22)

* * *

मायारूप रोग की दवा शास्त्र, पुण्य का कारण शास्त्र, सर्व पदार्थों को देखनेवाला नेत्र शास्त्र और सर्व प्रयोजनों का साधक शास्त्र है। (2022)

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, चारित्र अधिकार, गाथा-73)

* * *

हे जीव! जिनेन्द्र भगवान की वाणी का रात-दिन निरन्तर अभ्यास करनेयोग्य है। कैसी है जिनवाणी? प्रमाण और नय को अनुकूल जीवादि पदार्थों का वर्णन करती है इसलिए निपुण है। और प्रमाण-नय-निक्षेप निरुक्ति अनुयोग आदि भेदों द्वारा जीवादि पदार्थों का विस्तार से वर्णन करती है, इसलिए विपुल है। और पूर्वापर विरोध आदिक दोष से रहित है, इसलिए शुद्ध है। और वह जिस अर्थ को बतलाती है, वह किसी भी प्रकार से बदल नहीं सकता होने से अत्यन्त दृढ़ता के कारण निकाचित है। और जिनवाणी से अन्य उत्कृष्ट तीन लोक में कोई नहीं है, इसलिए अनुत्तर है। और सर्व जीवों को हितरूप है, किसी की अहितकर नहीं, इसलिए सर्वहित है। और द्रव्यमल जो ज्ञानावरणादिक और भावमल जो रागादिक तथा क्रोधादिक, उसका नाश करती है, इसलिए कलुषहर है। ऐसी जिनवाणी ही निरन्तर अभ्यास करनेयोग्य है। जिनवाणी बिना जीव को कोई शरण नहीं है, इसलिए सर्व प्रकार से हितरूप जानकर मनुष्यजन्म जिनागम की आराधना द्वारा सफल करो। (2023)

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना, गाथा-101)

* * *

देहसमूहरूपी वृक्ष पंक्ति से जो भयंकर है, जिसमें दुःख परम्परारूपी जंगली पशु (बसते) हैं, अति कराल कालरूपी अग्नि जहाँ सर्व का भक्षण करती है, जिसमें बुद्धिरूपी जल (?) सूखता है और जो दर्शनमोहयुक्त जीवों को अनेक कुनयरूपी मार्गों के कारण अत्यन्त दुर्गम है, उस संसार-अटवीरूपी विकट स्थल में जैनदर्शन एक ही शरण है। (2024)

(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार टीका, श्लोक-306)

* * *

निश्चय से निज निरंजन-शुद्धात्मसंवित्ति से उत्पन्न निर्विकार परमानन्द जिसका एक लक्षण है, ऐसे सुखामृत के रसास्वादरूप स्वसंवेदन-ज्ञान वह इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। परम निश्चय से उस स्वसंवेदनज्ञान के फलरूप, केवलज्ञानादि अनन्त गुण के साथ अविनाभावी, निजात्म-उपादान सिद्ध अनन्त सुख की प्राप्ति, वह इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। (2025)

(श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, बृहद्द्रव्य संग्रह, गाथा-1)